# भारतीय समाज
# (Indian Society)

B.A.-III (Sociology)
(Option-I)

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

# भारतीय समाज
# (Indian Society)

**Option-I**

बी.ए. (तृतीय) समाजशास्त्र

**B.A. (III) Sociology**

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

**महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय**

**रोहतक-124 001**

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

# विषय सूची


| | | |
|---|---|---|
| **अध्याय 1:** | भारत में सामाजिक विचार और समाजशास्त्र | 5 |
| **अध्याय 2:** | नातेदारी व्यवस्था | 24 |
| **अध्याय 3:** | सामाजिक परिवर्तन और विकास | 69 |
| **अध्याय 4:** | भारत में सामाजिक समस्याएँ और विभिन्न सन्दर्भ | 83 |
| **अध्याय 5:** | पर्यावरण | 132 |

# Sociology

## B.A. III

## Indian Society (Option-I)

**M. Marks : 100**
**Time : 3 Hrs.**

*Note:*

*(i) Question paper will comprise five units. In all ten questions would be set, two questions from each unit.*

*(ii) The candidates will be required to attempt five questions in all selecting on question from each unit.*

### UNIT-I

**Conceptual Issues:** Indian Society; Evolution: Textual and Field View, Indian Social Structure Its Components and Characteristics; Unity and Diversity.

### UNIT-II

**Basic Institutions:** Kinship, Family, Marriage, Religion, Caste and Class, Changing Dimensions.

### UNIT-III

**Social Change:** Processes of Reform Movements, Sanscritization; Modernization, Westernization, Secularization and Globalization

### UNIT-IV

**Social Problems and Issues:** Communalism, Minority, Backward Classes and Dalits, Population, Gender. Discrimination, Terrorism, AIDS, Ecological, Degradation & Environmental Pollution.

### UNIT-V

**Society & Environment:** Issues of Social Justice, Dalits, Backward Classes, Minorities and Women, Social Problems, Social Tensions, Communalism; AIDS, Ecological Degradation and Environmental Pollution, Over Population.

अध्याय-1

# भारत में सामाजिक विचार और समाजशास्त्र

भारत में चिंतन की विविधता के मूल में इसके भौगोलिक विस्तार, सभ्यता की प्राचीनता, विभिन्न नृजातीय परंपराओं तथा विभिन्न धर्मों की विचारधाराओं का प्रभाव है। भारत एक विशाल देश है। इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में इस देश के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म, दर्शन, गणित, नक्षत्रों विज्ञान, औषधि विज्ञान, स्थापत्य, आचार, साहित्य, समाज, अर्थ तथा राजनीति से संबंधित चिंतन की अविरल परंपरा चलती रही। भारतीय चिंतन के विकास में आस्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, मंगोल, ग्रीक, अरब और तुर्क जाति समूहों के पारस्परिक संपर्क और समन्वय का विशेष योगदान है।

इसी तरह प्राचीन भारत में हिंदू, जैन और बौद्ध धर्मावलंबियों का, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों, दार्शनिक परंपराओं तथा आचार प्रणाली का चिंतन के विकास में उल्लेखनीय योगदान है। ईसा की पहली सदी में केरल प्रदेश के तटवासियों पर ईसाई धर्म का आरंभिक प्रभाव पड़ चुका था। सातवीं सदी के बाद भारत इस्लाम धर्म के संपर्क में आया। भारतीय सामाजिक चिंतन पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि एक ओर तो विभिन्न क्षेत्रों, नृजातियों, भाषा–भाषियों और धर्मावलंबियों की अपनी विशिष्टताएँ हैं जो उनके चिंतन में दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर सदियों के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक संपर्क, पारस्परिकता तथा अंतःक्रिया के बीच से विनिमय तथा समन्वय की प्रक्रिया भी प्रस्फुटित होती रही है। इसके फलस्वरूप भारत में समान सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ विकसित हुई। एक स्थान अथवा समय विशेष में विकसित धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों का संपूर्ण देश में दीर्घकालीन प्रभाव पड़ता रहा। इस तरह एक ओर तो निजत्व और वैशिष्ट एवं दूसरी ओर संपर्क तथा समन्वय दोनों तरह की चिंतन परंपरा भारत में दिखाई पड़ती है।

## प्रमुख लेखक

समाज के संदर्भ में विकसित भारतीय विचारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

1. सामाजिक विचार,
2. समाजशास्त्रीय विचार।

भारत में एक विशिष्ट विषय के रूप में समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव के पूर्व, प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के अंत तक, सामाजिक विचारों की दीर्घ परंपरा है। इन विचारों पर धर्म, दर्शन और आचारशास्त्रा का प्रभाव है। सन् 1920 के बाद भारत में समाजशास्त्रीय विचारों की परम्परा विकसित होती है। सामाजिक और समाजशास्त्रीय दोनों तरह के चिंतन का विश्लेषण अनेक लेखकों ने किया है। कालक्रम की दृष्टि से विनय कुमार सरकार (1937), एच.ई.वार्न्स (1948), पण्ढारी नाथप्रभु (1954) मैक्सवेबर (196) और ए.सी. मलिक (1977) की पद्धतियाँ भारतीय सामाजिक विचारों को समझने में विशेष रूप से सहायक है।

भारत के समाजशास्त्रीय चिंतन की परंपरा को कालक्रम से समझने में राधाकमल मुखर्जी और हरिदास मजूमदार (1952), एल. ड्यूमा (1957), धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी (1958), अवध किशोर सरन (1957, 1962) एपफ.जी. वैली (1959), टी.बी. बोटोमोर (1962), टी के.एन. उनीथान एवं अन्य (1967), वी. दत्ता गुप्त (1972) राम कृष्ण मुखर्जी (1979) एवं योगेन्द्र सिंह (1979) की कृतियाँ उल्लेखनीय है।

## प्राचीन सामाजिक दार्शनिक चिंतन

सामाजिक जीवन से संबंधित भारत के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का आदि रूप वेदों में दिखाई पड़ता है। वेदों में आरंभिक भारतीय जन–समुदायों तथा आर्यों के पारस्परिक संघर्ष और संपर्क, परिवार, विवाह, कर्मकाण्ड, वर्ण आश्रम तथा राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन है। पशुपालन, पशुचारण कृषि, वर्ण, आश्रम, गौत्र, इनसे संबंधित कर्मकाण्ड तथा भूक्षेत्रीय एकीकरण के स्तर पर जनपद तथा राष्ट्र के इर्द–गिर्द वैदिक सामाजिक जीवन संगठित था। वेदों ने धर्म, दर्शन, विश्वास तथा चिंतन की परंपरा का भी बीजारोपण किया। वैदिक परंपरा में बलि तथा यज्ञ पर विशेष जोर दिया गया। वैदिक काल में ही भारतीय सामाजिक संरचना के चार प्रमुख स्तरों–वर्ण, व्यवस्था, ग्राम समुदाय, कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था और संयुक्त परिवार प्रणाली की नींव पड़ी। वेदों में धर्म, कर्मण्काण्ड, उपासनापद्धति, दर्शन, विज्ञान, जादूटोने, संगीत, नक्षत्र और औषधि विज्ञान की परंपराएँ एक दूसरे से मिलीजुली है।

उत्तर वैदिककाल में इन विषयों से संबंधित स्वतंत्र चिंतन परंपराएँ विकसित हुई। आचार, सामाजिक विधान और कर्मकाण्ड से संबंधित प्रश्नों पर स्मृतियों, धर्मशास्त्र और ब्राह्मण ग्रंथों में विस्तार से विचार हुआ। उपनिषद् के चिंतन का संबंध मुख्य रूप से दार्शनिक प्रश्नों से है। पुराणों में इतिहास, उपाख्यान तथा भक्ति से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया गया है।

## जैन और बौद्ध सामाजिक चिंतन

वैदिक संस्कृति धर्म, वर्ण आश्रम, कर्मकाण्ड, बलि तथा यज्ञ पर आधारित थी। ईसापूर्व की छठी सदी में वर्ण पर आधारित सामाजिक असमानता, पुरोहितों द्वारा विकसित कर्मकाण्ड की पद्धति, बलि तथा हिंसा के विरुद्ध जैन–धर्म के प्रवर्तकों ने आवाज उठाई, इनमें पार्श्वनाथ, महावीर तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का नाम मुख्य है। जैन तथा बौद्ध दोनों ही धर्मों ने सत्य तथा अहिंसा पर बल दिया।

इस तरह जैन और बौद्ध धर्म की विचारधारा और चार्वाक के भौतिकवादी दर्शन में वैदिक परंपरा से असहमति के स्पष्ट लक्षण मौजूद है। बौद्ध ग्रंथों में पहला वर्ण ब्राह्मण नहीं बल्कि क्षत्रिय है। जैन ग्रंथों में वैश्यों को श्रेष्ठ तथा महाजन की संज्ञा दी गई। बौद्ध संघों तथा विहारों में वर्ण पर आधारित व्यवस्था अथवा जातिगत असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। प्रत्येक भिक्षु को संघ में सम्मिलित होने पर एक नया नाम दिया जाता था। यह एक नए जन्म की तरह था।

## प्राचीन भारतीय चिंतन के मुख्य पक्ष

प्राचीन भारतीय चिंतन के तीन मुख्य पक्ष हैं। पहले पक्ष के अंतर्गत अमूर्त दार्शनिक सिद्धांत सम्मिलित किए जा सकते हैं। इनके विकास में हिंदू, जैन और बौद्ध दार्शनिक परंपराओं का अवदान है। भारतीय दार्शनिक चिंतन मुख्य रूप, से तर्क एवं कल्पना पर आधारित हैं।

चिंतन का दूसरा पक्ष मुख्य रूप से सामाजिक दर्शन का है। इसमें वर्ण, आश्रम, धर्म, विवाह, परिवार, गौत्र, संपत्ति तथा राजनीति के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। चिंतन का यह पक्ष धर्म, दर्शन, रीतिरिवाज तथा अनुभव पर आधारित है। हिंदू सामाजिक चिंतन में वर्ण तथा आश्रम का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनके द्वारा सामाजिक स्तरण और समाजीकरण की प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

जैन और बौद्ध चिंतन में वर्णगत असमानता तथा आश्रम व्यवस्था के स्थान पर श्रमण, और भिक्षु जीवन तथा संघ पर जोर दिया गया। बौद्ध संघों का संगठन वर्णविहीन था।

यह सच है कि अपने चिंतन में जैन तथा बौद्ध धर्म ने जातिगत असमानता का विरोध किया। लेकिन इस विरोध के बावजूद इन धर्मों के अनुयायियों पर जाति व्यवस्था तथा हिंदू परंपराओं का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

चिंतन का तीसरा पक्ष साक्ष्य, अनुभव, निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित है। जानकारी के अभाव में यह भ्रम व्याप्त है कि भारत में अनुभवाश्रित चिंतन का विकास नहीं हुआ। भारतीय चिंतन की अध्ययन विधियों में तर्क तथा अनुमान के साथ साक्ष्य पर भी बल दिया गया है। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में धर्म तथा तर्क पर आधारित अध्ययन पद्धति के साथ–ही–साथ अन्वीक्षा तथा वार्ता पर भी समान रूप से बल देते हैं। साक्ष्य निरीक्षण तथा परीक्षण पर आधारित ज्ञान को अन्वीक्षा कहते हैं। संख्या आकलन एवं साक्ष्य पर आधारित ज्ञान को वार्ता कहते हैं। इसका संबंध अर्थ एवं वाणिज्य से है। अनुभवाश्रित ज्ञान का ही एक अन्य पक्ष विभिन्न यात्रियों द्वारा लिखित यात्रा–विवरण हैं जो तत्कालीन भारतीय समाज पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।

## वैचारिक सहमति तथा असहमति

भारत में चिंतन की दो परंपराएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। पहली परंपरा सहमति की है जो वेदों की अपौरुषेयता में आस्था व्यक्त करती है। चिंतन की यह परंपरा वेदों को विश्वास, दर्शन और व्यवहार प्रणाली का आदि स्रोत मानती है। इसे सहमति मूलक अथवा सनातनी परंपरा कहा जा सकता है।

प्राचीन भारत में मतप्रचार और चिंतन के स्तर पर असहमति के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण दर्शन के अनेक संप्रदाय विकसित हुए। उपनिषद्, सांख्य, योग तथा अद्वैत दर्शन कई दृष्टियों से वैदिक परंपरा से भिन्न है। उपनिषदों के चिंतन का प्रभाव गौतम बुद्ध पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। आठवीं सदी के महान दार्शनिक आदि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव है जिसके कारण इन्हें "प्रछन्न" बौद्ध भी कहा जाता है।

उपरोक्त वर्णन से दो बातों की पुष्टि होती है। पहली बात तो यह है कि भारत के सभी दार्शनिक संप्रदायों ने वैदिक परंपरा से अपनी सहमति व्यक्त नहीं की है। दूसरी बात यह है कि हिंदू, जैन और बौद्ध चिंतन में वैचारिक विनिमय की परंपरा सर्वदा चलती रही। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि सहमति की परंपरा वेदों में प्रतिपादित आस्था पद्धति, वर्णाश्रम व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड में विश्वास करती है। दूसरी परंपरा इनसे असहमति व्यक्त करती है। असहमति सूचक चिंतन के तत्त्व प्राचीन काल में लोकायतन दर्शन, जैन और बौद्ध धर्म की विचारधारा तथा मध्य काल में कबीर और नानक जैसे संतों की विचारधारा में दिखाई पड़ते हैं। हिंदू धर्म के अंतर्गत मध्यकाल में विकसित होने वाले अनेक धार्मिक आंदोलन वर्ण व्यवस्था और जातिगत विभेदों से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं।

## प्राचीन सामाजिक चिंतन की समीक्षा

भारत में सामाजिक विधान, अनुभवाश्रित ज्ञान और अन्वीक्षा की परंपरा के उपरांत भी सामाजिक चिंतन पर धार्मिक पदानुक्रम, कर्मकाण्ड और अमूर्त दार्शनिक सिद्धांतों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जैन और बौद्ध धर्म ने धार्मिक तथा दार्शनिक स्तर पर तो वैदिक परंपरा से अपनी असहमति व्यक्त की लेकिन सामाजिक संस्थाओं के स्तर पर वे कोई स्पष्ट विकल्प नहीं दे पाए। इन धर्मों की सामाजिक संरचना पर हिंदू विश्वासों और जाति व्यवस्था की छाप दिखाई पड़ती है।

मौलिक दार्शनिक चिंतन, सामाजिक विधान, अनुभव आधरित ज्ञान, अन्वीक्षा तथा वार्ता की परंपरा भी भारत में सामाजिक और राजनीतिक अस्थिरता तथा अविकसित क्षेत्रीय बोलियों के कारण दसवीं सदी तक प्रायः मंद–सी पड़ गई।

भारतीय दार्शनिक और धार्मिक चिंतन में लोक तथा परलोक अन्योन्याश्रित हैं। भक्ति आंदोलन के प्रभाव के कारण पारलौकिकता की विचारधारा मध्ययुग में पिफर बलवती हुई। इसका नतीजा यह हुआ कि सामाजिक प्रश्नों पर विचार की जो परंपरा थी वह प्रायः दुर्बल होती गई।

हिंदू, जैन और बौद्ध धर्मों द्वारा प्रतिपादित पारलौकिकता की विचारधारा के कारण भारत में उतनी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अभिमुखता नहीं हो पाई जितनी यूरोप में दिखाई पड़ती है। ग्रीस और रोम के चिंतन में आरंभिक दिनों से ही नगर, राज्य, कानून, अधिकार तथा कर्त्तव्य की लौकिक व्याख्या पर जोर दिया गया। भारत में धार्मिक प्रभावों के कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना की व्याख्या भी धार्मिक संदर्भों में की गई। इस संदर्भ में एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ सकता है कि प्राचीन सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक चिंतन की समकालीन परिस्थितियों में क्या महत्त्व है? आज भी भारतीय समाज की बहुसंख्या की सामाजिक संरचना पर प्राचीन चिंतन और इसकी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। परिवार, विवाह, नातेदारी, संपत्ति, जाति, संस्कार तथा आचारपद्धति बहुत देर तक आज भी भारतीय समाज में प्राचीन सामाजिक चिंतन पर आधारित है। उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के आरंभ में अनेक यूरोपीय और भारतीय लेखकों ने भारतीय सामाजिक व्यवसथा का विश्लेषण इन प्राचीन विचारों के आधार पर करने की चेष्टा की। भारत में प्रथम पीढ़ी के समाजशास्त्रियों, जैसे विनय कुमार सरकार, जी.एस. घुरए, राधाकमल मुखर्जी एवं धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी के लेखन पर भारतीय दार्शनिक चिंतन और परंपरा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः आधुनिक भारतीय समाजशास्त्र की आरंभिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी शास्त्रीय तथा परंपरागत चिंतन की मुख्य धाराओं को समझना उपयोगी है।

मध्यकाल, उन्नीसवीं सदी और समकालीन भारत में सामाजिक प्रश्नों से संबंधित समाज सुधार के आंदोलनों एव असहमतिमूलक चिंतन की प्रवृत्तियों के विश्लेषण के लिए भी प्राचीन शास्त्रीय चिंतन की मूल स्थापनाओं की जानकारी अनिवार्य है।

## भारत का इस्लाम से संपर्क

भारत का अरब देशों से सदियों पुराना व्यापारिक, राजनैतिक एवं बौद्धिक संपर्क रहा है। सातवीं सदी में इस्लाम के प्रादुर्भाव के बाद, भारत भी इसके संपर्क में आया। आरंभिक संपर्क मूलरूप से राजनीतिक था। धीरे–धीरे इस्लाम धर्म की विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा। इस समय भारत में हिंदु और बौद्ध दो मुख्य धर्म थे। बौद्धों द्वारा संचालित नालंदा और विक्रम शिला के विश्वविद्यालय जगत प्रसिद्ध थे। संस्त के पठन–पाठन की परंपरा घटती जा रही थी। उत्तर भारत में क्षेत्रीय बोलियों का विकास हो रहा था। इस्लाम का प्रभाव सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के मध्ययुगीन आंदोलनों पर पड़ा। जैन और बौद्ध धर्म की भांति इस्लाम की विचारधारा भी जातिगत असमानता का विरोध करती हैं। शंकराचार्य के एक ब्रह्म की अवधारणा की तरह इस्लाम ने भी एक ईश्वर की अवधारणा को प्रचारित किया।

सूफियों एवं हिंदू संतों के समन्वयात्मक चिंतन का स्पष्ट प्रभाव कबीर और नानक के विचारों में दिखाई पड़ता है। दोनों लोगों ने जातिगत असमानता, छुआछूत और सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। मध्ययुगीन भारत में भी जाति व्यवस्था का सामाजिक जीवन पर इतना गहरा प्रभाव था कि विचारधारा के स्तर पर जाति संरचना के विरोधी स्वर के बाद भी इस्लाम, कबीरपंथ और सिख धर्म के अनुयायियों में जाति व्यवस्था हिंदूओं की तरह ही पाई जाती है।

धार्मिक दृष्टि से इस्लाम के विचार से प्रभावित सूफी संतों ने अपने दर्शन को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप मोड़ने की पूरी कोशिश की। इनके विचारों के कारण धार्मिक सहिष्णुता में वृद्धि हुई। देश की विभिन्न भाषाओं में लिखी गई सूफी संतों की कविताएं आज भी जनमानस में समाई हुई है।

## मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के आयाम

मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के कई आयाम हैं। इस काल में भारतीय सामाजिक जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव था। बारहवीं सदी तक भारत से बौद्ध धर्म लगभग समाप्त हो चुका था। मुख्य रूप से हिंदू और इस्लाम दो धर्म मध्यकालीन भारत में प्रचलित थे। दसवीं सदी के पहले धार्मिक और दार्शनिक चिंतन के माध्यम के रूप में संस्कृत, प्रान्त तथा पाली भाषाओं और बोलियों जैसे असमिया, बंगला, मैथिली, उड़िया, मगधी, भोजपुरी, अवधि, ब्रज, पहाड़ी, राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, गुजराती, और मराठी के विकास की प्रक्रिया आरंभ हुई। मध्यकाल में धार्मिक चिंतन की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में इन भाषाओं का बहुलता से उपयोग हुआ।

धार्मिक सामाजिक चिंतन की निम्नलिखित धाराएँ मध्यकालीन भारत में दिखाई पड़ती है।

1. पहली धारा के अंतर्गत, शास्त्रीय परंपरा से प्रभावित भक्त और संत विचारक आते हैं। जिन्होंने क्षेत्रीय बोलियों के माध्यम से शास्त्रीय परंपरा के मूलभूत विचारधारा को जनमानस तक पहुँचाने की चेष्टा की। इन लोगों ने स्थापित सामाजिक संस्थाओं, जैसे, जाति, वर्ण आश्रम, व्यवस्था तथा सामाजिक परंपराओं की वैधता को स्वीकार किया। स्थापित और स्वीकृत सामाजिक मर्यादा को शक्तिशाली करना इन संतों का प्रमुख उद्देश्य था। इस धारा के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में तुलसीदास का नाम लिया जा सकता है।

2. दूसरी धारा के अंतर्गत हिंदूधर्म से संबंधित उन धार्मिक आंदोलनों को सम्मिलित किया जा सकता है जिन्होंने जातपात, छुआछूत तथा पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को चुनौती दी। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से कर्नाटक के बीरशैव और असम के नववैष्णव आंदोलनों की विचारधाराएँ आती हैं। बारहवीं सदी में अद्‌भुत वीरशैव सम्प्रदाय के अधिकतर महंत और पुरोहित गैर ब्राह्मण है। परंपरा के अनुसार पुरोहित केवल ब्राह्मण हो सकता था। इसी तरह पंद्रहवीं सदी में असम में नववैष्णव आंदोलन की नींव पड़ी। इसने भी जातिगत असमानता तथा छुआछूत का विरोध किया। असम में इस आंदोलन का सामाजिक संरचना पर यह प्रभाव पड़ा कि वैष्णव सूत्रों के अधिकतर समाधिकार गैर ब्राह्मण हैं।

3. मध्यकालीन चिंतन की तीसरी विचारधारा इस्लाम के शास्त्रीय पक्ष से संबंधित है। सरहिंद, दिल्ली, आगरा, अजमेर, लखनउफ, हैदराबाद और जौनपुर इस्लामी विचारधारा के केंद्र के रूप में विकसित हुए।

4. मध्यकालीन चिंतन की चौथी धारा सशक्त असहमति और प्रतिरोध की है। इस विचारधारा के लोगों ने हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों की धार्मिक कट्टरता, पुरोहितों तथा मुल्लाओं की संकीर्णता पर प्रहार किया। इसके साथ ही इन लोगों ने दोनों धर्मों के मानवीय पक्ष, निर्गुण एकेश्वरवाद तथा सामाजिक समानता को स्वीकार किया। कबीर और नानक इस धारा के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। इन लोगों ने कबीर पंथ और सिक्ख धर्म की नींव डाली।

5. मध्यकालीन चिंतन की पाँचवीं धारा उन असंख्य भक्त कवियों एवं संतों की है जिन्होंने सारे देश में अपने पदों के द्वारा छुआछूत, जातिगत असमानता और धार्मिक कट्टरता का विरोध किया। इनका जन्म तथाकथित नीच जातियों में हुआ था। इनमें चांडीदास, रविदास, तुकाराम, भीखादास तथा दादू प्रमुख हैं।

6. इस काल की चिंतन की छठवीं मुख्यधारा सूफी और फकीरों की थी। ये लोग इस्लाम की विचारधारा से प्रभावित थे। इनके विचारों में धार्मिक सहिष्णुता और मेलजोल की भावना का स्वर स्पष्ट है। मध्यकालीन चिंतन की अपनी सीमाएं थी। यह मुख्य रूप से धर्म से प्रभावित थी। मौलिक दार्शनिक चिंतन का इस काल में अभाव रहा। मध्यकालीन धार्मिक आंदोलनों का भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास में बड़ा ही योगदान है। प्राचीन काल में आरंभ हुई असहमति और प्रतिरोध की विचारधारा मध्यकाल में भी सक्रिय रही। इस्लाम तथा हिंदू दोनों धर्मों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। इस तरह एक मिली–जुली सामाजिक संस्कृति तथा समन्वय की विचारधारा का विकास हुआ।

इस काल में अमीर खुसरों ने भाषाओं के आधार पर भारत का वर्गीकरण किया। बाबर नामा, आईन–ए–अकबरी तथा जहांगीर की जीवनी के द्वारा तत्कालीन भारतीय समाज के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। असम के बहुत से राजाओं ने 'बुरंजी' अथवा इतिहास लेखन की परंपरा पर विशेष ध्यान दिया। पूर्वोत्तर भारत की राजनीतिक–सामाजिक घटनाओं का अभिलेख विभिन्न बुरजियों में सुरक्षित है।

## अनुभवाश्रित अभिलेख और यात्रा–विवरण

अब तक हम लोगों ने अमूर्त सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक चिंतन पर ही मुख्य रूप से विचार किया है। प्राचीन काल से ही भारत में दृश्यपूरक और अनुभवाश्रित चिंतन की भी परंपरा है। यह सच है कि अनुभवाश्रित चिंतन की तुलना में अमूर्त, कल्पनाजन्य तथा तर्क पर आधारित धार्मिक दार्शनिक चिंतन की प्रवृत्ति भारत में अधिक सशक्त थी। भारत में मुख्य रूप से अनुभवाश्रित चिंतन की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ रही हैं:

1. पहली प्रवृत्ति के अंतर्गत सामाजिक विधान, अर्थ और राजनीति से संबंधित उन ग्रंथों को रखा जा सकता है जो रीतिरिवाजों, परंपराओं तथा सामाजिक घटनाओं के दृश्यपूरक विश्लेषण पर आधारित है। इसका अच्छा उदाहरण कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। रीतिरिवाजों के संकलन के रूप में स्मृतियों और धर्मशास्त्रों को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

2. अनुभवाश्रित अभिलेख की दूसरी प्रवृत्ति उन ग्रंथों में दिखाई पड़ती है जो किसी स्थान या काल विशेष की घटनाओं का वर्णन करते हैं इस दृष्टि से बाणभट्ट का ''हर्ष चरित सार'' एवं कल्हण की ''राजतरंगिणी'' इसके अच्छे उदाहरण हैं। बाणभट्ट अपने निरीक्षण तथा अनुभव के आधार पर हर्ष युगीन उत्तर भारत और विशेष रूप से हर्ष के राज्य का वर्णन करते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी में कश्मीर के सामाजिक–राजनीतिक जीवन का वर्णन मिलता है।

3. सामाजिक जीवन का व्यक्तिगत निरीक्षण और अनुभव पर आधारित वर्णन मौर्यकाल के उदय से लेकर मुगल काल के पतन तक की अवधि में भारत में आनेवाले यात्रियों के विवरणों में सुरक्षित है।

सिकंदर के सेनापति तथा बाद में पूर्वी ग्रीक साम्राज्य के सम्राट सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज चंद्रगुप्त मौर्य (300--324 ई. पू.) के दरबार में राजदूत थे। मेगस्थनीज के विवरण से तत्कालीन सामाजिक जीवन ग्राम और नगरीय संरचना मौर्य प्रशासन, भूमि प्रबंध, आवागमन के साधनों, व्यापार, सेना, पाटलीपुत्र और उसके नगरीय प्रशासन के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

चीनी यात्रियों फाहियान (400–411 ई.) हवानचियांग (629–44 ई.) तक इतसिंग (671–95 ई.) के विवरण में भी तत्कालीन भारत के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा प्रशासकीय पक्षों पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है तथा प्रसिद्ध अरब विद्वान अलबरूनी की पुस्तक (1030 ई.) से भी तत्कालीन भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन का परिचय मिलता है। दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन पर मार्कोपोलो (1303 ई.) के यात्राा विवरण से जानकारी मिलती है। इब्न बतूता (1333–47 ई.) भी भारत की भौगोलिक, व्यापारिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हैं, पफरिश्ता (1909 ई.) की पुस्तक से भी भारतीय सामाजिक जीवन के विषय मे जानकारी मिलती है।

## पश्चिमी प्रभाव

भारत में पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप सामाजिक विचारों की नई परंपरा आरंभ हुई। भारत का पश्चिमी विचारों से संपर्क फ्रांस, हॉलेण्ड, पुर्तगाल और इंग्लैण्ड की भारत में बढ़ती व्यापारिक रुचि के कारण संभव हो पाया। व्यापारियों के साथ ही भ्रमणार्थी, दूत और पादरी भी भारत आए। बौद्धिक संपर्क की शुरुआत सत्रहवीं सदी में आरंभ हुई। इसी सदी तक गोवा के आसपास के क्षेत्रों पर पुर्तगालियों का अधिकार हो चुका था। इंग्लैंड की ईस्ट इण्डिया कंपनी के व्यापारिक संस्थान सूरत, मद्रास, कलकत्ता और बंबई में स्थापित हो चुके थे। डच कंपनी का केंद्र कलकत्ता के पास श्रीरामपुर में था। फ्रांस की कंपनी के केंद्र पाण्डिचेरी, चंद्र नगर और माही में थें सन् 1764 के बाद ईस्ट इण्डिया कंपनी का बंबई, मद्रास, बगाल, बिहार और उड़ीसा पर वस्तुतः अधिकार हो चुका था। इस तरह पश्चिमी प्रभाव के आयाम निम्नलिखित थे:

1. यूरोपीय प्रशासकों द्वारा भारत के सामाजिक दर्शन का अध्ययन और उनकी नए सिरे से व्याख्या,
2. भारत के विभिन्न क्षेत्रों की जातियों, जनजातियों, उनकी भाषाओं, परंपराओं आदि का यूरोपीय प्रशासकों और बुद्धिजीवियों द्वारा अध्ययन,
3. यूरोपीय चिंतन के उदारवादी प्रभाव के कारण सामाजिक सुधार के आंदोलनों की शुरुआत और सामाजिक जीवन से संबंधित विभिन्न प्रश्नों पर विचार विमर्श,
4. यूरोपीय विचारों के प्रभाव के कारण विभिन्न नगरों में सामाजिक प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए संस्थाओं और समितियों की स्थापना,
5. भारत के बौद्धिक और सामाजिक जीवन पर इसाई धर्म का प्रभाव, भारतीय शास्त्रों तथा सामाजिक जीवन के अध्ययन की पहल यूरोपीय प्रशासकों द्वारा हुई। शास्त्रों के अध्ययन के सिलसिले में इन लोगों ने मानव धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा अन्य धर्मशास्त्रों का अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया। ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन के संचालक यूरोप में थे। स्थानीय प्रशासन और लंदन स्थित संचालक मण्डल की जानकारी के लिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों, जातियों और प्रशासकों द्वारा तैयार किए गए। इनके द्वारा भारतीय समाज के अनुभवाश्रित अध्ययन की शुरुआत हुई।

यूरोपीय प्रभाव का एक अन्य आयाम समाज सुधार आंदोलनों के रूप में सामने आया। इसमें राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, देवेंद्रनाथ ठाकुर, दयानंद सरस्वती, महादेव, गोविंद रानाडे की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। इन लोगों ने निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया:

1. प्राचीन शास्त्रों की व्याख्या अथवा अनुवाद,
2. आधुनिक शिक्षा, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा, बालविवाह, आदि सामाजिक प्रश्नों पर विचार विमर्श, लेखन और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आदोलन,
3. अपने लेखन, प्रतिवेदन और भाषण द्वारा विचारों का संचार,

अंग्रेजी भाषा की जानकारी के कारण राममोहन राय और महादेव गोविंद रानाडे के विचारों पर इंग्लैंड की उदारवादी विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। सन् 1885 में अंग्रेजी माध्यम से पश्चिमी शिक्षापद्धति की शुरूआत के बाद कलकत्ता, बंबई, मद्रास, लखनउफ जैसे नगरों मे ऐसे शिक्षित वर्ग का अभ्युदय हुआ जो यूरोप की बौद्धिक गतिविधियों और सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्रा में हुई प्रगति से परिचित था। भारत मे यूरोपीय प्रभाव के राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासकीय, धार्मिक चिंतन के नए दौर से गुज र रहा था। इसका कुछ प्रभाव प्रबुद्ध भारतीयों पर कलकत्ता, बंबई और मद्रास में पड़ा इसाई पादरियो ने हिंदू धर्म में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों जैसे सतीप्रथा, जन्म के समय लड़कियों की हत्या, पर्दाप्रथा, विधवाओं की स्थिति तथा जातिगत विभेदों को लेकर काफी आलोचना की। पश्चिम की उदारवादी राजनीतिक विचारधारा, यूरोपीय प्रशासकों द्वारा भारतीय ग्रंथों के अनुवाद, भारत की जातियों तथा जनजातियों के विषय में तैयार किए गए प्रतिवेदन, इसाई धर्म के प्रभाव तथा पश्चिमी शिक्षाप्रणाली के प्रसार के कारण भारत के नगरों में बौद्धिक पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार की नई लहर उठी। भारत मे सामाजिक सुधार

आंदोलनों ने उन्नसीवीं सदी में निम्नलिखित प्रवृत्तियों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया:

1. सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए ब्रह्म समाज, आर्य समाज, तथा प्रार्थना समाज जैसे संगठनों की स्थापना,
2. सामाजिक समस्याओं जैसे सतीप्रथा, विधवा विवाह, बालविवाह, आधुनिक शिक्षा, छुआछूत तथा जातिप्रथा आदि पर नियमित लेखन और विचारविर्मश,
3. इन विषयों पर लेखों तथा पुस्तकों का प्रकाशन,
4. सामाजिक सुधारकों द्वारा समाचार पत्रों का प्रकाशन और उनके माध्यम से अपने विचारों का प्रचार,
5. सामाजिक तथा वैज्ञानिक विषयों पर विचारविमर्श के लिए स्वैच्छिक संस्थाओं की स्थापना।

## समाजशास्त्रीय चिंतन और स्वैच्छिक संस्थाएँ

भारत में समाजशास्त्रीय विचारों के बीजारोपण का श्रेय अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में स्थापित स्वैच्छिक संस्थाओं को जाता है। यूरोपीय संपर्क के कारण भारतीयों पर प्राकृतिक, सामाजिक, विज्ञानों और वस्तुपरक इतिहास लेखकों का प्रभाव पड़ा। कलकत्ता में ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना (1784) में सर विलियम जोन्स की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। इन्होंने मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस सोसाइटी की गोष्ठियों और इसके द्वारा प्रकाशित पत्रिका से भारत की सामाजिक संरचना के आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन की नींव पड़ी। कलकत्ता में एकेडेमिक एसोसिएशन (1828) सोसाइटी पफार द एक्विजिशन ऑफ जनरल नॉलेज (1838) तथा तत्वबोधिनी सभा (1839) जैसी संस्थाओं की भी स्थापना हुई। इन सभी स्वैच्छिक संस्थाओं के साथ ही सामाजिक समस्याओं जैसे सतीप्रथा, विधवाविवाह, आधुनिक शिक्षा पर विचार–विमर्श आयोजित किया।

स्वैच्छिक संस्थाओं की स्थापना और सामाजिक प्रश्नों पर विचारविमर्श की परंपरा केवल कलकत्ता तक सीमित नहीं थी। बंबई और इसके आसपास के क्षेत्रों में इस अवधि में अनेक स्वैच्छिक सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई। बंबई स्थित लिटरेरी सोसाइटी ऑपफ बांबे द्वारा लोन कस्बे का सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण (1820) कराया गया। सर्वेक्षण के नतीजे सन् 1823 में इस संस्था द्वारा प्रकाशित किए गए। इससे लोन कस्बे की जनसंख्या, जाति, धर्म तथा व्यवसाय आदि पर प्रकाश पड़ता है।

मद्रास जर्नल ऑपफ लिटरेचर एंड साइंस (1835) में गाँवों और नगरों के सर्वेक्षण प्रकाशित हुए। मद्रास स्थित बेथ्यून सोसाइटी (1851) द्वारा आयोजित बैठकों में भी सामाजिक विज्ञानों के विभिन्न पक्षों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और समाजशास्त्र पर नियमित विचारविमर्श होता रहा। इस सोसाइटी ने सर्वप्रथम सन 1859 में समाजशास्त्र को एक अलग विज्ञान के रूप में मनुष्य के लिए उपयोगी मानकर उससे संबंधित अध्ययन के लिए एक अलग प्रभाग की स्थापना की।

बनारस इंस्टीच्यूट (1861) के अंतर्गत भी ''सामाजिक प्रगति'' विषयक एक अलग विभाग था जो नृजातिक और सामाजिक समस्याओं पर गोष्ठियां आयोजित करता था। लखनउ स्थित अवध साइण्टिपिफक सोसाइटी के तत्वावधान में सैयद शराफुदीन ने ''भारत के लिए समाजशास्त्र'' (1867) शीर्षक एक पर्चा प्रस्तुत किया। जयपुर में समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए एक संस्था (1869) की स्थापना हुई। कलकत्ता में स्थापित 'बंगाल सोशल साइंस एसोसियेशन'' (1867) ने सामाजिक–नैतिक विकास के लिए तथ्यों के संकलन और वर्गीकरण पर विशेष रूप से बल दिया।

इन संस्थाओं की बैठकों में पढ़े गए अथवा इनके द्वारा प्रकाशित पर्चों पर विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि इनके द्वारा न केवल भारत की सामाजिक समस्याओं पर वैज्ञानिक रूप से विचार की नींव पड़ी बल्कि एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का भी भारत में बीजारोपण हुआ। इन संस्थाओं ने तथ्यपरक, संख्यात्मक अध्ययनों और सर्वेक्षणों की भी नींव डाली। इन संस्थाओं के आयोजनकर्ता पश्चिमी विचारों से प्रभावित थे। इनके मन में भारतीय समाज को समझने और इसे सामाजिक सुधार की ओर अग्रसर कराने की तीव्र इच्छा थी। इसके साथ ही साथ ये लोग आधुनिक ज्ञान का भारतीयों के बीच प्रसार करना चाहते थे।

## औपनिवेशिक प्रशासन और सामाजिक अध्ययन

स्वैच्छिक संगठनों के अतिरिक्त सरकारी तंत्र ने भी ईस्ट इंडिया कंपनी के तत्वावधान में औपनिवेशिक प्रशासकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सामाजिक जीवन के अध्ययन पर जोर दिया। इस दिशा में आरंभिक सरकारी प्रयत्न भारत के विभिन्न क्षेत्रों, जिलों, नगरों, जातियों तथा जनजातियों से संबंधित सूचनाओं तक सीमित था। सूचना एकत्र करने और प्रदान करने वाले लोग नीचे की श्रेणी के कर्मचारी थे। अतः उनकी

रिपोर्ट में बहुत–सी कमियाँ है। इसके बावजूद इनके द्वारा तत्कालीन भारत में शिक्षा, जनसंख्या, धर्म, जाति, जनजाति, ग्राम और नगरों की सरचना पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। प्रायः सभी विषय में पुस्तकें, रिपोर्ट और पर्चे किसी न किसी रूप में सन् 1820–50 के बीच तैयार हो चुके थे। तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कुछ पर्चे और पुस्तकें तो सामाजिक जीवन पर वस्तुपरक ढंग से प्रकाश डालती है और भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों को सहृदयता के साथ समझने की कोशिश से परिपूर्ण है। दूसरी ओर कुछ रिपोर्ट पुस्तकें और लेख पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता की शब्दावली से पटे पड़े हैं। भारत में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पठनपाठन, लेखन, प्रकाशन, सूचना, तथ्य संकलन, तथ्यों पर विवाद और उसमें भाग लेने वाले वर्ग की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। इनमें कलकत्ता, बंबई, मद्रास, (1957), इलाहाबाद तथा पंजाब (1887) में विश्वविद्यालयों की स्थापना, आधुनिक ज्ञानविज्ञान से युक्त शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय, तथ्य संकलन से संबंधित सस्थान (1871) तथा मानवजातीय सर्वेक्षण (1901) जैसे सरकारी विभागों की स्थापना प्रमुख है। इसके कारण आधुनिक, नियमित, क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक सामाजिक अध्ययनों की परंपरा विकसित हुई शिक्षा के कारण एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जो सरकारी तंत्र से अलग अपनी स्वतत्र दृष्टि से उपलब्ध अध्ययनों, सूचनाओं आँकड़ों और तथ्यों का विश्लेषण तथा उपयोग सामाजिक राजनीति आंदोलनों के लिए कर सकता था। अध्ययन, विश्लेषण तथा उपयोग सामाजिक राजनीतिक आंदोलनों के लिए कर सकता था। अध्ययन, विश्लेषण, सामाजिक आंदोलन और शिक्षा के प्रसार के पफलस्वरूप समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, पुस्तकों तथा विषय केंद्रित पत्रिकाओं का प्रकाशन, प्रचार तथा प्रसार आरंभ हुआ।

विश्वविद्यालय स्तर के अध्ययन–अध्यापक, सरकारी संगठनों द्वारा आयोजित अध्ययनों के प्रभाव, स्वतंत्र चिंतन, समाचार पत्रों में जीवन से जुड़े सामाजिक–आर्थिक प्रश्नों जैसे, औद्योगिकरण, नगरीकरण, अप्रवास, परिवार, विवाह, पश्चिम में विकसित प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो के प्रभाव और भारत में चल रहे बौद्धिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के प्रभाव के बीच से तीन मुख्य बौद्धिक धाराएं उभरीं।

पहली धारा भारतीय पुराविदों की थी जो शास्त्रों में वर्णित सामाजिक संस्थाओं, भारतीय, धर्म, परिवार, राज्य व्यवस्था, विवाह, विधि–न्याय तथा सामाजिक दर्शन की व्याख्या में संलग्न थे। दूसरी धारा में भारत के नृजातिक, प्रागैतिहासिक, भाषाशास्त्रीय तथा जनजातीय समस्याओं के वस्तुपरक अध्ययन करने वाले लोग थे। तीसरी धारा से संबद्ध लोग आधुनिक भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों, जैसे, विभिन्न धर्मावलबियों के आपसी संबंध, जातिगत संरचना, जनसंख्या, ग्रामों की स्थिति, नगरों के विकास, औद्योगिकीकरण और आवास आदि के अध्ययन पर जोर दे रहे थे। बुद्धिजीवियों, राजनीतिक चिंतकों और पत्रकारों के एक वर्ग की भी गहरी रुचि इन प्रश्नों में थी।

इन बौद्धिकधाराओं की पृष्ठभूमि में आधुनिक समाजशास्त्र का उदय और उसकी विषयवस्तु का निर्धारण हुआ। इसे निश्चित बौद्धिक दिशा देने में विनय मोहन सरकार, पैट्रिक गिडिस, जी.एस. घुरिए, राधाकमल मुखर्जी, धूर्घटी प्रसाद मुखर्जी तथा ए.आर. वाडिया का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मानवविज्ञान के आरंभिक अध्ययनकर्ताओं में शरद चंद्रराय, वी.एन. दत्त, रिजले, तथा हटन के नाम उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालय स्तर पर समाजशास्त्र के पठनपाठन का आरंभ इसी बौद्धिक पृष्ठभूमि के बीच से हुआ।

## समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाएँ

समाजशास्त्र समाजविज्ञान के रूप में सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन पर बल देता है। प्रत्येक विज्ञान की अपनी शब्दावली विचार तथा अवधारणाएँ होती है। सुनिश्चित शब्दावली और अवधारणा के होने के कथन में उत्पन्न होने वाले अर्थ वैभ्रम्य के संकट से बचा जा सकताा है। सुनिश्चित सर्वमान्य और स्पष्ट शब्दावली के कारण प्रयोगकर्ता, श्रोता अथवा पाठ के मन में अर्थ को लेकर कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होता है। सुनिश्चित अवधारणाएं किसी भी विचार को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करती है। समाजशास्त्र मनुष्य की अंतःक्रियाओं और संबंधों के अध्ययन पर बल देता है। मानवीय संबंध और अंतःक्रियाएँ समाज में ही प्रस्पफुटित होती है। समाज एक ऐसी व्यापक व्यवस्था है जिसके अंतर्गत अनेक समूह, समुदाय, संस्थाएँ तथा समितियाँ समाहित है। इस अध्याय के अंतर्गत हम मुख्य रूप से मानव समाज, मानव समुदाय, मानव समूह तथा समिति की अवधारणाओं पर विचार करेंगे।

### समाज

समाजशास्त्र के अंतर्गत आधारभूत अवधारणा समाज की है। समाज और मनुष्य का अस्तित्व एक दूसरे के साथ जुड़ा है जबसे इस धरती पर मनुष्य का अस्तित्व है तब से ही समाज भी है। सोलहवीं से अठारहवीं सदी के बीच सामाजिक संविदा के सिद्धांत पर विश्वास करने वाले लोगो का मत था कि समाज मनुष्यों की आपसी संविदा अथवा समझौते का फल है जिसकी रचना मनुष्य ने या तो अव्यवस्था की समाप्ति अथवा प्रकृति के नियमों से मुक्ति पाने के लिए की। समाज की उत्पत्ति का प्रश्न ही अर्थहीन है। समाज मानवीय अस्तित्व के साथ ही साथ स्वतः उद्भूत है।

## समाज क्या है?

एक से अधिक मनुष्य जब साथ–साथ रहते हैं तो उनके मध्य पारस्परिक संबंध होते हैं। मनुष्य जब साथ–साथ रहते हैं तो साहचर्य की यह प्रक्रिया उनके मध्य पारस्परिक सहयोग, सामंजस्य, अभियोजन, प्रतिस्पर्द्धा वैमनस्य और संघर्ष आदि को जनम देती है। सामाजिक प्रक्रिया की संज्ञा दी गई है। समाज के अंतर्गत इस तरह की सामाजिक प्रक्रियाएँ अनवरत रूप से चलती रहती हैं। इन सामाजिक प्रक्रियाओं के इर्द–गिर्द स्थापित संबंधों से समाज बनता है। समाज एक तरह से सामाजिक संबंधों के बतानेवाले का नाम है। समाज में जब बहुत से मनुष्य एक साथ रहते हैं तो उनके मध्य यौन संबंध, रक्त संबंध, आर्थिक और राजनीतिक संबंध स्थापित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, सापेक्ष्य रूप से स्थायी यौन संबंधों पर आधारित पति–पत्नी और उनसे उत्पन्न बच्चों से पारिवारिक संबंध बनते हैं। माता–पुत्रा और पिता–पुत्री के मध्य रक्त संबंध होता है। ग्राहक तथा दुकानदार के मध्य आर्थिक संबंध होता है। मतदातों तथा चुनाव के उम्मीदवार के मध्य राजनीतिक संबंध होते हैं, इन पारस्परिक संबंधों का समुच्चय ही समाज है।

इसी अर्थ में समाज को परिभाषित करते हुए मैकाइवर तथा पेज ने कहा है कि यह अधिकतर और पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा विभाजनों, मानव व्यवहार के निमंत्रणों और स्वतंत्रताओं से संबंधित प्रथाओं तथा कार्यपद्धतियों की प्रणाली है। इनका मानना है कि समाज सतत परिवर्तनशील और एक जटिल व्यवस्था है। यह सामाजिक संबंधों का जाल है।

मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है। सामाजिक जीवन के मध्य वह अनेक क्रियाओं में संलग्न रहता है। एक मनुष्य की क्रिया दूसरे मनुष्यों की क्रियाओं को या तो प्रभावित करती है या उनसे प्रभावित होती है इसे अंतःक्रिया कहते हैं। समाज बहुत से मनुष्यों की अंतःक्रियाओं के मिलेजुले रूप का नाम है।

समाज में एक साथ रहने वाले मनुष्यों के बीच अनेक तरह की समानताएँ पाई जाती है। मनुष्यों के बीच सर्वप्रथम समानता शारीरिक संरचना की है। रंग और आकार की विभिन्नता के होते हुए भी शारीरिक संरचना में समानता या समरूपता है जिसके कारण सभी मनुष्य सुन सकते हैं, देख सकते हैं, बोल सकते हैं, उनकी प्रवृतियाँ तथा मूलभूत आवश्यकताएँ प्रायः समान हैं। अतः सभी मनुष्यों को भूख और प्यास लगती है और वे इन्हें तृप्त करने की चेष्टा करते हैं। साधनों, संस्थाओं, विश्वासों तथा मूल्यों से मनुष्य की संस्कृति अपने सामाजिक जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए पशु, अपनी वंश परम्परा से प्राप्त व्यवहारों एवं प्रवृत्तियों पर ही निर्भर करते हैं। पशुओं के मध्य भी सीखने एवं संचार की क्षमता होती है लेकिन इनकी भाषा अत्यन्त सीमित होती है। इसके विपरीत मनुष्य में विकसित भाषा होती है। अपनी क्षमता के बल पर भाषा के अतिरिक्त भी अन्य प्रतीकों का प्रयोग मनुष्य करता है।

मनुष्य केवल अपनी वंश परंपरा से प्राप्त प्रवृत्तियों पर ही निर्भर नहीं करता है बल्कि नए व्यवहारों को सीखता है। मनुष्य के पास पशु की तुलना में अधिक स्मरण शक्ति है। अतः मनुष्य का एक लंबा अतीत और इतिहास है जबकि पशु समाज इससे रहित है। दूसरी ओर मानव समाज अपने भविष्य के विषय में भी सोचता है और इसे नियोजित करता है। पशु ऐसा नहीं कर सकता है। मानव समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता विवेक पर आधारित उचित और अनुचित में विभेद करने की इसकी क्षमता और इसके अनुरूप व्यवहार है। इसी आधार पर मनुष्य की अपनी संस्कृति और मूल्य का बोध होता है। मनुष्य की सारी क्रियाएँ और व्यवहार सीखी हुई मूल्यात्मक प्रणाली द्वारा संचालित होते हैं। मनुष्य की मूल्यात्मक व्यवहारों पर निर्भरता के मध्य से ही एक अन्य आवश्यकता का जन्म होता है जिसे हम मूल्यात्मक समाजप्रणाली कहते हैं। पशु समाज और मानव समाज के मध्य यह सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर है।

यह सही है कि पशु तथा पक्षी भी समूह में रहते हैं, लेकिन मनुष्य का सामूहिक जीवन संस्थागत है। मूल्यात्मक प्रणाली के आधार पर मनुष्य अपनी संस्थाओं जैसे परिवार, पाठशाला, विनिमय के स्थान, पंचायत तथा राज्य आदि को विकसित करने में सक्षम रहा है। मानवीय समाज इन संस्थाओं से मिलकर बनता है। पशुओं के मध्य मूल्यात्मक संस्थागत प्रणाली विकसित करने की क्षमता नहीं है।

## समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ

मानव समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कुछ प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ हैं। इनमें, प्रथम आवश्यकता है समाज के सदस्यों की सुरक्षा के लिए भोजन, वस्त्र तथा निवास की प्रावधान और बाह्य पर्यावरण के प्रकोपों से सुरक्षा सामाजिक जीवन में इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना अनिवार्य है।

मानव समाज की दूसरी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता मानवीय क्रियाओं का एकीकरण और व्यवस्थात्मक सामाजिक संबंध है। अपनी क्रियाओं के एकीकरण के लिए मनुष्य सामाजिक जीवन में आयु, लिंग, योग्यता आदि के आधार पर सहमति के द्वारा श्रम विभाजन करता है। प्रत्येक समाज में स्त्री–पुरुष, बालयुवा तथा वृद्ध आदि के मध्य कार्यों का स्पष्ट विभाजन दिखाई देता है। यहाँ पर यह बात ध्यान रखने की है कि सामाजिक व्यवस्था में दायित्व का विभाजन व्यक्ति विशेष के मध्य न होकर प्रायः परिस्थितियों के मध्य होता है। इस प्रकार श्रम विभाजन का दायित्व अथवा अधिकार केवल पद अथवा स्तर के लिए होता है, न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए। सामाजिक जीवन के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए एक अन्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, सदस्यों की स्थानपूर्ति। समाज के बूढ़े सदस्यों का निधन होता रहता है और उनकी स्थानपूर्ति प्रजनन के

माध्यम से नए लोगों द्वारा होती रहती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में स्थानपूर्ति दूसरे समाजों से भी सदस्यों के चयन द्वारा होती है जैसे स्वयप्रेरित आप्रवास, विक्रय अथवा क्रय आदि के द्वारा। लेकिन प्रजनन सदस्यों को स्थानपूर्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

समाज के नए सदस्यों द्वारा सामाजिक मूल्यों तथा व्यवहार पद्धतियों को सीखने के परिणामस्वरूप निरंतरता बनी रहती है। इसके लिए समाजीकरण भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। नवजात शिशु नए समूह में क्या सीखें और किससे सीखें? यह प्रश्न बहत दूर तक मूल्यात्मक व्यवहारों से संबंधित है। अत: यह भी एक अनिवार्य तत्त्व है कि समाज के अंतर्गत मूल्यात्मक व्यवहारों को निरंतर पोषित किया जाए। मूल्यात्मक व्यवहार को बनाए रखने और इनके पोषण की पद्धति का नाम सामाजिक नियंत्रण है। सामाजिक नियंत्रण के माध्यम से ही सदस्यों को सामाजिक मूल्यात्मक व्यवहारों को सीखने और उनके निरंतर पोषित करने में सहायता मिलती है।

समाज की एक अन्य प्रकार्यात्मक अनिवार्यता है कि अपने सदस्यों के मध्य वह अनवरत रूप से अर्थ तथा उद्देश्य की धारा प्रवाहित करता रहे। अंत में हम कह सकते हैं कि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रावधान, मानवीय क्रियाओं का एकीकरण तथा श्रम विभाजन, सदस्यों की स्थानपूर्ति तथा प्रजनन, अनवरत समाजीकरण, मूल्यात्मक व्यवहारों का पोषण सामाजिक जीवन में अर्थ और उद्देश्य, सामाजिक जीवन की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ये प्रकार्यात्मक अनिवार्यताएँ एक–दूसरे से पृथक् नहीं है। इनमें गहरा पारस्परिक संबंध है और ये सभी एक–दूसरे को शक्ति और सहयोग देती रहती है।

## समाज की उद्‌विकासवादी धारणा

उन्नीसवीं सदी के समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर उद्‌विकासवादी सिद्धांतों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। अगस्त कॉम्ट समाज के नैतिक और बौद्धिक विकास पर बल देते हैं जिसके अंतर्गत समाज धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक सोपानों से होकर गुजरता है। मोर्गन भी समाज के विकास के नैतिक स्तरों पर बल देते हैं। इनके अनुसार समाज आदिम, बर्बर और सभ्यता की अवस्थाओं से होकर गुजरा है। कार्ल मार्क्स समाज के विकास का विश्लेषण उत्पादन की प्रणाली तथा उत्पादन के संबंधों के आधार पर करते हैं। इनके अनुसार पश्चिमी यूरोप का समाज आदिम साम्यवाद, दासप्रथा, कृषि पर आधारित व्यवस्था सामंतवाद और पूंजीवाद की अवस्थाओं से होकर गुजरा है उनका अनुमान है कि अंतिम अवस्था साम्यवाद की होगी जिसमें सामाजिक वर्ग तथा व्यक्तिगत संपत्ति समाप्त हो जाएँगे।

विकासवादी सिद्धांत के अनुसार समाज सतत अल्पविकसित अवस्था से अधिक विकसित अवस्था की ओर बढ़ता है। पूर्ववर्ती अवस्थाओं की तुलना में पुरवर्ती अवस्थाएँ अधिक विकसित होती है। उद्‌विकासी सिद्धांतों ने समाज को समझने के लिए एक दृष्टि प्रदान की। लेकिन उन सिद्धांतों की कुछ अंतर्निहित सीमाएँ हैं। सर्वप्रथम, उद्‌विकासवादी सिद्धांत के प्रतिपादकों में सोपानों के आधार को लेकर सहमति नहीं है। दूसरे, इनमें से बहुतों की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

## समाज का वर्गीकरण

प्रागैतिहासिक युग के विशेषज्ञों और नृतत्त्वशास्त्रियों ने कालखण्डों, औजार निर्माण और प्रयुक्त वस्तुओं के आधार पर समाज का विभाजन पाषाणकाल, ताम्रयुग और लौहयुग में किया है। इसी प्रकार काल, प्रविधि, उत्पादन की प्रणाली और विचारधारा को ध्यान में रखते हुए भी काल विभाजन किए गए हैं। उद्‌विकासवादी मान्यताओं तथा संबंधों के आधार पर हरबर्ट स्पेंसर ने समाज को सरल सजातीय और जटिल विजातीय समाजों में विभक्त किया है। यह विभाजन अत्यंत सारगर्भित है। जनजातियाँ समाज सामाजिक संबंधों की दृष्टि से, सरल सजातीय समाजों के अंतर्गत आते हैं। प्रविधि, उत्पादन प्रणाली और श्रम विभाजन की जटिलता के कारण औद्योगिक समाज जटिल विजातीय समाजों की श्रेणी में आते हैं।

## उपादान और काल विभाजन

औजारों और उनके निर्माण में प्रयुक्त वस्तुओं और धातुओं के आधार पर मानव समाज के उद्‌विकास के कालचक्र का निर्धारण किया गया है। इसे नीचे दी गई तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है।

तालिका

| क्रम | कालों के नाम | आरंभ का अनुमानित समय |
|---|---|---|
| 1. | पूर्व–पाषाणकाल | 2,000,000 ई.पू. |
| 2. | मध्य–पाषाणकाल | 1,50,000 ई.पू. से 10,000 ई.पू. |
| 3. | नव–पाषणकाल | 6,000 ई.पू. |
| 4. | कांस्यकाल | 3,000 ई.पू. |
| 5. | लौहकाल | 1,400 ई.पू. |

## जीविका के साधन और सोपानात्मक विकास

प्रौद्योगिकी उपकरणों, जीविका के साधन और विकास के आधार पर नृतत्त्वविदों तथा समाजशास्त्रियों ने समाज को सोपानात्मक अवस्थाओं में विभाजित किया है। मानव समाज की पहली अवस्था आखेट और खाद्य संकलन की है। इस अवस्था के अंतर्गत मनुष्य अपना भरणपोषण या तो शिकार अथवा जंगल से फल तथा जड़ों के संकलन के द्वारा करता था। प्रागैतिहासिकों, नृतत्त्वविदों और समाजशास्त्रियों का अनुमान है कि समाज की यह आरंभिक अवस्था प्रायः 36000 वर्ष पूर्व रही होगी। इस अवस्था को भी औजारों के उपयोग और आखेट किए गए प्राणियों, जैसे जंगली जानवर के स्थान पर मछली पकड़ने की क्रिया के आधार पर सरल तथा विकसित अवस्थाओं के अंतर्गत भी विभाजित किया जाता है।

दूसरी अवस्था के अंतर्गत बागवानी वाले समाज आते हैं। इस अवस्था में मनुष्य ने आखेट के स्थान पर बागवानी और फलों के उत्पादन का ज्ञान विकसित कर लिया। इस अवस्था को भी सरल और विकसित बागवानी वाले समाजों के अंतर्गत विभाजित किया जाता है। एक अनुमान के अनुसार इस अवस्था का आरंभ प्रायः 7000 वर्ष ईसा पूर्व हुआ था।

तीसरी अवस्था में आरंभिक और सरल कृषि समाजों का विकास प्रायः 3000 वर्ष ईसा पूर्व हुआ। इस अवस्था को भी सरल और विकसित कृषक समाजों के अंतर्गत वर्गीकृत किया जाता है।

पशुपालन की अवस्था रहस्य से आच्छादित है। कुछ लोगों का विचार है कि पशुपालन का आरंभ फलोत्पादन से पहले प्रायः 1000 वर्ष ईसा पूर्व हुआ। दूसरी ओर कुछ लोगों का मत है कि पशुपालन और सरल कृषक समाज प्रायः एक दूसरे के समकालीन थे। समाज की जटिलतम अवस्था औद्योगिक उत्पादन पद्धति पर आधारित है। इसका आरंभ उन्नीसवीं सदी में हुआ। उस समय इस क्षेत्र में ब्रिटेन सबसे आगे था।

यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं का एक दम सही–सही निर्धारण कठिन कार्य है। उपलब्ध खुदाई और प्रागैतिहासिक शोधों के आधार पर इसका वैज्ञानिक आधार का पता अवश्य लगाया गया है लेकिन फिर भी यह बहुत सीमा तक अनुमान पर आधारित है। विभिन्न सामाजिक अवस्थाएँ एक दूसरे से बिल्कुल पृथक नहीं है। आज भी भारतीय ग्रामों में आखेट, मछली पकड़ने, फलोत्पादन, पशुपालन और कृषि की पद्धतियाँ एक साथ पाई जाती है। ये अवस्थाएँ मानव समाज प्रविधि, उत्पादन प्रणाली, जीविका के साधन और सामाजिक संबंधों को समझने में काफी दूर तक सहायक हैं।

### मानव समुदाय

समाजशास्त्रियों द्वारा ''समुदाय'' की अवधारणा का इस्तेमाल बहुलता से हुआ है लेकिन लुईस वर्थ का यह कथन बहुत सही है कि इसके प्रयोग में काव्यात्मक मनमानी दिखाई पड़ती है।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में समुदायों की अवधारणा के विकास में फर्डिनेण्ड टानीज (1887), एमिल दुर्खीम (1893), लुईस वर्थ (1933), रोबर्ट रैडफील्ड (1955) और आर.एम. मैकाइवर (1937) के योगदान उल्लेखनीय हैं।

### मानव समुदाय क्या है?

लुईस बर्थ के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से समुदाय एक अभिव्यक्ति के रूप में लोगों के सामान्य जीवन की एकता पर जोर देता है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार समुदाय आरंभिक ठिकाना, गाँव, नगर, जनजाति अथवा राष्ट्र का नाम है जब किसी समूह के सदस्य एक साथ रहते हैं, और किसी विशिष्ट स्वार्थवश नहीं, अपितु सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं के भागीदारी होते हैं तो उस समूह को समुदाय कहा जाता है। समुदाय के अंतर्गत ही समग्र संबंध पाए जा सकते हैं।

### विशेषताएँ

प्रत्येक मनुष्य किसी–न–किसी रूप में एक या एक से अधिक समूहों का सदस्य होता है। उदाहरण के लिए ये समूह परिवार, जनजाति, मित्रमण्डल और कार्य, मनोरंजन से जुड़े होते हैं। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य दूसरों के साथ किसी स्थान या क्षेत्र में निवास करता है। जब मनुष्य किसी स्थान या क्षेत्र में निवास करता है। जब मनुष्य किसी भूक्षेत्र में साथ–साथ निवास करते हैं, पारस्परिक संबंध की भावना रखते हैं, एक दूसरे के बीच क्रिया विकसित करते हैं, तो इस स्थिति को सामुदायिक भावना का नाम दिया जाता है। इस तरह भूक्षेत्र, पारस्परिक संबंध की भावना और संगठित अंतःक्रिया, समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ हैं। समुदाय अपने सदस्यों को स्थिरता, संस्कृति और तीव्र परिवर्तन के विरुद्ध प्रतिरोध की शक्ति प्रदान करता है। समुदाय के भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक, जनसंख्यात्मक और सांस्कृतिक चार पक्ष हैं सभी मानवीय ठिकानों के मध्य समुदाय की दूसरी विशेषताएँ घनिष्ठ तथा अनौपचारिक संबंध, सामान्य विश्वास, मूल्य तथा समूह की तीव्र भावना है। रोबर्ट रेडफील्ड द्वारा प्रतिपादित लघु समुदाय की अवधारणा समुदाय की विशेषताओं के मानदण्डों पर खरी उतरती है। इस तरह समुदाय में निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

1. निश्चित भूक्षेत्रा,
2. जनसंख्या,
3. निकट सामाजिक संबंध,
4. मनोवैज्ञानिक तारतम्य और ''हम'' की भावना,
5. सांस्कृतिक समानता,
6. संगठित अंतःक्रिया।

## समुदाय की अवधारणा के सैद्धांतिक पक्ष

समुदाय की अवधारणा फर्डिनेंड टॉनिज, एमिल, दुर्खीम और रोबर्ट रेडपफील्ड द्वारा प्रतिपादित आदर्श प्रतिरूपों के माध्यम से समझी जा सकती है। टॉनीज ने दो जर्मन शब्दों के माध्यम से दो ऐसे आदर्श प्रतिरूपों की संरचना की है जिनके माध्यम से सामाजिक संगठन को समझा जा सकता है। पहले आदर्श प्रतिरूप (जैमिनशैफ्रट) को समुदाय कहा जा सकता है, जिसमें लोग भावना के द्वारा ऐक्यबद्ध होते हैं। समुदाय के समरूप परंपरात्मक उद्देश्यों तथा विश्वासों को समान रूप से स्वीकार करते हैं उनके मध्य मजबूत एकता की भावना बनी रहती है। इस तरह के संगठन के अंतर्गत सभी सदस्य एक दूसरे के कल्याण के बारे में सोचते हैं।

टॉनीज के अनुसार सामुदायिक जीवन घनिष्ठ और निजी होता है। भाषा, जनरीतियाँ, रूढ़ियों और विश्वासों से समुदाय बनता है। सामुदायिक जीवन में खेत, वन तथा चरागाह पर सबका स्वामित्व होता है।

दूसरे आदर्श प्रतिरूप (जैसिलशैफ्रट) संगठन के अंतर्गत सदस्यों के संबंध निर्वैयक्तिक और संविदात्मक होते हैं। संगठन में भावनात्मक मूल्यों का स्थान उपयोगिता ले लेती है। इस तरह के संगठन में जीवन सार्वजनिक होता है। ये संगठन किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाए जाते हैं। व्यापारिक संगठन, सट्टा बाजार आदि इस तरह के संगठन के उदाहरण हैं। इन संगठनों का स्वरूप परिवर्तनशील होता है।

दुर्खीम अपने ''श्रमविभाजन के सिद्धांत'' पर विचार करते समय यांत्रिक और जैविक दृढ़ता पर बल देते हैं। जिन संगठनों के अंतर्गत यांत्रिक दृढ़ता पाई जाती है, वे सरल होते हैं। उनमें विभिन्नीकरण का आरंभिक रूप पाया जाता है। इन समाजों में श्रमविभाजन का स्वरूप अत्यंत आरंभिक अवस्था में होता है। दूसरी ओर जैविक दृढ़ता वाले संगठन अत्यंत जटिल श्रम विभाजन पद्धति का द्योतक है।

रेडफील्ड के लघु समुदाय की मुख्य विशेषताएँ लघुता, पार्थक्य, सजातीयता तथा सुदृढ़ता की तीव्र भावना हैं। इस तरह समुदायों की विशेषताओं पर विचार करते समय हम कह सकते हैं कि इनमें टॉनीज के जैविक विशिष्ट संबंध, दुर्खीम की यांत्रि दृढ़ता की अवधारणा और रेडफील्ड के लघु समुदाय की विशेषताओं के दर्शन होते हैं। समुदाय की वास्तविक विशेषताएँ जनजातीय समाजों, ग्रामों तथा छोटे कस्बों में ही परिलक्षित होती है। वास्तविक छोटे समुदाय अब धीरे–धीरे अतीत की वस्तु होते जा रहे हैं।

*विशाल उत्पादन प्रणाली, औद्योगिकीकरण, नगरीकरण तथ महानगरों के विकास, अप्रवास तथा गतिशीलता के कारण समुदायों की संरचना दुर्बल* हुई है। इनके प्रभाव के कारण लघु समुदाय तो धीरे–धीरे विलुप्त होते जा रहे हैं।

## समुदाय के प्रकार

पड़ोस एक प्रकार से और भी सीमित समुदाय है। यद्यपि इसमें भी समुदाय की प्रायः सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। समुदायों के अंदर भी समुदाय पाए जाते हैं। जैसे गाँव के अंदर पड़ोस, पाठशाला आदि। विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय को भी प्रायः समुदाय की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इनके अंतर्गत भी ठिकाना तथा अपनत्व की भावना पाई जाती है। नगरों और महानगरों को भी समुदाय की संज्ञा दी जाती है। लेकिन नगरा तथा महानगरों के मध्य ठिकाना और अवैयक्तिक रूप से समुदाय के साथ तीव्रता से जुटे रहने की भावना के उपरांत भी सदस्यों के अंतर्गत वैयक्तिक और घनिष्ठ संबंध नहीं बन पाते हैं। अतः नगर और महानगर पर समुदाय की विशेषताओं को यदि सही ढंग से लागू किया जाए तो खरे नहीं उतरते हैं।

इसी नाते आज की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर समुदाय को लघु समुदायों और विशाल समुदायों के अंतर्गत भी विभाजित किया जाता है। पहले हम जिन विशेषताओं की चर्चा कर चुके हैं, वे मुख्य रूप से लघु समुदायों (जनजातियों ग्रामों और कस्बों) के प्रसंग में ही ठीक लगते हैं।

आज के विशाल समुदायों में संगठन की विविधता, विशेषीकरण और जटिल श्रम विभाजन पाया जाता है। एक स्थान पर रहने के उपरात भी नगरा और महानगरों में नामहीनता (आत्मपरायापन या एलिनेशन) बढ़ी है और लोगों के संबंध अवैयक्तिक हो गए हैं। इस परिस्थिति के अंतर्गत वे एक दूसरे से पेशे व समाचारपत्रों आदि के द्वारा जुड़े रहते हैं।

महानगरीय समुदायों के मध्य भी छोटे समुदाय जैसे विद्यालय, एक प्रजातीय समूह के लोगों का क्षेत्र विशेष जहां उनकी शैक्षणिक संस्थाएं, क्लब आदि हों, पंथ विशेष के निवास क्षेत्र और उनकी संस्थाएँ आदि भी विकसित हो रहे हैं। इस अर्थ में समुदायों की प्रकृति, संरचना तथा उद्देश्य में परिवर्तन हो रहा है। हालाँकि उनकी मूलभूत विशेषताएँ इन परिवर्तनों के मध्य भी बनी रहती हैं।

## समूह

सामाजिक संगठन, समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में समूह (मानव समूह) की विशेष भूमिका है। इस कारण समाजशास्त्र की मूल अवधारणाओं में समूह का स्थान महत्त्वपूर्ण है। समाजशास्त्रियों तथा समाज–मनोवैज्ञानिकों ने समूह के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया है। समूह की अवधारणा और प्रकार्यों पर या तो समाज की दृष्टि से विचार किया गया है या व्यक्ति की दृष्टि से। अतः समूह के विवेचन के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही पक्ष हैं।

मनुष्य समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एकत्र और समूहबद्ध होता है। मनुष्यों का योग और एकत्रीकरण कभी तो अस्थायी होता है जैसे अपनी माँग को लेकर सभा अथवा प्रदर्शन करने वालों का समूह। भीड़ में भी उद्देश्य के प्रति जागरूकता होती है लेकिन इसमें लोगों की अंतक्रिया थोड़े समय के लिए होती है। समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लंबी अवधि की पारस्परिकता समूह की संरचना का आधार है। एक दूसरे से अंतक्रिया की प्रक्रिया में मनुष्य नई संरचनाओं को जन्म देता है। पुरानी संरचनाओं का वह या तो अनुरक्षण करता है या अपनी आवश्यकता के अनुरूप उन्हें बदलता है। इस तरह साथ काम करने से मनुष्य के अनेक योग और संकलन, जैसे भीड़, आयु, लिंग तथा प्रजाति पर आधारित समूह बनते हैं। ये वास्तविक समूह नहीं है। इनमें अंतक्रिया की पद्धतियाँ अस्थायी होती हैं या इतनी अप्रत्यक्ष होती हैं कि इनके सदस्य पारस्परिकता और अंतक्रिया से अनजान रहते हैं।

समूह भी मानव संकलनों में से एक है लेकिन इसमें मनुष्यों की बहुलता, लक्ष्य की स्पष्टता, दीर्घकालीन अंतक्रिया और समान मूल्य पाए जाते हैं। समूह की अवधारणा के विकास में विलियम ग्राहम समनर (1906), चार्ल्स हॉर्टन कूले (1909), टी.एम. न्यूकॉब (1950), जार्ज होमान्स (1950), और रॉबर्ट के मर्टन (1957) के योगदान महत्त्वपूर्ण हैं। इनके विचारों का विवेचन आगे चलकर यथास्थान किया जाएगा।

**समूह क्या है?** : समूह को अनेक दृष्टियों से परिभाषित किया गया है। आगे दी गई परिभाषाओं से इस बात की पुष्टि होगी कि कुछ लोगों का जोर अंतक्रिया तथा पारस्परिकता तक सीमित है जबकि कुछ दूसरे लोग समान लक्ष्य, स्वीकृत साधन और निश्चित प्रतिरूप पर भी बल देते हैं। टर्नर तथा किलिन के अनुसार समूह सर्वदा ऐसे लोगों से बनता है जिनमें अंतक्रिया हो और जिसकी अंतक्रिया इस बात से प्रभावित होती हो कि वे एक इकाई हैं। अंतक्रिया और इकाई की चेतना मुख्य रूप से समूह के प्रतिमानो पर निर्भर करती है। बेनेट और ट्यूमिन अंतक्रिया के साथ–साथ समान लक्ष्य एवं सहमति मूलक साधनों को भी समूह की संरचनाओं को भी समूह की संरचना का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। जार्ज होमन्स के अनुसार समूह का अर्थ ऐसे लोगों से है जो स्थापित प्रतिरूपों के अनुरूप अंतक्रिया करते हैं। इस परिभाषा में मुख्य जोर स्थापित प्रतिरूपों पर है। इन परिभाषाओं के आधार पर समूह की संरचना के कुछ निश्चित तत्त्व हैं। वे इस प्रकार हैं: (1) व्यक्तियों की बहुलता, (2) उनके मध्य संपर्क एवं अंतक्रिया, (3) पास्परिकता की चेतना, (4) अंतक्रिया करने वाले लोगों में अपने को एक इकाई समझने की भावना, (5) समान लक्ष्य, (6) सहमति मूलक साधन, (7) सामान्य प्रतिमान, और मूल्य, (8) स्थापित प्रतिरूप। उपरोक्त वर्णित तत्त्वों के आधार पर परिवार, मित्रमण्डल, पड़ोस, क्लब, चिकित्सकों, वैज्ञानिकों तथा शोधकर्ताओं के पेशों से संबंधित संगठन आदि समूह के उदाहरण हैं। यदि एक व्यक्ति उत्प्रवास के कारण गाँव से शहर आता है तो यह भी समूह परिवर्तन का उदाहरण है। स्थानांतरण के कारण एक नगर से दूसरे नगर जाना, एक देश से दूसरे देश जाना, एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय को अपनाना, ये सभी समूह परिवर्तन के उदाहरण हैं। नगर और देश का भूक्षेत्र होता है अतः ये समुदाय भी है। लेकिन इन परिवर्तनों में भी व्यक्ति के पड़ोस, सांस्कृतिक पर्यावरण आदि बदलते हैं अतः इन्हें समूह–परिवर्तन कहा जाता है। उपरोक्त वर्णित तत्त्वों के आधार पर एक ओर तो समूह के मध्य आंतरिक एकता स्थापित होती है और दूसरी ओर अन्य समूह से वह अपना सीमांकन भी करता है। अवधि, प्रतिमान, सीमांकन और एकता किसी भी समूह की मुख्य विशेषताएं हैं।

समूह में सापेक्ष्य रूप से लंबी अवधि की अंतक्रिया का होना भी आवश्यक है। समूह के सदस्यों के मध्य समान विश्वास, मूल्य तथा उद्देश्य पाए जाते हैं। वे दूसरे समूहों से भी सीमांकन के द्वारा अपने को पृथक् करते हैं। दीर्घ अवधि के संपर्क, प्रतिमान तथा सीमांकन के द्वारा समूह अपनी एकता तथा अस्तित्व बनाए रखते हैं।

कुछ समूहों का अस्तित्व काफी समय तक बना रहता है। जबकि कुछ अन्य समूह अल्पजीवी तथा तात्कालिक होते हैं। मित्रतासमूह अपेक्षाकृत अल्पजीवी होते हैं। जब तक मित्र साथ–साथ है तब तक उनके मध्य घनिष्ठता बनी रहती है लेकिन ऐसे समूह बिखर भी जाते हैं। परिवार जैसे समूहों के कुछ मान्य विश्वास, मूल्य और उद्देश्य सार्वदेशिक होते हैं। मित्रता समूहों के मूल्य तथा उद्देश्य अलग अलग हो सकते हैं। सर्वाधिक अल्पजीवी समूह भीड़ है। किसी अवसर विशेष पर व्यक्तियों का समूह कहीं पर एकत्र हो सकता है। उस अवसर की समाप्ति अथवा उत्सुकता की समाप्ति के बाद भीड़ फिर बिखर जाती है। भीड़ के व्यक्तियों में सामान्य उत्सुकता तो पाई जा सकती है और वहाँ पर एक से अधिक व्यक्ति भी हो सकते हैं लेकिन उनके मध्य की अंतक्रिया टिकाउ नहीं होती है और उनके मध्य सामान्य मूल्य तथा विश्वास नहीं पाए जाते हैं।

**सामूहिक.जीवन के कारण** :– आखिर मनुष्य समूह के अंतर्गत रहता ही क्यों है? समूह व्यक्ति के व्यवहारों को अनेक प्रकार स नियंत्रित, नियमित और अनुशासित करने की चेष्टा करता है। मनुष्य का स्वभाव चुपचाप नियमों का पालन करने वाला नहीं होता। मानव स्वभाव के अंतर्गत कहीं–न–कहीं विद्रोही मन भी बैठा है जो नियंत्रण की चेष्टा का प्रतिरोध भी करता है। इस तरह यह कहना भी अनुचित होगा कि सामूहिकता व्यक्ति का स्वभाव है। वस्तुतः मनुष्य की दैवकीय, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, पारस्परिक अंतक्रिया, सहयोग तथा सामूहिक जीवन एक दूसरे से आबद्ध हैं और उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है। पार्थक्य और समूह रहित स्थिति के मध्य मानवीय अस्तित्व के विषय में सोचा ही नहीं जा सकता है। स्त्री–पुरुष का पारस्परिक आकर्षण इन्हें निकट लाता है और प्रजनन की प्रक्रिया बालक को जन्म देती है। बालक का अस्तित्व कम–से–कम दो व्यक्तियों (माता–पिता) के मध्य की अंतक्रिया का परिणाम है। बालक का अस्तित्व, लालन–पालन और विकास इन दोनों व्यक्तियों द्वारा की गई देखरेख के बिना अकल्पनीय है। इस पक्रिया के मध्य से ही पारस्परिक प्रेम, अनुशासन, नियंत्रण, विश्वास तथा मूल्य पर आधारित परिवार का एक समूह के रूप में विकास हुआ है।

**समूह व्यक्ति** :– समूह एवं व्यक्ति के संबंधों को लेकर समाशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी चर्चा हुई है। पहली मान्यता के अनुसार समूह के बिना व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता है। व्यक्ति समूह में ही जन्म लेता है। समूह के बीच ही उसका लालन–पालन तथा समाजीकरण होता है। समूह न हो तो प्रथम व्यक्ति का जन्म ही नहीं हो जाए तो और यदि हो जाने के बाद उसे समूह स अलग कर दिया जाए तो वह एक पशु से भिन्न नहीं होगा। पार्थक्य में वह भाषा तथा प्रतिमानों को नहीं सीख सकता है। इस मत के अनुसार समूह पहले आता है और व्यक्ति बाद में। समाजीकरण, व्यक्तित्व तथा ''स्व'' के विकास पर समाजीकरण वाले अध्याय के अंतर्गत विचार किया गया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एमिल दुर्खीम के अनुसार समूह और समाज स्वतः अद्‌भुत है। इनका अस्तित्व व्यक्ति के अस्तित्व पर निर्भर नहीं करता है। दुर्खीम के अनुसार समूह की अपनी परंपरा, इतिहास, एकता की भावना तथा प्रतीक होते हैं जो ''सामूहिक अनुभव'' का प्रतिनिधित्व करते हैं और ये किसी प्रकार के व्यक्ति के अनुभव पर आश्रित नहीं होते हैं।

दूसरी ओर मनोवैज्ञानिकों का मत है कि व्यक्तियों के संकलन से ही समूह बनता है। व्यक्ति के बिना समूह के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता है।

एक अन्य प्रमुख समाजशास्त्री चार्ल्स हार्टन कूले ने इन दोनों मतों के मध्य समन्वय की चेष्टा की है। कूले के अनुसार व्यक्ति तथा समूह एक ही यथार्थ के दो पहलू हैं। इनके मध्य एक तरह का सह–अस्तित्व है और इनमें गहरा पारस्परिक समन्वय है।

सोरोकिन के अनुसार निम्नलिखित संरचनात्मक परिस्थितियाँ समूह के निर्माण में सहायक होती हैं: (1) नातेदारी, रक्तसंबंध और समान उत्पत्ति की धारणा, (2) विवाह, (3) धर्म अथवा जादू–टोने में विश्वास की समानता, (4) भाषा की समानता, (5) समान उत्तरदायित्व, (6) भूक्षेत्रीय निकटता, (7) व्यावसायिक हित, (8) आर्थिक हित, (9) सामाजिक संस्थाओं से तादात्म्य, (10) समान खतरा अथवा शत्रु से सुरक्षा की आवश्यकता।

**समूह–एकीकरण** :– समूह एकीकरण उन परिस्थितियों में पाया जाता है, जब समूह के सदस्य समान हित की भावना से संबद्ध होते हैं और उनके मध्य निकट और पुनरावृत्ति के संपर्क होते हैं। सामान्यतया, निम्नलिखित परिस्थितियों में समूह की एकता काफी होती है:

1. जब समूह के सदस्य इस बात का अनुभव करते हैं कि समूह को बचाए रखना उनके कल्याण के लिए आवश्यक है,
2. जब प्रत्येक सदस्य समूह के उद्देश्यों की उपलब्धि में अपने योगदान और अपनी उपलब्धि की भावना से चेतना के स्तर पर जुड़ा रहता है,
3. जब सदस्यों के पारस्परिक संबंध घनिष्ठ और वैयक्तिक हों। पारस्परिक प्रोत्साहन और प्रशंसा के शब्द एक–दूसरे के बीच पाए जाएं,
4. जब समूह के उद्देश्य आसानी से प्राप्त न हों और उनके लिए अनवरत प्रयत्न करना पड़े,
5. जब समूह के समानहित की आवृति सदस्यों के लिए संगीत, अनुष्ठान, पदवी, नारों आदि के प्रतीकों द्वारा बार–बार होती रहती है,
6. जब समूह की उपलब्धियों और परंपराओं की उच्चता के विषय में इसके सदस्य बार–बार अवगत कराए जाते हैं।

**समूह का वर्गीकरण** :– सभी समूह एक जैसे नहीं होते हैं। आकार, जटिलता, सदस्यता, उद्देश्य और साधन के आधार पर समूहों म काफी विभिन्नता दिखाई पड़ती है। कुछ समूह जैसे परिवार–आकार में छोटे होते हैं। दूसरी ओर आर्थिक और राजनीतिक समूह काफी बड़े होते हैं। समूहों को प्राथमिक–द्वितीयक, अंतर्समूह–बाह्यसमूह, सदस्यता–असदस्यता तथा सकरात्मक–नकारात्मक समूहों को श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। व्यक्ति को समूह के प्रति उन्मुखता के आधार पर संदर्भ समूह की धारणा समाजशास्त्र में विकसित हुई है।

**प्राथमिक और द्वितीयक समूह** :– प्राथमिक समूह के प्रत्यय का प्रतिपादन कूले ने किया। इनके अनुसार प्राथमिक समूहों में परिवार, मित्र मण्डल जनजातीय परिषद, पड़ोस और खेल–समूहों और छोटे–समूह सम्मिलित किए जा सकते हैं जिनके सदस्यों के मध्य घनिष्ठ, अनौपचारिक, आमने–सामने के, व्यक्तिगत और प्रत्यक्ष संबंध पाए जाते हैं। इनके सदस्यों के मध्य गहरे अपनत्व और ''हम'' की भावना पाई जाती है। इस तरह के संबंध व्यक्तियों, और रक्त संबंधियों के बीच पाए जाते हैं। खेती तथा हस्तशिल्प की उत्पादन पद्धति के संबंध भी प्राथमिक होते हैं। प्राथमिक समूहों के सदस्यों में एक दूसरे के लिए त्याग की भावना पाई जाती है। माता–पिता, अपनी संतान के लिए तथा मित्र एक दूसरे के लिए त्याग करते हैं। प्राथमिक समूहों में संबंधों का नियमन प्रथा, रूढ़ि परंपरा तथा जनरीतियों के माध्यम से होता है।

इसके ठीक विपरीत द्वितीयक समूह है। इनके सदस्यों के मध्य अवैयक्तिक, औपचारिक तथा अप्रत्यक्ष संबंध पाए जाते हैं। क्लब, व्यवसाय, राजनीतिक दल अथवा ट्रेड यूनियन के सदस्यों के संबंध द्वितीयक समूहों की श्रेणी में आते हैं। ये संबंध पारस्परिक हित की भावना पर आधारित होते हैं। संबंधों का आधार इनकी उपयोगिता पर निर्भर करता है।

प्राथमिक और द्वितीयक समूहों की अवधारणा के कारण सामाजिक संबंधों की प्रकृति को समझने में बड़ी सहायता मिली है। छोटे और बड़े समूहों के मध्य किस तरह संबंधों के स्वरूप में अंतर होता है, वह इन अवधारणाओं के माध्यम से व्यक्त होता है।

**अंतर्समूह और बाह्य समूह** :– प्राथमिक और द्वितीयक समूह आधारभूत संरचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। अंतर्समूह और बाह्य–समूह का विभाजन मुख्य रूप से प्रकार्यात्मक है। अंतर्समूह एवं बाह्य समूह की अवधारणा का प्रतिपादन विलियम ग्राहम समनर ने किया है।

अंतर्समूह उन समूहों को कहा जाता है जिनके लिए प्रायः ''हम'' का प्रयोग होता है। इन समूहों के सदस्यों का संबंध एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य बोध से निर्धारित होता है। इनके सदस्यों के अंतर्गत एकबद्धता की भावना, वफादारी, मित्रता और सहयोग पाया जाता है। अंतर्समूहों के मध्य ही हम अपने आंतरिक और गहरे प्यार तथा सहानुभूति की भावना को व्यक्त करते हैं। बाह्य समूह उन व्यक्तियों से मिलकर बनता है जो औपचारिक रूप से संगठित हो या नहीं लेकिन उनके प्रति हम उदासीनता, उपेक्षा, प्रतिस्पर्धा दूरी और कभी–कभी संघर्ष का भाव रखते हैं। बाह्य समूह के सदस्यों के प्रति लोग प्रायः पूर्वाग्रह का भाव रखते हैं। युद्ध की स्थिति बाह्य समूहों के प्रति पूर्वाग्रह, उपेक्षा तथा घृणा का भाव बढ़ा देता है। विरोध और आक्रमण की स्थिति में अंतर्समूह और बाह्य समूह सामाजिक संगठन के महत्त्वपूर्ण अंग बन जाते हैं। प्रत्येक समूह के अंतर्गत किसी–न–किसी रूप में यह भावना काफी गहराई से घर किए रहती है कि हम दूसरों से श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार एक तरह के समूह के लोगों के सामान्य प्रतीक बन जाते हैं। अपने प्रतीकों जैसे भाषा, अनुष्ठान, आख्यान और पताका आदि के प्रति उन समूह के लोगों की स्वाभाविक रूप से श्रद्धा होती है। जो लोग इन समूह विशेष के प्रतीकों को स्वीकार नहीं करते हैं वे बाह्य–समूहों के अंतर्गत आते हैं और उनसे दूरी बनाए रखने अथवा उनके प्रति उदासीनता की भावना पाई जाती है।

यहां एक बात उल्लेखनीय है कि अंतर्समूह और बाह्यसमूह के निर्धारण में केन्द्रीय तत्त्व व्यक्ति है। व्यक्ति जिन समूहों को अपना मानता है वे अंतर्समूह कहे जाते हैं और जिनसे अपनी दूरी मानता है, वे बाह्य–समूह कहे जाते हैं। एक व्यक्ति का अंतर्समूह दूसरे व्यक्ति का बाह्य–समूह हो सकता है।

**सदस्यता–असदस्यता समूह** :– सदस्यता और असदस्यता समूहों की अवधारणा का प्रतिपादन रॉबर्ट के. मर्टन ने किया है। व्यक्ति एक ओर तो कुछ समूहों के मध्य ही पैदा होता है–जैसे, परिवार। कुछ समूहों की सदस्यता उसे जन्म से ही प्राप्त हो जाती है जैसे गाँव, कस्बा, जाति अथवा धर्म। दूसरी ओर अपने आयु के साथ व्यक्ति अन्य समूहों का सदस्य बनता है जैसे विद्यालय, व्यवसाय, क्लब अथवा राजनीतिक दल। इन दो विभिन्न तरह के समूहों को दृष्टिगत रखते हुए राबर्ट के मर्टन ने इन्हें सदस्यता और असदस्यता समूहों की संज्ञा दी है। सदस्यता समूहों से व्यक्ति प्रायः अपने जन्म से जुड़ा रहता है। असदस्यता समूहों का सदस्य वह बाद के जीवन में बनता है। शिक्षा, व्यवसाय, गतिशीलता, अप्रवास तथा महत्त्वाकांक्षाओं आदि के कारण आज के औद्योगिक समाज में व्यक्ति के जीवन में असदस्यता समूहों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। उन सदस्यता समूहों की सदस्यता के लिए व्यक्ति इच्छुक रहता है और इनकी सदस्यता पाने के लिए शिक्षा, समाजीकरण तथा प्रशिक्षण आदि के द्वारा वह चेष्टा करता है। शिक्षा, अप्रवास, तथा व्यवसाय के कारण व्यक्ति को असदस्यता समूहों के संपर्क में आना पड़ता है। शिक्षा प्रशिक्षण के कारण आरंभिक समाजीकरण आदि सक्षम है और व्यक्ति असदस्यता समूहों के मूल्यों तथा मान्यताओं को स्वीकार करने के लिए मानसिक रूप से तत्पर है तो इन समूहों से उसका सामंजस्य सरलता से होगा। सांस्कृतिक विविधता और समाजीकरण के अभाव में असदस्यता समूहों के मध्य व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आगे कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। सदस्यता और असदस्यता समूहों का अंतर्समूह की सदस्यता निर्धारण की कसौटियों पर निर्भर करता है। समूह के सदस्यता–निर्धारण की मर्टन के अनुसार तीन कसौटियाँ हैं:

1. सदस्यों में अंतक्रिया की आवृति,
2. अंतक्रिया करने वाले व्यक्तियों द्वारा स्वयं समूह की सदस्यता का निर्धारण,
3. दूसरों द्वारा अंतक्रिया में लगे लोगों के समूह का निर्धारण।

स्वयं तथा दूसरों द्वारा निर्धारण की पद्धति से व्यक्ति के समूह की सदस्यता के विषय में जब समान निष्कर्ष निकलते हैं तभी समूह की सदस्यता का निर्धारण संभव है। इन दोनों पद्धतियों को मिलाकर सदस्यता और असदस्यता समूहों का सीमांकन किया जाता है। समूह और इसकी सदस्यता की धारणा स्थिर न होकर गतिशील है। समूहों की सदस्यता व्यक्तियों की पात्रता, समूह की सदस्यता के प्रति उनकी समान और उन्मुखता समूह की युक्त अथवा अयुक्त प्रकृति आदि पर निर्भर करती है।

**सकारात्मक और नकारात्मक समूह :–** सकारात्मक और नकारात्मक समूहों की अवधारणा का प्रतिपादन न्यूकॉम्ब ने किया है। इनके अनुसार कुछ समूहों के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण अधिक रुझानपूर्ण होता है। इन समूहों के प्रतिमानों तथा मूल्यों को वह सरलता से आत्मसात करता है। इन समूहों को वे सकारात्मक कहते हैं। दूसरी ओर कुछ समूह ऐसे होते हैं जिन्हें व्यक्ति नापसंद करता है। उनकी मान्यताओं को वह अस्वीकार करता है। किशोरों द्वारा परिवार अथवा माता–पिता की बातों के प्रति विरोध की भावना इस तरह की नकारात्मक प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण है। जिन समूहों को व्यक्ति नापसंद करता है न्यूकॉम्ब के अनुसार उन्हें नकारात्मक समूहों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कौन–सा समूह सकारात्मक अथवा नकारात्मक है, इसका निर्धारण व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा, रुचि, रूझान और उन्मुखता के आधार पर करता है।

**संदर्भ समूह :–** अब तक हमने समूह के प्राथमिक–द्वितीयक, अंतर्समूह–बाह्य समूह, सदस्यता–असदस्यता तथा सकारात्मक–नकारात्मक वर्गीकरणों पर विचार किया है। इनका संबंध संदर्भ समूहों से है। इनके द्वारा संदर्भ समूह की धारणा के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी। संदर्भ समूह के प्रत्यय के विकास में हर्बर्ट हाईमैन, मुजापेफर शेरिफ, न्यूकॉम्ब और मर्टन का विशेष योगदान है।

मर्टन के अनुसार संदर्भ समूह का अर्थ उन समूहों से है जो व्यक्ति के संदर्भ के बिंदु होते हैं, जिनकी ओर व्यक्ति उन्मुख होता है और जो उसके मूल्यांकन, प्रवृत्ति तथा व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

व्यक्ति पर एक ओर तो प्राथमिक सदस्यता और अंतर्समूहों का प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर द्वितीयक, असदस्यता और बाह्य समूह भी उसके व्यवहारों और प्रवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। वे समूह जिनके साथ अपनत्व, निकटता और ''हम'' की भावना जुड़ी रहती है, पहली श्रेणी के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। जो समूह दूसरे हैं, जिनसे दूरी है वे दूसरी श्रेणी में आते हैं। पहली श्रेणी के समूह की संख्या कम और दूसरी श्रेणी की अधिक होती है। व्यक्ति अपने आदर्श, मूल्य, विश्वास, विचारधारा और व्यवसाय की खोज में जिन समूहों की ओर उन्मुख होता है, उन्हें संदर्भ समूहों की संज्ञा दी जाती है।

व्यक्ति के चतुर्दिक असंख्य संदर्भ समूह हैं। एक ओर सदस्यता, अंतर्समूह तथा दूसरी ओर असदस्यता–बाह्यसमूह दोनों सदर्भ समूह हो सकते हैं। सदस्यता समूहों की ओर ही व्यक्ति यदि उन्मुख होता है तो यह कोई नई बात नहीं हुई। व्यक्ति सहज रूप से सदस्यता एवं अंतर्समूहों के संपर्क में रहता है। शिक्षा, प्रशिक्षण, भौतिक गतिशीलता, प्रवास और व्यावसायिक गतिशीलता के कारण आज की सामाजिक संरचना में असदस्यता समूह अधिक महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं।

जब कोई व्यक्ति अपनी जीविका अथवा विचारधारा के लिए असदस्यता समूहों की ओर उन्मुख होता है और उनमें सम्मिलित होने की उस व्यक्ति में सकारात्मक अभिलाषा जगती है जो उस समूह में सम्मिलित होने से पूर्व ही वह असदस्यता अथवा बाह्य समूह की प्रत्याशा, मूल्य तथा व्यवहारप्रणाली के अनुरूप अपने को बनाने की चेष्टा करता है। महाविद्यालय का कोई छात्र यदि सेना में भर्ती होने की इच्छा से नेशनल कैडेट कोर में सम्मिलित होता है तो यह, इस प्रकार की पूर्व–तैयारी अथवा समाजीकरण का उदाहरण है।

**समिति :–** अब हम ऐसे सामाजिक समूह पर विचार करने जा रहे हैं जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से आधुनिक जटिल समाज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आदिम और कृषक समाज मुख्य रूप से समुदायों द्वारा संगठित थे। आधुनिक समाज मुख्यतया समितियों द्वारा संगठित है। आदिम और कृषकों का समाजों में सहयोग अथवा संघर्ष का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण था। आज के समय में व्यापार, आर्थिक उत्पादन, वितरण, राजनीति सभी क्षेत्रों में हित और उपयोगिता की भावना सर्वोपरि है। इन हितों की रक्षा तथा प्रोन्नति के लिए निश्चित नियमों, संगठन पद्धति और औपचारिक विधि से जिन समूहों की स्थापना की जाती है, उन्हें समिति कहते हैं। पिछले पृष्ठों में समुदाय पर विचार करते समय हमने टॉनीज द्वारा प्रतिपादित समुदाय और समिति की धारणाओं पर विचार किया था। समुदाय के विपरीत की विशेषताएं टॉनीज के अनुसार समिति की विशेषताओं को व्यक्त करती हैं।

समिति की धारणा के विकास में टॉनीज (1883), मैक्सवेबर (1822) और आर.एम. मैकाइवर (1937) का योगदान उल्लेखनीय है।

**समिति क्या है? :–** टॉनीज के अनुसार, आधुनिक समाज में सार्वजनिक जीवन, व्यापार, विज्ञान, सट्टा बाजार आदि से संबधित विभिन्न हितों की सुरक्षा के लिए निर्मित समूहों को समिति कहा जा सकता है। मैक्स बेबर सामाजिक संबंधों पर विचार करते समय उन्हें समुदाय–मूलक और

संघ–मूलक इन दो भागों में विभाजित करते हैं। समुदाय मूलक संबंध मुख्य रूप से आदिम समाजों में पाए जाते हैं। इनमें सामुदायिक जीवन, आयु, लिंग, रक्त तथा अनुष्ठान समूहों द्वारा संगठित होता है। इस व्यवस्था में विभिन्न व्यक्तियों, परिवारों और समूहों के हितों में कोई द्वंद्व नहीं पाया जाता है। सामाजिक संरचना सहयोग पर आधारित होती है। आधुनिक, औद्योगिक समाजों में स्वार्थ के लिए संघर्ष और प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। इन स्वार्थों की देखभाल के लिए संघ अथवा समितियाँ बनाई जाती हैं। ये संघ नियम कानून एवं विवेक पर आधारित होते हैं। बैंक, निगम, अधिकारी तंत्र और राजनीतिक दल मैक्स बेबर के अनुसार ऐसे संघों अथवा समितियों के उदाहरण हैं। आधुनिक समिति के क्रमबद्ध विश्लेषण में मैकाइवर और पेज ने विशेष योगदान किया है। इनके अनुसार आधुनिक समाजों में विशेष हितों की प्रोन्नति के लिए जो समूह संगठित किए जाते हैं उन्हें समिति कहते हैं। समितियाँ अपने सदस्यों के बीच विशेष रूप से परिभाषित तथा सीमित संबंध स्थापित करती है।

**हित और समितियाँ** :– मैकाइवर और पेज के अनुसार समितियाँ हितों की उपलब्धि की पद्धति अथवा साधन के रूप में विकसित होती हैं। इसके उदाहरण व्यापारिक संगठन, चर्च, श्रमिक संघ, क्लब अथवा विभिन्न व्यवसायों के आधार पर बनाए गए संगठन हैं। आज के औद्योगिक आर्थिक संगठन और लोकतांत्रिक–राजनीतिक प्रणाली स्वयंसेवी समितियों के संगठन और प्रकार्य पर टिके हैं। समितियों के लिए आज के औद्योगिक समाज के प्रबन्ध को देखते हुए, औपचारिक संगठन का भी प्रयोग होने लगा है।

समितियों की स्थापना और उनके विकास में नेतृत्व की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनकी स्थापना में हितों के प्रति सजग कुछ लोग पहल करते है और नेतृत्व प्रदान करते हैं। समितियों को संगठित करने वाले लोगों के हितों और दृष्टिकोण में व्यापक अंतर हो सकता है। श्रमिक संघ, मनोरंजन क्लब तथा विश्व शांति के लिए बनाई गई समितियों में अंतर है। श्रमिक संघ जहाँ संघर्ष का रास्ता भी अपना सकते हैं। क्लब पारस्परिक सहयोग द्वारा अपने सदस्यों का मनोरंजन करते हैं। समितियां जानबूझकर, हित को ध्यान में रखकर, निश्चित नियमों के अनुसार बनाई जाती हैं। इनकी सदस्यता होती है और ये अपने पदाधिकारियों का चयन अथवा निर्वाचन करती हैं।

**समितियों का वर्गीकरण** :– सामान्य रूप से समितियों का वर्गीकरण उनके द्वारा संरक्षित हितों के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार के वर्गीकरण में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। सबसे पहले तो समितियों के जो घोषित उद्देश्य हैं, कभी–कभी वे वास्तविक उद्देश्य नहीं होते हैं। जैसे एक समिति के रूप में किसी भी नगर के दुकानदारों का संगठन जैसे व्यापार–मंडल यह घोषित पर सकता है कि उसके सदस्यों का मुख्य उद्देश्य समुदाय की सेवा की तुलना में मुनाफा कमाना अधिक हो सकता है।

दूसरी कठिनाई उन समितियों के मुख्य उद्देश्यों और हितों को वर्गीकृत करने में होती है जो एक साथ कई तरह के हितों की पूर्ति की चेष्टा करते हैं। जैसे एक धार्मिक समुदाय द्वारा संचालित विद्यालय को हम धार्मिक समिति के अंतर्गत। इन कठिनाइयों के उपरांत भी समितियों के वर्गीकरण की चेष्टा की गई है। मैकाइवर और पेज के अनुसार सर्वप्रथम समितियों को अविशेषीकृत और विशेषीकृत, दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। आज के समाज में समितियाँ प्रायः अस्तित्वहीन और अप्रभावी होती जा रही हैं। अविशेषीकृत समितियों के अंतर्गत आयु और लिंग समूह आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं। राज्य अविशेषीकृत समाज का अच्छा उदाहरण है। राज्य के व्यापक उद्देश्यों और हितों के उपरांत भी यह कानून और सरकार की विशेषीकृत अभिकरणों के माध्यम से कार्य करता है।

विशेषीकृत समितियाँ प्राथमिक और द्वितीयक हितों के अंतर्गत वर्गीकृत की जाती है। द्वितीयक हित प्रायः उपादानात्मक होते हैं और उपयोगिता पर आधारित होते हैं। ये दूसरे हितों की प्राप्ति के लिए साधन की तरह प्रयुक्त होते हैं। प्राथमिक हित स्वयं अपने उद्देश्य होते हैं और ये अंतिम मूल्यों को ध्यान में रखते हैं। प्राथमिक हितों को संरक्षित करने वाली समितियों में व्यक्ति के हित को प्रत्यक्ष रूप से ध्यान में रखा जाता है। प्राथमिक हितों पर आधारित समितियों का आकार भी प्रायः छोटा होता है। इनके अंतर्गत हितों की रक्षा अवैयक्तिक और अप्रत्यक्ष ढंग से की जाती है। प्राथमिक हितों के अंतर्गत यौन संतुष्टि, प्रजनन, मनोरंजन और धर्म आदि को रखा जा सकता है। इनसे संबंधित समितियाँ क्रमशः परिवार, क्लब, धार्मिक समितियां आदि हैं। द्वितीयक हितों के अंतर्गत आर्थिक, राजनीतिक और प्राविधिक हित सम्मिलित किए जा सकते है। और इसके आधार पर पेशेवर, व्यवसायगत संगठन, व्यापारिक, औद्योगिक, वित्तीय, श्रमिक और कृषिगत संगठन (आर्थिक हित), राज्य, दल, स्वायत्त संस्थाएँ और प्रचार समूह आदि (राजनीतिक हित), और प्राविधिक शोध तथा व्यावहारिक समस्याओं के समाधान से संबंधित संगठन (प्राविधिक हित) आदि समितियां इन तीन तरह के हितों के अंतर्गत विकसित हो जाती हैं।

**समितियों के अंतर्गत हितों का द्वंद्व** :– सामान्य रूप से समितियों की एकता और उनकी सुदृढ़ता इनके द्वारा प्रतिपादित हितों के कुशल संरक्षण पर निर्भर करती है। समान परंपरा तथा समिति की प्रतिष्ठा इसके सदस्यों के मध्य की एकता की भावना को और भी पुष्ट करती है। इसके साथ–ही–साथ समितियों के अंतर्गत ऐसी भी शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उनकी एकता में तनाव और दबाव का भी बीजारोपण करती हैं। चिकित्सा, कानून, शैक्षिक पेशे, श्रमिक संघ और व्यापार मण्डल आदि में इस तरह के हितों के द्वंद्व प्रायः परिलक्षित होते हैं। विभिन्न पेशों के आर्थिक

हित, जैसे शुल्क, वेतन आदि तथा वंशगत हित, जैसे गुणवत्ता, प्रशिक्षण का स्तर आदि में द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। समितियों और आधुनिक औपचारिक संगठन में इनकी सदस्यता, औपचारिकता, नियम तथा पदाधिकारियों के कारण काफी समानता है। दोनों आधुनिक औद्योगिक–राजनीतिक व्यवस्था की देन है। दोनों निश्चित नियमों पर आधारित हैं। समितियों का स्वरूप स्वयंसेवी होता है जबकि औपचारिक संगठन औद्योगिक, अथवा राजनीतिक संगठन के अंतर्गत होते हैं। सभी समितियों में औपचारिक संगठन की विशेषताएँ पाई जाती हैं लेकिन सभी औपचारिक संगठनों जैसे विशेष रूप से कर्मचारीतंत्र और सेना को समिति नहीं कहा जा सकता है। अंत में कहा जा सकता है कि आधुनिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में समितियों की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

## विविधता में एकता (Unity in Diversity)

**विविधता (The Diversity) :-** भारत विश्व का सातवाँ सबसे बड़ा तथा दूसरा सबसे घनी आबादी वाला देश है, जो विश्व के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 2.4 प्रतिशत अधिभोग करता है। यहाँ विश्व जनसंख्या का लगभग 1 5 प्रतिशत भाग विविध सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं पारिस्थितिक दशाओं (Ecological Condition) के बीच रहता है। इसके साथ एक 5000 वर्ष की अवधि का मानव जीवन का अतीत भी है जिसमें ईसा से 3000 पूर्व के तथा 2000 पश्चात् के वर्ष सम्मिलित हैं। इस देश के पास वह सांस्कृतिक विरासत भी है जो इसे अप्रवासी, आर्यों से (जो हिमालय पार से यहाँ आये थे) तथा मूल द्रविड़ों और आक्रमणकारी सभ्यताओं से प्राप्त हुई। भारत की सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक विविधताएँ यहाँ की ग्रामीण व शहरी निवास की दशाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ के शहरी क्षेत्र की कुल 21.718 करोड़ जनसंख्या (1991 की जनगणना के अनुसार) और यहाँ तक कि चार महानगरों (दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई) की कुल जनसंख्या (लगभग चार करोड़) अधिकतर विकासशील राष्ट्रों की जनसंख्या से कहीं अधिक है। यहाँ एक हजार व्यक्तियों की बस्तियाँ भी हैं, तो एक करोड़ तक की जनसंख्या वाली बस्तियाँ भी हैं।

## विविधता की प्रकृति (The Nature of Diversity)

विविधता विविध प्रजातियों, धर्मों, जातियों, जनजातियों, भाषाओं, सामाजिक प्रथाओं, सांस्कृतिक व उप–सांस्कृतिक विश्वासों, राजनैतिक दर्शन एव विचारधाराओं में परिलक्षित होती है। वृहत् दृष्टिकोण से विविधताएँ इन क्षेत्रों में स्पष्ट हैं:

**भाषाएँ (Languages) :-** यद्यपि भारत के संविधान में 18 प्रमुख भाषाओं को (उन तीन भाषाओं सहित जिन्हें अगस्त 1992 में मान्यता दी गई थी) मान्यता प्राप्त है किन्तु लगभग 1652 भाषाएँ एवं बोलियाँ हमारे देश में बोली जाती हैं। ये भाषाएँ तीन भाषा–परिवारों से सम्बद्ध हैं, इन्डो आर्यन, द्रविड़, और यूरोपीय। इन्डो आर्यन भाषाओं में हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, पंजाबी, बिहारी, राजस्थानी, असमी, सस्कृत, सिन्धी और कश्मीरी भाषाएँ सम्मिलित हैं जो भारत की तीन–चौथाई जनसंख्या द्वारा बोली जाती हैं। द्रविड़ भाषाओं में तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़, भाषाएँ सम्मिलित हैं; तथा यूरोपीय भाषाओं में अंग्रेजी, पुर्तगाली, और फ्रैन्च भाषाएँ सम्मिलित हैं। अन्तिम दो भाषाएँ अधिकतर गोआ तथा पाण्डिचेरी में बोली जाती हैं। हिन्दी भारत की सरकारी (official) भाषा है और अंग्रेजी (associated) भाषा। 1991 के आँकड़ों के अनुसार हिन्दी सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जाती है (24.78 करोड़), तत्पश्चात् तेलुगू (7.20 करोड़), बंगला (7.17 करोड़), मराठी (6.72 करोड़), तमिल (6.06 करोड़), उर्दू (4.61 करोड़), गुजराती (4.13 करोड़), मलयालम (3.53 करोड़), कन्नड़ (3.47 करोड़), उड़िया (3.17 करोड़), भोजपुरी (2.31 करोड़) और पंजाबी (2.24 करोड़) बोली जाती है। शेष भाषाएँ बोलने वाले व्यक्तियों की संख्या दस लाख और दो करोड़ के बीच है। कुछ राज्य तो आजादी के बाद भाषा के आधार पर ही पुनर्गठित किये गये थे, जैसे पंजाब दो भागों पंजाब व हरियाणा में बंटा, महाराष्ट्र दो भागों महाराष्ट्र और गुजरात में बाँटा गया। कुछ राज्य जैसे मिजोरम तथा नागालैण्ड सांस्कृतिक आधार पर बनाए गए।

**धर्म (Religions) :-** यद्यपि भारत का कोई राज्य धर्म (State Religion) नहीं है, फिर भी यहाँ सब प्रकार के धर्मों के पालन और विश्वास की स्वतंत्राता पूर्ण गारण्टी है। प्रमुख धर्मों में हिन्दू धर्म (जिसके 1991 की जनगणना के अनुसार 69.77 करोड़ लोग, जिसमें अनूसुचित जाति व जनजाति के लोग भी शामिल हैं, अथवा देश की लगभग 82.69% जनसंख्या अनुयायी है), इस्लाम (जिसके 11.35% जनसंख्या अथवा 9.58 करोड़ लोग अनुयायी हैं), इसाई धर्म (जिसके 2.43% जनसंख्या अथवा 2.05 करोड़ लोग अनुयायी हैं), सिख धर्म (जिसके 1 96: जनसंख्या अथवा 1.65 करोड़ लोग अनुयायी हैं), बौद्ध धर्म (जिसके 0.71% जनसंख्या अथवा 0.59 करोड़ लोग अनुयायी हैं), तथा अन्य धर्म (जिसके 0.38% जनसंख्या अथवा 0.38 करोड़ लोग अनुयायी हैं) आते हैं।

हिन्दू धर्म कर्म (कर्त्तव्य पालन), धर्म, पुनर्जन्म (व्यक्ति 84 लाख जन्म लेता है), आत्मा की अमरता, त्याग व मोक्ष (जन्म व मृत्यु से छुटकारा) आदि सिद्धान्तों का अधिवक्ता है।

इस्लाम धर्म भारत में मुस्लिम आक्रमण के साथ आया। यह पूर्णरूपेण एकेश्वरवादी धर्म है जो 'खुदा की मर्जी' को ही भाग्य मानकर उपदेश देता है। यह धर्म मूर्ति–पजा में विश्वास नहीं करता है और हजरत मौहम्मद साहब को पैगम्बर तथा 'कुरान शरीफ' को सबसे पवित्र पुस्तक मानता है: इसके अनुसार प्रत्येक धर्मशील मुसलमान के पाँच प्रमुख कर्त्तव्य हैं : अल्लाह में विश्वास, पाँच बार नमाज अदा करना, दान/जकात देना, प्रतिवर्ष एक माह का रोजा रखना, तथा जीवनकाल में कम–से–कम एक बार मक्का की तीर्थ यात्रा करना।

सिख धर्म का उदय पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ। इस धर्म के संस्थापक गुरु नानकदेव तथा उनकी शिष्य परम्परा के नौ अन्य गुरुओं ने धर्म में कपट, आडम्बर, मिथ्याचार के विरुद्ध उपदेश दिए। सिख धर्म के पाँच धार्मिक चिन्ह हैं: केश, कंघा, कड़ा, कृपाण और कच्छा।
इसाई धर्म का प्रवेश भारत में पुर्तगालियों के गोआ और दमन, दिव में प्रवेश के साथ हुआ और तत्पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजों के भारत प्रवेश के साथ।

**जातियाँ (Castes) :-** जातियाँ वंशानुक्रम पर आधारित अन्तर्विवाही समूह हैं जिनके निश्चित व्यवसाय होते हैं, खान–पान सम्बन्धी निषेधों का पालन करते हैं तथा अंतक्रिया पर सामाजिक प्रतिबन्धों को मानते हैं। भारत में लगभग 3000 जातियाँ हैं। इन जातियों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है: उच्च जातियाँ (जैसे ब्राह्मण, राजपूत, बनिया, कायस्थ आदि), मध्यम जातियाँ (जैसे अहीर, सुनार, कुर्मी, आदि), और निम्न जातियाँ (जैसे धोबी, नाई, आदि)। इसके अतिरिक्त अस्पृश्य जातियाँ भी हैं (जैसे चूढ़ा, भंगी, रैगर, आदि)। जातियाँ चार वर्णों से जोड़ी गयी हैं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) जिससे सांस्कारिक संस्तरण में उनकी स्थिति का निर्णय होता है।

**जनजातियाँ (Tribes) :-** जनजाति एक ऐसा समुदाय है जो एक सामान्य भौगोलिक क्षेत्र में रहता है और एक सी भाषा और संस्कृति को मानता है। भारत की कुल जनजातीय जनसंख्या 1991 की जनगणना के अनुसार 5.20 करोड़ है जो कि भारत की कुल जनसंख्या का 7.8 प्रतिशत है। प्रमुख जनजातियाँ इस प्रकार हैं: सन्थाल, भील, मीणा, गोण्ड, मुण्डा, नागा, खासी, ओरांव, गारो, और 'हो'। देश की लगभग दो तिहाई जनजातीय जनसंख्या पाँच राज्यों में पाई जाती है: मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र। तीन राज्यों (राजस्थान, प.बंगाल और आन्ध्र प्रदेश) में 20 लाख से अधिक जनसंख्या वाली जनजातियाँ पाई जाती हैं। पाँच ऐसे राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश हैं जहाँ कुल जनसंख्या के 70 से 95 प्रतिशत जनजाति के लोग हैं। ये हैं–मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और त्रिपुरा।

**प्रजातियाँ (Races) :-** भारतीय जनसंख्या बहुजननीय (polygenetic) अथवा विविध प्रजातियों का मिश्रण है। बी.एस.गुहा के अनुसार भारतीय जनसंख्या छः प्रजातीय समूहों से बनी हैं: नीग्रिटो, प्रोटो आस्ट्रेलायड, मांगोलायड, मेडिटरेनियन या द्राविड़, ब्राचीसेफाल और नौर्डिक आर्य। ब्राचीसफालिस नीग्राइड अफ्रीका से आए भारत में आने वाले सबसे पहले लोग हैं। वे अब दक्षिण भारत की पहाड़ी जनजातियों के रूप में तथा अण्डमान द्वीप समूह में पाए जाते हैं जहाँ उन्होंनें अपनी भाषा को अभी भी बनाए रखा है। संख्या के मामले में वे अब नगण्य हैं। प्रोटो आस्ट्रेलायड्स या ऑस्ट्रिक्स जो कि मध्यम उँचाई वाले, काले रंग वाले, लम्बे सिर वाले, मोटे जबड़े वाले, छोटी ठोड़ी वाले, तथा चपटी नाक वाले लोग हैं, सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं; विशेष रूप से पूर्वी, मध्य तथा दक्षिणी भारत में और यहीं से वे बर्मा व मलाया तक गए। वास्तव में, इन्हीं लोगों ने भारतीय सभ्यता की नींव रखी तथा इन्होंने ही गन्ना, चावल व साग सब्जियों की खेती की शुरुआत की। उनकी भाषा अभी भी मुण्डा व कोल भाषाओं में बची हुई हैं। द्रविड़ या मेडिटरेनियन प्रजाति में तीन उप प्रकार हैं: असली मेडिटरेनियन, पलेओ मेडिटरेनियन, तथा ओरियन्टल मेडिटरेनियन। इन्हीं लोगों ने नगरीय सिन्धु घाटी सभ्यता को प्रसिद्धि के शिखर तक पहुँचाया जिसके अवशेष हमें मोहनजोदड़ों और हड़प्पा से प्राप्त हुए हैं। द्रविड़ लोग समूचे भारत में फैले होंगे। मंगोलायड प्रजाति के लोगों के सिर चौड़े, कद मध्यम, खाल का रंग भूरा या पीला, नाक छोटी, और होठ मोटे, चपटा चेहरा, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई होती हैं तथा ये असम, नागालैण्ड व मिजो पहाड़ियों में पाए जाते हैं। नार्डिक आर्य लोग ईसा से 2000 से 1500 वर्ष पूर्व के बीच मध्य एशिया से आए तथा उत्तरी पश्चिमी पंजाब में स्थापित हो गये और वहाँ से गंगा के मैदान तक फैले गए। इन आर्यों ने पहले से बसे हुए अत्यधिक सभ्य सिन्धु घाटी के लोगों से संघष किया। नीग्रिटो प्रजाति के लोग आर्यों से मिल–जुल गए थे और उन्होंने धीरे–धीरे उनके सांस्कृतिक लक्षणों को भी अपना लिया।

## एकता (The Unity)

इन विविधताओं के बीच एक मौलिक एकता का सूत्र है जो समूचे भारतीय समाज को एक बड़े समाज तथा राष्ट्र को एक महा राष्ट्र के रूप में पिरोए हुए है। एम.एन. श्रीनिवास (1985:105) का मत है कि भारत की एकता आवश्यक रूप से धार्मिक एकता है। भले ही लोग विविध देवी–देवताओं की पूजा करें, लेकिन धर्मग्रन्थ–पुराण, ब्राह्मण, महाकाव्य, और वेद–विविध विषमरूपी समूहों को एक ताने–बाने में पिरोए हुए एक वृहद धार्मिक समाज बनाए हुए हैं तथा उन्हे अपने देश की पवित्राता का आभास कराते रहते हैं। भक्तजन विविध तीर्थ स्थलों का भ्रमण करते हैं, लेकिन सभी का उद्देश्य पवित्रा स्थलों के दर्शन कर धार्मिक पुण्य अर्जन करना है। विविध क्षेत्राों, भाषाओं और रीति–रिवाजों के लोग तीर्थ स्थलों में एक साथ देखे जा सकते हैं और सभी का एक सामान्य लक्ष्य होता है, 'मोक्ष' की प्राप्ति।
भारत ने एक एकी त इकाई के रूप में स्वतंत्राता संग्राम किया। स्वतंत्राता के पश्चात् भारत ने एक राष्ट्र के रूप में चीनी आक्रमण तथा तीन बार पाकिस्तानी आक्रमण का सामना किया। हमारी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विचारधाराएँ धर्मनिरपेक्षता, तर्क, न्याय, आजादी तथा समानता पर आधारित है। हमारे कानून बिना भेदभाव के सभी पर एक से लागू होते हैं। हमारा संविधान सभी को समान रूप से सुरक्षा प्रदान करता है। हमारी योजनाएँ सभी प्रकार के कमजोर वर्गों के उत्थान के उद्देश्य से बनती हैं। समान रिवाज तथा सामाजिक मूल्यां के प्रति मतैक्य हमारी परम्परागत संस्कृति को सुरक्षित बनाए हुए है। हिन्दुओं में भी जाति प्रथा के निषेधों के पालन करने में एकता का परिचय मिलता है।

इसी प्रकार लोग भले ही यह कहें कि वे एक विशेष क्षेत्रा में रहते हैं, लेकिन क्षेत्रा का विचार प्रासंगिक है। एक ही क्षेत्रा के भीतर छोटे–छोटे समरूप क्षेत्रा होते हैं जो अनेक अर्थों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। एक भाषायी क्षेत्रा इस प्रकार उदग्र (vertical) एकता प्रदर्शित कर सकता है जो उस क्षेत्रा में रहने वाली सभी जातियों में (ब्राह्मण से लेकर अस्पृश्य तक) समान होती है; जबकि जाति, क्षैतिजीय (horizontal)

एकता की परिचायक है जो कि भाषायी क्षेत्रा को काट कर निकल जाती है। एक राज्य (मान लें उत्तर प्रदेश) मे ब्राह्मण स्थानीय दलित (हरिजन, पासी, आदि) लोगों के आदर्शों में भागीदार भले ही न हो, किन्तु वह पूरे भारत में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक ब्राह्मणों के साथ कुछ सांस्कृतिक मूल्यों में भागीदारी अवश्य करता है। इसी प्रकार लोग भले ही अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग भाषाएँ बोलते हो, लेकिन एक–दूसरे से विचार संप्रेषण (communication) के लिए हिन्दी या अंग्रेजी जैसी सामान्य भाषा का प्रयोग करते हं। हिन्दी ने अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में अच्छी प्रगति की है और अब इसे विभिन्न राज्यों में लोगों द्वारा सामान्य संचार के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। पहले अंग्रजी भाषा को यह श्रेय था जो देश के विभिन्न भागों के बुद्धिजीवियों में संप्रेषण के माध्यम के रूप में भूमिका निभाती थी, यद्यपि यह प्रबुद्ध तथा सामान्य जन के बीच बाधा भी उत्पन्न करती थी। भाषाई राज्यों की कल्पना तथा स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों मे क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से पठन–पाठन स्वतंत्राता का ही प्रतिफल है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भाषाई अन्तर समाज में अव्यवस्था पैदा करेगा।

जाति–प्रथा ने भी भारतीयों को सामान्य सांस्कृतिक विचारधारा प्रदान की है। यद्यपि यह भी सत्य है कि जाति–प्रथा ने अन्तर्जातीय संघर्षों को जन्म दिया है, अस्पृश्यता जैसी समस्या को खड़ा किया है, तथा उच्च और अस्पृश्यी जातियों में दरारें पैदा की हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि 'जजमानी' प्रथा ने ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न जातियों में सौहार्द एवं सहयोग बनाए रखा है। पिछले कुछ दशकों में विभिन्न जातियों के शक्ति संबंधों मे परिवर्तन आया है। पिछले 47 वर्षों में आए आर्थिक शक्तियों तथा सामाजिक राजनैतिक परिवर्तनों ने बहुसंख्यक जातियों की शक्ति को बढ़ाया है। इन जातियों के नेताओं को स्थानीय, क्षेत्रीय व केन्द्रीय स्तर पर होने वाले राजनैतिक शक्ति संघर्ष में अपनी सामरिक स्थिति (strategic position) का भली–भाँति ज्ञान है। इन्हीं जातियों के नेता बड़े प्रकरणों को उजागर करते हैं व उनकी पैरवी करते हैं, जैसे कमजोर वर्गों का उत्थान, अस्पृश्यता, भूमि सुधार, आदि के प्रकरण। यह जातीय एकता कभी–कभी राष्ट्रीय व क्षेत्रीय प्रकरणों को उठाने में अहम् हो जाती है और अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया में योगदान करती है। इस प्रकार यद्यपि धर्म, जाति व भाषा समाज में कुछ समस्याए पैदा करते हैं, फिर भी भारत की एकता इन्हीं तीन कारकों में निहित है। यही तीनों भारत के लोगों को विविध स्तरों पर एक सूत्रा में बाँधे हुए है। यद्यपि यह दावा नहीं किया जाता कि ये तीनों कारक (धर्म, जाति व भाषा) भारतवासियों के एकीकरण में निर्णायक व महत्त्वपूर्ण होंगे परन्तु यह सुझाव अवश्य दिया जाने लगा है कि कालान्तर में लोग इस बात की प्रशंसा करने लगेंगे कि भारत के सभी धर्मों, जातियों व भाषाई समूहों के लोग नागरिकों के रूप मे एक समान हैं। इससे सहिष्णुता उत्पन्न होगी तथा धर्मनिरपेक्षता को एक आदर्श मूल्य के रूप में बल मिलेगा।

देश में 'विभाजन' दुष्प्रकार्यात्मक (dysfunctional) हो सकते हैं, लेकिन भारत के नागरिक होने में उनके मूल्य आवश्यक रूप स असगत व सामंजस्यहीन (inconsistent) नहीं होंगे। इन विभाजित खण्डों के प्रति निष्ठा का लुप्त होना सम्भव न हो, परन्तु इनको राष्ट्र विरोधी कहना सही नहीं होगा। यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि वह किसी जाति, गाँव, क्षेत्रा, या धर्म का है तो वह यह भी सोचता है कि वह एक भारतीय है और एक नागरिक के रूप में उसके दायित्व व कर्तव्य भी बनते हैं। इस प्रकार की भावनाएँ ही उच्च स्तर पर व्यक्तियों में एकता बनाए रखती हैं और समाज को भी संगठित करती हैं। एकता के इस विचार से व्यक्ति को समाज में विविधताओं से डरने की आवश्यकता नही है।

अध्याय-2

# नातेदारी व्यवस्था

## नातेदारी क्या है (What is Kinship)

प्रत्येक समाज में पुरुष अपने जीवन में किसी न किसी समय एक पति, एक पिता (अगर वह अविवाहित रहने का निश्चय न कर चुका हो) एक पुत्र व एक भाई की भूमिका निर्वाह करता है; और एक स्त्री एक पत्नी, एक माँ (अगर उसके अविवाहित रहने का निश्चय न किया हो), एक पुत्री तथा एक बहिन की भूमिका का निर्वाह करता है। लेकिन कुछ निकटाभिगमन निषेधों (incest taboos) के कारण एक व्यक्ति एक ही एकाकी परिवार में, जिसमें वह पुत्र और भाई है, पिता और पति की भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक महिला जिस एकाकी परिवार में पुत्री व बहिन है उसी में माँ और पत्नी की भूमिका नहीं कर सकती। इसलिए प्रत्येक वयस्क व्यक्ति दो एकाकी परिवारों से सम्बद्ध होता है—वह परिवार जो 'जनक परिवार' (family of orientation) है जिसमें वह जन्मा व उसका पालन हुआ, तथा वह परिवार जो 'जनन परिवार' (family of procreation) है, जिसकी स्थापना वह विवाह द्वारा स्वयं करता है। इन दो एकाकी परिवारों की व्यक्तिगत सदस्यता ही नातेदारी व्यवस्था का उदय करती है। इस तथ्य के प्रकाश में कि व्यक्ति दो एकाकी परिवारों से सम्बद्ध होता है, प्रत्येक व्यक्ति जनक परिवार तथा जनन परिवार के सदस्यों के बीच की कड़ी बनाए रखता है। इस प्रकर के बन्धन व्यक्तियों को एक–दूसरे के साथ नातेदारी बन्धनों में बाँधते हैं।

अतः 'नातेदारी' की परिभाषा इस पकार की जा सकती है : ''वह सामाजिक सम्बन्ध जो पारिवारिक सम्बद्धता (family relatedness) पर आधारित हो'' (थीओडरसन और थीओडरसन, 1969:221)। सम्बन्धों की प्रकृति, चाहे वह रक्तमूलक (consanguineal) (यानि कि खून के बन्धनों पर आधारित) या विवाहमूलक (affinal) (यानि कि विवाह पर आधारित) नातेदारी हो, ही सम्बन्ध व्यक्तियों के अधिकारों व कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है। 'नातेदारी समूह।' (kin group) वह समूह है 'जो रक्त या विवाह बन्धनों से बँधा हो।' अधिकतर नातेदारी समूह, परिवार से अलग रक्तमूलक होते हैं। 'नातेदारी व्यवस्था' को इस प्रकार बताया जा सकता है: ''प्रस्थिति एवं भूमिकाओं की एक प्रथानुगत व्यवस्था जो उन लोगों के व्यवहार को संचालित करती है जो एक–दूसरे से या तो विवाह के आधार पर या एक सामान्य पूर्वज की सन्तान होने के नाते सम्बद्ध होते हैं'' (थीओडरसन, वही:221)। इसे हम दूसरी तरह भी कह सकते है: ''सम्बन्धों की ऐसी संरचनात्मक व्यवस्था जिसमें नातेदार (स्वजन) एक–दूसरे से बड़े जटिल अन्तःगठबन्धनों से बंधे हों'' (मरडॉक, 1949:93)।

### नातेदार श्रेणियां (Kinship Categories)

नातेदारों की चार प्रमुख श्रेणियां होती हैं: प्राथमिक (primary), द्वितीयक (secondary), तृतीयक (tertiary), तथा दूरस्थ नातेदार (distant)। प्राथमिक नातेदार वे है। जिनका आधार कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, बल्कि स्व (ego) जनक तथा जनन परिवारों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार पिता, माता, बहिन व भाई जनक परिवार में तथा जनन परिवार में पति, पत्नी, पुत्र और पुत्री, व्यक्ति के प्राथमिक नातेदार हैं। व्यक्ति (स्व) के प्रत्येक प्राथमिक नातेदार का अपना प्राथमिक नातेदार होता है जो कि व्यक्ति (स्व) के द्वितीयक नातेदार होंगे; जैसे पिता का पिता, पिता की माता, माता का पिता, माता का भाई, आदि। द्वितीयक नातेदार 33 प्रकार के होते हैं। द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार तृतीयक नातेदार होंगे; जैसे पिता के पिता के पिता, पिता के पिता का भाई, आदि। तृतीयक नातेदार 151 प्रकार के होते हैं। अन्त में, तृतीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार व्यक्ति (स्व) के दूरस्थ नातेदार होंगे; जैसे, पिता के पिता के पिता का पिता, पिता की माता के पिता के पिता, आदि। इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है।

नातेदारी सम्बन्ध दो प्रकार से प्रकार्यात्मक (functional) होता है: (1) यह नातेदार के बीच सभी सम्बन्धों का लक्षण वर्णन करता है और (2) यह व्यवहार का आदान–प्रदान यानी कि पारस्परिक व्यवहार निर्धारित करता है।

### नातेदारी का महत्त्व (Importance of Kinship)

परिवार के बाद हिन्दुओं में नातेदारी समूह दैनिक जीवन में, संस्कारों में, तथा सामाजिक समारोहों में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। लोग अपने नातेदारों की ओर न केवल परेशनियों में उन्मुख होते हैं, बल्कि नियमित अवसरों पर भी। नातेदारों के समूह में चार–पाँच से लेकर 25 या 30 परिवार तक सम्मिलित हो सकते हैं। परिवार के बाद महत्त्वपूर्ण नातेदारी समूह 'वंश' (lineage) और 'गोत्रा' (aclan) होते हैं।

'वंश' परिवार का विस्तृत स्वरूप है। यह एक रक्तमूलक एक शाखाई वंशव्रफम समूह (consanguineous unilateral descent group) है, जिसके सदस्य ज्ञात (और वास्तविक) सामान्य पूर्वजों से जुड़े होते हैं। वंश अधिक सूक्ष्म व विशिष्ट वंशवृक्ष से सम्बद्ध होते हैं। यह या तो मातृवंशीय या पितृवंशीय होते हैं। यह एक बहिर्विवाही (exogamous) ईकाई होती है।

एक ही वंश के सदस्य भाई की तरह होते हैं और एक दूसरे के प्रति भ्रातृत्व निष्ठा रखते हैं। कई पीढ़ियों के बाद वंश बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, लेकिन कितनी पीढ़ियों तक ये सम्बन्ध चलते हैं, यह बताना कठिन है। यदि वंश के लोग एक ही गांव या पड़ोस में रहते है। तो वंश परम्पराओं का निर्वाह होता है और वे लोग आर्थिक सहायता आदान–प्रदान करते हैं, फसल कटाई के समय श्रम एकत्र करते हैं, विवादों के निपटारे के समय सहायक होते हैं, और लगभग सभी मुख्य अवसरों पर सहयोग करते हैं।

एक वंश के परिवारों के बीच की प्रमुख कड़ी सांस्कारिक समारोह (ritual functions) होते हैं, जिनमें सभी लोग भाग लेते है। वे सभी एक दूसरे के जीवन चक्र की घटनाओं, जैसे जन्म, मृत्यु, आदि में सम्मिलित होते हैं। वे लोग एक ही देवी–देवताओं की पूजा करते हैं और एक से निषेधों का पालन भी करते हैं। वंशज आर्थिक उद्देश्यों के लिए भी सहयोग करते हैं। अठारहवीं शताब्दी में जब अंग्रेज सत्ता में आए तब उन्होंने भी वंश के मुखिया को लगान व व्यवस्था की देखभाल के लिए उत्तरदायी बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी में भूमि लगान व्यवस्था में परिवर्तन के कारण उनकी (शासकी वंशजों) सत्ता में कमी आई। आज वंश सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली है।

वंश 'गोत्रा' के रूप में भी चलता है जो कि स्वयं में एक शाखाई (unilateral) नातेदारी समूह है, लेकिन वंश से अधिक विस्तृत है। इसका पूर्वज कल्पित व मिथकीय व्यक्ति होता है और यह बहिर्विवाही (exogamous) समूह है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पिता के गोत्रा का उत्तराधिकारी होता है। टी.एन.मदान (1965:225) के अनुसार वंश का पृथक् होना आमतौर पर धीमी प्रक्रिफया है। और यह परस्पर आदान–प्रदान में छोटे–छोटे अंशों के परित्याग से होता है, कभी प्रतिवाद के रूप में और कभी परस्पर स्वीकृति के रूप में, न कि अचानक व विस्फोटक विच्छेद की तरह। वंश सहयोग के त्याग के बाद भी बहिर्विवाही सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया जाता।
वंश सम्बन्ध समय और स्थान के साथ सीमित होते जाते हैं, लेकिन गोत्रा सम्बन्ध इन सीमाओं से परे हैं। गोत्राज सदस्यों की उत्पत्ति की प्रायः कोई कहानी होती है, जो उन्हें किसी कल्पित या अलौकिक स्रोत से जोड़ती है। गोत्राजों के बीच सहयोग आर्थिक कारकों एवं निवास स्थानों की दूरी पर निर्भर करता है। आजकल गोत्रा के कार्य न्यूनतम रह गए हैं। इसका मुख्य कार्य विवाह को नियंत्रित करने तक ही सीमित हो गया है।

मनुष्य के जीवन में उसके स्त्री–नातेदारों (faminal kin) का अर्थात् माँ की तरफ के, विवाहित बहनों के, पत्नी की ओर के, और उसकी विवाहित पुत्री की ओर के नातेदारों आदि का भी महत्त्व कम नहीं होता। उपहारों का लेना–देना, समय–समय पर मिलना–जुलना, व्यक्तिगत आपातकाल में आपसी समर्थन तथा नियमित सम्पर्क एक–दूसरे के सम्बन्धों को बल प्रदान करते हैं। मामा को अपने भान्जों तथा भान्जियों के लिए कई अवसरों पर दायित्वों का निर्वाह करना होता है। स्त्री नातेदारी एक व्यक्ति के रूप में व्यक्ति व उसकी समस्याओं के विषय में अधिक चिन्तित रहते हैं, न कि एक समूह के सदस्य के रूप में। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नारी–नातेदारी सम्बन्ध हर व्यक्ति और हर गाँव को गाँवों के सामाजिक जाल (network) में समाकलन करने (aintegrate) में सहायता करते हैं, जो ग्रामीण जीवन के बहुत पहलुओं को प्रभावित करता है। विलियम रोव (William Rowe:1960) ने उत्तर प्रदेश के बनारस के निकट एक गाँव में 1959 में किये गये अध्ययन में पाया कि स्त्रियों की ओर के नातेदार श्रम के आदान–प्रदान का, खेती के उपकरणों का, पशुओं का एवं कर्ज का भी आदान प्रदान व लेन–देन करते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने गाँव में परेशानी में पड़ता है तो वह अपने मामा या साले के गाँव चला जाता है। कोहन (Cohn, 1955:57-58) ने भी गाँव के एक अध्ययन में देखा कि स्त्री की ओर के नातेदार अनेक प्रकार से नातेदारी के बन्धनों को बनाए रखते हैं।

## उत्तरी व मध्य भारत में नातेदारी के लक्षण (Features of Kinship in North and Central India)

इरावती कर्वे ने भाषाई भेदों अर्थात् संस्कृति, इण्डो–आर्य भाषाएँ (जो उत्तरी व मध्यवर्ती प्रदेशों में बोली जाती हैं), द्रविड़ भाषाएँ (जों दक्षिणी प्रांतों में बोली जाती हैं), तथा आस्ट्रिक या मुन्दारी भाषाएँ (जो पूर्वी प्रांत में बोली जाती हैं) को आधार मानकर समूचे देश को चार (उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी तथा पश्चिमी) भागों में बाँटकर भारतीय समाज के नातेदारी के लक्षणों के 1930, 1940 तथा 1950 के दशकों में विवेचन किया। उत्तरी और मध्यवर्ती क्षेत्रों में भेद पहाड़ी और मैदानी क्षेत्रों के आधार पर किया गया। वर्तमान में राज्यों के पुनर्गठना के अर्थों में उत्तरी क्षेत्र में आठ राज्य (उत्तर प्रदेश, बिहार, पूर्वी बंगाल, आसाम, पंजाब, हरियाणा, कश्मीर, और मेघालय), मध्यवर्ती क्षेत्रा में छः राज्य (राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, तथा उड़ीसा), दक्षिणी क्षेत्र में चार राज्य (आन्ध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु तथा कर्नाटक), और पूर्वी क्षेत्रों में दो राज्य (नागालैण्ड और मिजोरम) तथा बिहार, बंगाल आसाम और उड़ीसा के कुछ क्षेत्र सम्मिलित हैं।

यद्यपि उत्तरी क्षेत्र में नातेदारी व्यवहार एक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र से थोड़े से भिन्न हैं और एक ही क्षेत्र में एक जाति से दूसरी जाति में भिन्न हैं, फिर भी तुलनात्मक अधययन दर्शाता है कि एक 'आदर्श उत्तरी स्वरूप' की बात सम्भवतः की जा सकती है जिसमें अधिकतर जातियों में समान दृष्टिकोण और प्रचलन मिलते हैं (कर्वे, 1953:115)।

उत्तरी क्षेत्र में नातेदारी के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं: (1) सन्दर्भित व्यक्ति (ego) से छोटे (junior) नातेदारों को उनके निजी नाम से सम्बोधित किया जाता है और उस व्यक्ति से वरिष्ठ नातेदारों को नातेदारी शब्दों से। (2) आरोही (ascending) और अवरोही (descending) सीढ़ियों के सभी बच्चों को भ्रातृत्व समूह भाई–बहन के बच्चों के समान तथा भाई–बहन के बच्चों को स्वयं के बच्चों के समान समझा जाता है। (3) पीढ़ियों की एकता के सिद्धान्त में विश्वास पाया जाता है, (जैसे, पितामह व प्रपितामह को पिता जैसा सम्मान दिया जाता है। (4) एक ही पीढ़ी में बुजुर्ग और बच्चों में स्पष्ट भेद किया जाता है। (5) तीन पीढ़ियों के सदस्यों का व्यवहार और उनके कर्त्तव्य सख्ती से नियमित किए जाते हैं। (6) संस्कृत मूल के कुछ प्राचीन नातेदारी शब्दों को नवीन शब्दों से बदल दिया गया है, जैसे 'पितामह' के स्थान पर 'पिता'। बड़ों को सम्बोधन करते समय 'जी' प्रत्यय जोड़ दिया जाता है जैसे, 'चाचा जी', 'ताऊ जी', आदि। बंगाल में 'जी' के स्थान पर 'मोशाय' जोड़ा जाता है। (7) सगे और नजदीकी रिश्तेदारों में विवाह की अनुमति नहीं होती। (8) विवाह के बाद कन्या से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने ससुराल वालों से स्वतंत्र हो; लेकिन जब वह माँ बन जाती है, तब उस पर से प्रतिबन्ध कम हो जाते हैं और उसे सत्ता एवं आदर का स्थान प्राप्त होता जाता है। (9) परिवार की संरचना इतनी सुगठित होती है कि बच्चे, माता–पिता व दादा–दादी या तो साथ ही रहते हैं या उनके प्रति सामाजिक दायित्वों का निर्वाह भली–भाँति किया जाता है। (10) संयुक्त परिवार, जो व्यक्ति के निकटतम व घनिष्ठ रिश्तों का प्रतिनिधि है, के अलावा नातेदारों का एक बड़ा चक्र भी होता है जो व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह नातेदार उसके पितृ या मातृ नातेदारी के प्रतिनिधि होते हैं और समय और आवश्यकता पड़ने पर उसे सहायता करते हैं।

भारत के मध्यवर्ती क्षेत्रों में नातेदारी संगठन के प्रमुख लक्षण उत्तरी क्षेत्र की नातेदारी से अधिक भिन्न नहीं हैं। उनके (मध्यवर्ती क्षेत्र के) प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं: (1) प्रत्येक क्षेत्र विवाह सम्बन्धी उन्हीं रीतियों/ प्रचलनों को मानता है जिनका उत्तर क्षेत्र में पालन किया जाता है, अर्थात् विवाह में रक्तमूलक सम्बन्ध (consanguinity) का विशेष ध्यान रहता है। (2) अनेक जातियाँ बहिर्विवाही गोत्रों में बँटी हुई है। कुछ जातियों में बर्हिविवाही गोत्र अनुलोमीय सोपान (aahypergamous hierarchy) में क्रमबद्ध रहते हैं। (3) नातेदारी शब्दावली विविध नातेदारों के बीच निकटता एवं आत्मीयता दर्शाती है। यह सम्बन्ध 'न्योता–भेंट' रिवाज से संचालित होते हैं, जिनके अनुसार जितना रुपया नकद लिया जाता है उतना ही नकद लौटाकर भेंट में दिया भी जाता है। न्योता रजिस्टर बनाए जाते हैं जो पीढ़ियों तक सुरक्षित रहते हैं। (4) गुजरात में ममेरे भाई–बहनों तथा देवर के साथ विवाह (levirate) कुछ जातियों में प्रचलित हैं। (5) गुजरात में आवधिक विवाह (periodic marriage) प्रथा ने बाल–विवाह एवं बेमेल विवाहों को प्रोत्साहन दिया है, परन्तु ऐसे विवाह आधुनिक भारत में भी मिलते हैं। (6) महाराष्ट्र में उत्तरी व दक्षिणी दोनों क्षेत्रों का प्रभाव नातेदारी सम्बन्धों में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, मराठों का गोत्र संगठन राजपूतों के गोत्र संगठन की भाँति है। यद्यपि इनके गोत्र संकेन्द्रीय गोलों (concentric circles) में क्रमबद्ध होते हैं जबकि राजपूतों के (गोत्र) एक सीढ़ी (ladder) के रूप में क्रमबद्ध होते हैं। गोत्रों को खण्डों (divisions) में बाँट लिया जाता है और प्रत्येक को उनकी संख्या के आधार पर एक नाम दिया जाता है, जैसे पंचकुली, सतकुली, आदि। इन गोत्रों को अनुलोम विवाही क्रम (hypergamous order) में व्यवस्थित किया जाता है; सबसे ऊँचा पन्चकुली, फिर सतकुली, आदि। पंचकुलह अपनों में ही विवाह कर सकते हैं या फिर सतकुली की लड़की ले सकते हैं; लेकिन अपनी लड़की पन्चकुली के बाहर नहीं दे सकते हैं। (7) मध्यवर्ती क्षेत्र में कुछ जातियाँ जैसे मरहटा और कुनबी, वधू–मूल्य (bride-price) का भी लेन–देन करती हैं, यद्यपि दहेज प्रथा भी उनमें प्रचलित है। (8) यद्यपि महाराष्ट्र में परिवार व्यवस्था पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय (paatrilocal) है, लेकिन उत्तरी क्षेत्र की प्रथा के विपरीत, जहाँ पत्नी गौने के बाद स्थाई रूप से पति के घर रहती है और अपने पिता के घर कभी–कभी ही जाती है, मराठी जैसी जातियों में वह (पत्नी) अपने पिता के घर बार–बार आती–जाती रहती है। एक बार वह पिता के घर चली जाए तो उसे पति के घर वापस लाना कठिन होता है। नातेदारी सम्बन्धों पर दक्षिण क्षेत्र का प्रभाव इससे स्पष्ट हो जाता है। (9) यद्यपि नातेदारी शब्दावली अधिकतर उत्तरी है किन्तु कुछ शब्द द्रविड़ क्षेत्र से भी लिए गए हैं, जैसे, भाई के लिए 'दादा' शब्द के साथ 'अन्ना' और 'नाना' या फिर बहिन के लिए 'अक्का', 'ताई' और 'माई' शब्दों का प्रयोग। (10) राजस्थान और मध्यप्रदेश की जनजातियों में नातेदारी व्यवस्था हिन्दुओं से कुछ भिन्न है। यह अन्तर नातेदारी शब्दावली में, विवाह नियमों में, उत्तराधिकार व्यवस्था में, तथा गोत्र दायित्वों में निहित हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि नातेदारी संगठन उत्तरी व मध्यवर्ती क्षेत्रों में लगभग एक–सा है, फिर भी उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले क्षेत्रों में परिवर्तन मिलता है। महाराष्ट्र जैसे राज्य को सांस्कृतिक उधार–ग्रहण (borrowings) का तथा सांस्कृतिक समन्वय का क्षेत्र कहा जा सकता है। (Karve, 1953:174)

# परिवार व्यवस्था (The Family System)

भारतीय समाज में परिवार के ढाँचे का विश्लेषण करते समय मैंने सर्वप्रथम 'विखण्डित' (Fissioned) परिवार की धारणा का परिचय प्रस्तुत किया है। यह धारणा 'एकाकी' परिवार या 'साधारण' (Simple) परिवार (चट्टोपाध्याय द्वारा प्रयुक्त) या 'पैतृक' परिवार (ए एम शाह द्वारा प्रयुक्त) की धारणा के स्थान पर नहीं अपनाई गई है, बल्कि हमारे समाज में परिवार के मूल ढाँचे को समझने के लिए प्रस्तुत की गयी है। भारतीय परिवार का संरचनात्मक आदर्श पश्चिमी परिवार के ढाँचे से बिल्कुल भिन्न है। इसमें अधिक निरन्तरता तथा साहचर्य व मेलमिलाप रहता है। भले ही बेटे को शिक्षा, नौकरी आदि के कारण बाध्य होकर माता–पिता की पारिवारिक इकाई से अलग होना पड़े, लेकिन अपने माता–पिता के परिवार से उसका लगाव व बन्धन अटूट होता है। परिवार के सदस्यों के बीच बन्धन बड़े व्यापक और दृढ़ होते हैं। इसी कारण भारतीय सामाजिक संगठन को पश्चिम से उधार ली गई धारणाओं के प्रकाश में नहीं समझ सकते। इस नई धारणा (विखन्डित परिवार) के आधार पर भारतीय परिवार के परम्परागत तथा बदलते हुए स्वरूप का विश्लेषण करने से पहले यह आवश्यक है कि परिवार की सामान्य धारणा को समझा जाए।

## परिवार के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य (Perspectives in Studying Family)

परिवार के मूल्यांकन में तीन उपागमों को मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है: (1) प्रकार्यवादी (functionalist) (2) संरचनावादी (structuralist) (3) अन्तर्क्रियावादी (interactionist)।

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत परिवार एक उप–व्यवस्था या सम्पूर्ण समाज के सम्बन्ध में एक भाग के रूप में माना गया है। प्रकार्यवादी विद्वान परिवार का इन बिन्दुओं के आधार पर आंकलन करते हैं: (अ) उन कार्यों के आधार पर जो परिवार सम्पादित करता है तथा पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में इसका योगदान, (ब) समाज व्यवस्था के अन्य अवयवों (parts) तथा परिवार के बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्ध, और (स) व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति परिवार के कार्य।

संरचनावादी प्ररिप्रेक्ष्य में परिवार को एक विशेष समय पर अन्तःसम्बन्धित प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं की संरचना के सम्बन्ध में तथा इसका अपने सदस्यों के प्रति सुगठित अधिकारों व दायित्वों के अन्तःसम्बन्धों की संरचना के रूप में देखा जाता है।

अन्तक्रियावादी प्ररिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत परिवार अपने सदस्यों के बीच की अन्तःक्रिया से सम्बन्धित है। इसमें यह मानते हुए कि कर्त्ताओं की क्रिया उनके लिए अर्थपूर्ण है, यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि परिवार के सदस्य अपनी क्रियाओं का क्या अर्थ लगाते हैं। इस प्रकार अन्तक्रियावादी परिवार में विविध स्थितियों को परिभाषित करते हैं और यह जानने की कोशिश करते हैं कि परिवार का सदस्य किस प्रकार अन्य सदस्यों की भाषा, तौर तरीकों व संकेतों को समझता है जो उसके व्यवहार को तथा दूसरों के साथ उसकी अन्तक्रियावादी को प्रभावित करते हैं। अन्तक्रियावादी परिवार में व्यक्तिगत तथा वैवाहिक सामंजस्य की प्रतिक्रिया की भी व्याख्या करते हैं, अर्थात् परिवार में उत्पन्न तनाव की स्थितियों से मुक्त होने के तरीकों पर भी विचार करते हैं।

प्रकार्यवादी उपागम परिवार के कार्यों की सार्वभौमिकता की कल्पना करता है तथा कुछ विशिष्ट कार्यों से घिरी भूमिकाओं पर भी विचार करता है। यह उपागम परिवार की विभिन्न भूमिकाओं के मध्य सम्बन्ध भी समझाता है और परिवार के कार्यों और भूमिकाओं में परिवर्तन मुख्यत समाज में तथा सामाजिक मानदण्डों व मूल्यों के परिवर्तन के कारण मानता है।

संरचनावादी उपागम की मान्यता है कि सभी समाजों में प्रस्थितियाँ सार्वभौमिक हैं (जैसे, माता–पिता, दादा–दादी, चाचा–चाची, आदि) और परिवार में सदस्यों की भूमिकाओं में जो अन्तर व भिन्नता मिलती है वह इन्हीं प्रस्थितियों के कारण होती है। उदाहरणार्थ कुछ समाजों में दादा या परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य को पूर्ण सम्पत्ति व सदस्यों के अधिकारों आदि के निर्धारण का कार्य–भार सौंपा जाता है (जैसे उत्तर भारत में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार में) तो कुछ समाजों में दादा को थोड़ा या कुछ भी अधिकार नहीं होता।

अन्तक्रियावादी परिप्रेक्ष्य पारिवारिक जीवन में संरचना एवं भूमिकाओं की विविधताओं का भी अध्ययन करता है। यह मुख्यत [illegible] दर्शाता है कि किस प्रकार ये विविधताएँ परिवार के सदस्यों के सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं। अन्तक्रियावादी समाजशास्त्रियों [illegible] का केन्द्रबिन्दु यह होता है कि किस सीमा तक पति–पत्नि, माता–पिता–बच्चे, सास–ससुर–बहू सम्बन्धों ने समकालीन परिवारों में पारिवारिक एकता बनाए रखने के लिए एक कार्य प्रणाली (moadus operendi) का विकास किया है। कार्य प्रणाली के वर्णन में उन्होंने यह खोजने का प्रयत्न किया है कि व्यक्तिगत सामंजस्य के लिए अन्तक्रिया के कौन–कौन से पक्ष आवश्यक हैं (जैसे सयुक्त निर्णय लेना तथा एक दूसरे की भावनाओं और आकांक्षाओं का सम्मान करने की आवश्यकता)। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि प्रकार्यवादी अन्य समूह तथा संस्थाओं से सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं, संरचनावादी परम्परा बनाए रखने पर बल देते हैं जिससे वर्तमान मानदण्डों और मूल्यों को बनाये रखा जा सके; और अन्तक्रियावादी सदस्यों के बीच एकात्मकता बनाए रखने का मूल्यांकन करते हैं।

भारतीय परिवार के विश्लेषण का हमारा प्रयत्न संरचनात्मक एवं अन्तक्रियावादी दोनों ही हैं। यह मूल्यांकन मुख्य रूप से जिन समाजशास्त्रियों के अध्ययनों पर आधारित है वे हैं: आई.पी.देसाई, के.एम.कापड़िया, एलिन रास, एम.एस.गोरे, ए.एम.शाह, सच्चिदानन्द, आदि। इरावती कर्वे के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का सन्दर्भ भी हिन्दू परिवार के परम्परागत ढाँचे तथा संगठन को समझने में सहायक हो सकता है। परन्तु हिन्दू या भारतीय परिवार के विश्लेषण से पूर्व हम परिवार की सामान्य धारणा व इसके प्रकारों का विवेचन करेंगे।

## परिवार की अवधारणा (Concept of Family)

प्रजनन (reproductive) या जैविक (biological) इकाई के रूप में एक परिवार वह समूह है जिसमें स्त्री व पुरुष को यौन सम्बन्धों की स्थापना व सन्तान पैदा करने के लिए समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है। सामाजिक इकाई के रूप में परिवार स्त्री–पुरुष का एक समूह है जो विवाह सम्बन्धों से या रक्त सम्बन्धों से या गोद लेने से बंधा होता है तथ जो आयु, लिंग व अन्य सम्बन्धों पर आधारित भूमिकाओं को अदा करता है और सामाजिक दृष्टि से एक घर या उप–घर के रूप में पहचाना जाता है। गेराल्ड लेसिले (Gerald Leslie, 1982:12) ने परिवार की परिभाषा दो भिन्न लिंगों के वयस्क लोगों के समूह के रूप में बताई है जो कि सामाजिक मान्यता प्राप्त यौन सम्बन्ध स्थापित करते हुए रहते हैं और साथ में उनके अपने बच्चे या गोद लिए बच्चे भी होते हैं। मर्डाक (Murdock, 1949) ने परिवार की परिभाषा करते हुए कहा है कि परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसका एक सामान्य निवास होता है, आर्थिक सहयोग होता है तथा जिसमें प्रजनन क्रिया पाई जाती है। रास (Ross) की परिभाषा में पारिवारिक जीवन के शारीरिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक तत्त्व सम्मिलित हैं। रास (1961:31) के अनुसार परिवार नातेदारी के आधार पर एक दूसरे से जुड़े लोगों का समूह है जो एक घर में रहते हैं और जिनमें अधिकारों, कर्त्तव्यों, भावनाओं एवं आधिपत्य का एक निश्चित आदर्श प्रदान करने से ही एकता का भाव बना रहता है। इस तरह वह पारिवारिक संरचना के चार उप स्वरूपों में अन्तर बताती हैं: (1) पारिस्थितिकी (ecological) उप–संरचना, अर्थात् परिवार के सदस्यों की स्थानिक व घर सम्बन्धी व्यवस्था, अथवा रिश्तेदारों की एक–दूसरे के साथ भौगोलिक दृष्टि से निकटता। साधारण शब्दों में इसका अर्थ है कि घर का आकार व परिवार का प्रकार क्या है, (2) अधिकार और कर्त्तव्यों की उप–संरचना, अर्थात घर के भीतर श्रम विभाजन की स्थिति, (3) शक्ति व सत्ता : की उपसंरचना, अर्थात् दूसरों के कार्यों पर नियंत्रण, (4) भावनाओं (sentiments) की उप संरचना, अर्थात् विविध प्रकार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध; उदाहरणार्थ, माता–पिता व सन्तान के बीच, पति–पत्नी के बीच, तथा भाई–भाई व भाई–बहन आदि के बीच सम्बन्ध।

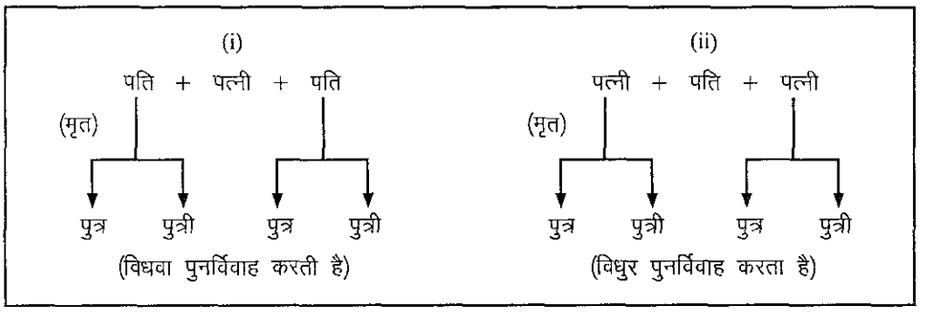


रेखाचित्र 1

## परिवार के प्रकार (Forms of Family)

चट्टोपाध्याय (1961:75) ने तीन प्रकार के परिवार बताए हैं: साधारण (simple), मिश्रित (compound), तथा संश्लिष्ट (composite)। 'साधारण' परिवार में पति–पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चें सम्मिलित होते हैं। कभी–कभी ऐसा होता है कि बच्चे के जन्म के बाद एक जीवन–साथी की मृत्यु हो जाती है जब दूसरा पुनर्विवाह कर लेता है। ऐसी स्थिति में बच्चों के दो प्रकार के समुच्चयों (sets) की इकाई को 'साधारण' परिवार नहीं कहा जा सकता। रेखाचित्र नं. 1 इस प्रकार की दो इकाइयों को प्रदर्शित करता है।

दोनों ही इकाइयों में दो 'साधारण' परिवार हैं। चट्टोपाध्याय ने दोनों ही परिवारों को 'मिश्रित' परिवार की श्रेणी में रखा है। यह 'साधारण' परिवार से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें बच्चों के दो समुच्चय (सेट) हैं—एक मृत साथी से और दूसरा उस जीवित साथी से जिससे पुनर्विवाह हुआ है। किन्तु बच्चों के दो समुच्चयों में एक माँ या बाप समान (common) है। कभी–कभी एक साथी अपने साथी के जीवित रहते हुए भी पुनर्विवाह कर लेता है, अर्थात् या तो एक पुरुष के दो पत्नियाँ हैं या एक स्त्री के दो पति। ऐसे प्रत्येक मामले में भी दो 'साधारण'

परिवार सम्मिलित हैं। चट्टोपाध्याय ने ऐसे परिवारों को भी मिश्रित परिवार की संज्ञा दी है। वे ऐसे परिवार को 'मिश्रित बहु पत्नी परिवार' (compound polygynous family) कहते हैं जिसमें एक पुरुष की दो पत्नियाँ और दो प्रकार की सन्तान हो; जबकि वे एक ऐसे परिवार को जिसमें एक स्त्री अपने दो पतियों के साथ दो प्रकार के बच्चों के साथ (दोनों पतियों से) रहती हो 'मिश्रित बहुपति परिवार' (compound polyandrous family) कहते हैं।

बहु विवाह से जुड़ने वाले एकाकी परिवार 'बहु विवाही' (polygamous) परिवार कहलाते हैं तथा माता–पिता व बच्चे के सम्बन्धों से जुड़े हुए परिवार 'संयुक्त' परिवार या 'विस्तारित' (extended) परिवार कहलाते हैं। यह विस्तार क्षैतिज (horizontal) या उदग्र (vertical) दोनों ही हो सकता है। संयुक्त परिवार में समरेखीय (lineally) रूप से जुड़े एकाकी परिवार एक साथ रहते हैं और सामान्य आधिपत्य (common authority) में कार्य करते हैं। इस प्रकार 'संयुक्त परिवार' एक ही घर में रहने वाले दो या दो से अधिक समरेखीय रूप से जुड़े पुरुषों, उनकी पत्नियों और सन्तानों से मिलकर बना होता है जो एक ही व्यक्ति के अधिपत्य में होते हैं।

संयुक्त परिवार कई प्रकार का हो सकता है : (1) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके अविवाहित बेटे व बेटियाँ तथा उनके विवाहित बेटे अपनी अविवाहित संतान के साथ, (2) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके अविवाहित बच्चे तथा उस (व्यक्ति) के माता–पिता, (3) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उस (व्यक्ति) के माता–पिता, उसके अविवाहित बच्चे तथा विवाहित पुत्र व उन (पुत्रों) के बच्चे, (4) कई भाई अपनी पत्नी एवं बच्चों सहित (5) कई भाई अपनी पत्नी, बच्चों व माता–पिता सहित।

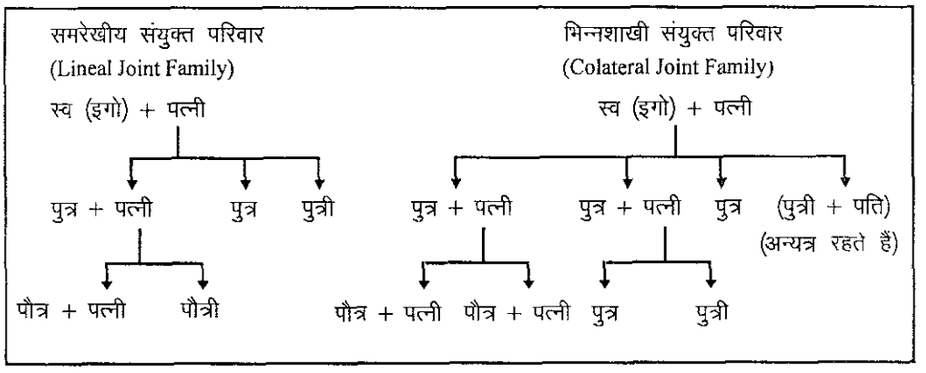


रेखाचित्र–2

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार या तो समरेखीय हो सकता है (जहाँ विस्तार उदग्र हो) या भिन्नशाखाई हो सकता है (जहाँ विस्तार क्षैतिज हो)।

सत्ता आधिपत्य (authority) के आधार पर परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है: पति सत्तामूलक (husband-adominant), पत्नी सत्तामूलक (wife-dominant) तथा समतावादी (equalitarian)। ऐसा समतावादी परिवार जिसमें पति–पत्नी मिलकर अधिकांश निर्णय लेते हों, उसे 'समतावादी परिवार' (Sayncretic family) कहते हैं, और ऐसा परिवार जिसमें दोनों जीवन साथियों को अलग–अलग बराबर के निर्णय सौंप दिए जाते हैं, उसे 'स्वायत्तावादी परिवार' (autonomic family) कहते हैं।

बर्जेस और लॉक (Burgess and Locke, 1963:26) ने व्यक्तियों के व्यवहार के आधार पर परिवारों का वर्गीकरण 'संस्थागत' (institutional) तथा 'सहचारिता' (companionship) के रूप में किया है। 'संस्थात्मक' परिवार में सदस्यों के व्यवहार रुढ़ियों/ लोकाचार (mores) व जनमत द्वारा नियंत्रण किया जाता है जबकि 'सहचारिता' परिवार सदस्यों का व्यवहार आपसी स्नेह और मतैक्य (consensus) से बनता है। बर्जेस का मत है कि अमेरिकन परिवार संस्थात्मक परिवार से सहचारिता परिवार के रूप में परिवर्तित हो रहा है।

नातेदारी के बन्धनों के आधार पर परिवारों को 'वैवाहिक' (conjugal) तथा 'रक्तमूलक' (consanguine) वर्गीकृत किया गया है। प्रथम प्रकार के परिवार में वैवाहिक बन्धनों को महत्त्व दिया जाता है और दूसरे में रक्त सम्बन्धों को। अमेरिका की परिवार प्रणाली में स्वतंत्र एकाकी परिवार 'वैवाहिक' परिवार का उदाहरण है। इसके विपरीत, भारतीय परिवार प्रणाली में वैवाहिक संबंधों के स्थान पर सन्तान (filial), भ्रातृक (fraternal) और भाई–बहन (subling) के सम्बन्धों पर बल दिया जाता है। 'वैवाहिक' परिवार व्यवस्था में व्यक्ति का माता–पिता के स्थान पर पत्नी की तरफ झुकाव रहता है, जबकि रक्तमूलक परिवार व्यवस्था में पत्नी को 'बाहरी व्यक्ति' (outsider) माना जाता है जिसकी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ विस्तरित/ संयुक्त परिवार की निरन्तरता बनाए रखने व कल्याण में ही विलुप्त हो जाती हैं। 'वैवाहिक' परिवार अस्थाई होते हैं और माता पिता की मृत्यु के साथ बिखर जाते हैं। रक्तमूलक परिवार काफी लम्बे समय तक चलते रहते

हैं क्योंकि परिवार का अस्तित्त्व एक दम्पत्ति पर निर्भर नहीं रहता है। यदि कभी माता या पिता की असामयिक मृत्यु हो जाती है तब अन्य रक्त स[illegible] माता–पिता की भूमिका निभाते हैं। दादा व दादी की [illegible]यु के बाद परिवार का नियंत्रण अगली पीढ़ी के पास चला जाता है।

ज़िमरमेन (Zimmerman) (1947:120) ने परिवार का वर्गीकरण न्यासधारी (trustee), गृहस्थ (domestic), तथा आणविक (atomistic) में किया है। परन्तु उन्होंने इन परिवार के प्रकारों को आनुभाविक (empirical) न मानकर आदर्श (ideal) प्रकार माना है। 'न्यासधारी' परिवार में व्यक्ति के अधिकारों का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि परिवार का प्रत्येक सदस्य ट्रस्टी की इच्छाओं को मानने के लिए बाध्य होता है। परिवार के मुखिया का अधिकार निरंकुश (absolute) नहीं होता, बल्कि उसे ट्रस्टी के रूप में परिवार के उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए भूमिका अदा करने हेतु प्राप्त होता है। 'गृहस्थ' परिवार न्यासधारी व आणविक परिवारों के बीच का परिवार है जिसमें इन दोनों परिवारों की विशेषताएँ समाहित होती हैं। यह परिवार औपचारिकता (formalism) और व्यक्तिवाद (individualism) के बीच सन्तुलन बनाए रखता है। 'आणविक' परिवार में रूढ़िगत लोकाचारों का समाप्त हो जाता है और प्रत्येक सदस्य की स्वेच्छा महत्त्वपूर्ण होती है। इस परिवार का अपने सदस्यों पर कम–से–कम नियन्त्रण होता है। ज़िमरमेन की मान्यता है कि अमरीकन परिवार न्यासधारी से आणविक परिवार में बदला है। क्या भारतीय परिवार भी बर्जेस और ज़िमरमेन द्वारा दिए गए उपरोक्त प्रतिमानों पर चल रहा है?

## भारत में परम्परागत (संयुक्त) परिवार (Traditional (Joint) Family in India)

संयुक्त परिवार शब्द में 'संयुक्तता' की धारणा की विभिन्न विद्वानों ने विविध रूप में विवेचन की है। कुछ विद्वानों (जैसे इरावती कर्वे) ने संयुक्तता के लिए सह–निवास (co-residentiality) को आवश्यक माना है तो कुछ विद्वान (जैसे, बी.एस. कोहनी, एस.सी.दूबे, हैरोल्ड गूल्ड, पालिन कोलेण्डा व आर.के. मुकर्जी) सह–निवास और सह–भोजन दोनों को संयुक्तता के आवश्यक तत्त्व मानते हैं। कुछ अन्य (जैसे एफ.जी.बेली, टी.एन.मदान) संयुक्त सम्पत्ति–स्वामित्व को अधिक देते हैं, और कुछ (जैसे आई.पी.देसाई) नातेदारों के प्रति दायित्वों को पूरा करने को देते हैं, भले ही उनके निवास अलग–अलग हों तथा सम्पत्ति में सहस्वामित्व न हो। 'दायित्व को पूरा करने' का अर्थ है अपने को परिवार का सदस्य मानना, वित्तीय और अन्य प्रकार की सहायता देना तथा संयुक्त परिवार के नियमों को मानना।

इरावती कर्वे के अनुसार (1953:21) प्राचीन भारत (वेद और रामायण–महाभारत युग) में परिवार निवास, सम्पत्ति और प्रकार्यों के आधार पर संयुक्त था। उन्होंने ऐसे परिवार को 'परम्परागत' (early family) केवल संयुक्त या पितृसत्तात्मक ही नहीं था, इसके साथ–साथ हमारे परिवार व्यक्तिगत: (individual) भी होते थे।

व्यक्तिवादिता (individualism) की प्रवृत्ति के बावजूद परिवार का संयुक्त तथा सगोत्रक (agnatic) स्वरूप बना हुआ है। कर्वे ने परम्परागत (संयुक्त) परिवार की पाँच विशेषताएँ बताई हैं: सह निवास, सह रसोई, सह सम्पत्ति, सह पूजा, तथा कोई नातेदारी सम्बन्ध। इस प्रकार कर्वे का संयुक्तता का आधार है: आकार', निवास, सम्पत्ति और आमदनी। इस आधार पर उन्होंने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है (1953:10): ''एक ऐसे व्यक्तियों का समूह जो (व्यक्ति) आमतौर पर एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक ही चूल्हे पर पका भोजन करते हैं, साझी सम्पत्ति रखते हैं, परिवार की सहपूजा में भाग लेते हैं तथा एक दूसरे से एक विशेष प्रकार के नातेदारी सम्बन्धों से जुड़े होते हैं।'' हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार 'सह सम्पत्ति' तथा 'संयुक्त सम्पत्ति' जुड़े होते हैं।' हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार 'सह सम्पत्ति' तथा 'संयुक्त सम्पत्ति' शब्दों का अर्थ है कि सभी जीवित स्त्री व पुरुष सदस्य तीन पीढ़ियों तक पैतृक सम्पत्ति के हिस्सेदार होते हैं तथा सहभागियों (coparceners) की सहमति बिना सम्पत्ति न तो बेची जा सकती है और न ही किसी को दी जा सकती है। इस प्रकार, एक व्यक्ति को अपनी पत्नी, दो पुत्रों, दो पुत्रियों, दो पौत्रों तथा दो पौत्रियों के साथ अपनी सम्पत्ति को अपनी पत्नी व चार बच्चों में बराबर बाँटना होगा। पौत्र संतति अपने माता–पिता की सम्पत्ति में से ही हिस्सा लेंगे। पुत्र व पुत्री प्रत्येक की पूर्व मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारी एक एक भाग लेंगे।

आई.पी.देसाई (1956:148) मानते हैं कि सह–निवास तथा सह–रसोई को संयुक्त परिवार की परिसीमा के लिए आवश्यक समझना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने से संयुक्त परिवार को सामाजिक बन्धनों का समुच्चय एवं प्रकार्यात्मक इकाई नहीं माना जाएगा। उनका कहना है कि एक घर के सदस्यों के बीच आपसी सम्बन्धों तथा अन्य घरों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों पर ही परिवार के प्रकार का निर्धारण किया जा सकता है। एकाकी परिवार को संयुक्त परिवार से अलग देखने के लिए भूमिका सम्बन्धों (role relations) के अन्तर को एवं विभिन्न रिश्तेदारों के बीच व्यवहार के मानदंडीय प्रतिमान (normative pattern) को समझना पड़ेगा। उनकी मान्यता है कि जब दो एकाकी परिवार नातेदारी सम्बन्धों के होने पर भी अलग–अलग रहते हों, लेकिन एक ही व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में कार्य करते हों तो वह परिवार संयुक्त परिवार होगा। उन्होंने इस परिवार को 'प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार' (functional joint family) कहा है। आवासीय (residential) संयुक्त परिवार में जब तक तीन या अधिक पीढ़ियाँ एक साथ न रह रहीं हो तब तक यह परम्परात्मक संयुक्त परिवार नहीं हो सकता। उसके अनुसार दो पीढ़ियों का परिवार 'सीमान्त संयुक्त परिवार' (marginal joint family) कहलाएगा। इस प्रकार देसाई ने संयुक्त परिवार के तीन आधार माने हैं: पीढ़ी की गहराई, अधिकार एवं दायित्व, तथा सम्पत्ति।

रामकृष्ण मुखर्जी (1962:98) ने पांच प्रकार के सम्बन्ध बनाते हुए–वैवाहिक (conjugal), माता–पिता पुत्र–पुत्री (parental-filial), भाई–भाई व भाई–बहन (inter-sibling), समरेखीय (lineal), तथा विवाहमूलक (affinal) सम्बन्ध–कहा है कि संयुक्त परिवार वह है जिसके सदस्यों में उपरोक्त पहले तीन [illegible] से एक या अधिक और या समरेखीय या विवाहमूलक या दोनों सम्बन्ध पाए जाते हैं।

## परम्परागत परिवार की प्रकृति (Nature of Traditional Family)

आई.पी. देसाई (1964:153–156) ने 1956 और 1958 के बीच किए गए 423 परिवारों के सर्वेक्षण के आधार पर परिवार के दो भिन्न–भिन्न वर्गीकरण दिए हैं: (1) पीढ़ियों की गहराई (depth) को लेकर सदस्यों के बीच सम्बन्धों पर आधारित (2) अन्य परिवारो के सदस्यों के साथ सम्बन्धों के आधार पर। प्रथम आधार पर उन्होंने परिवार का वर्गीकरण चार प्रकार से किया है: एक पीढ़ी, दो पीढ़ियाँ, तीन पीढ़ियाँ तथा चार या अधिक पीढ़ियों वाले परिवार। इनमें से प्रथम दो प्रकार के परिवारों को उन्होंने एकाकी परिवार कहा है और अन्तिम दो को संयुक्त परिवार।

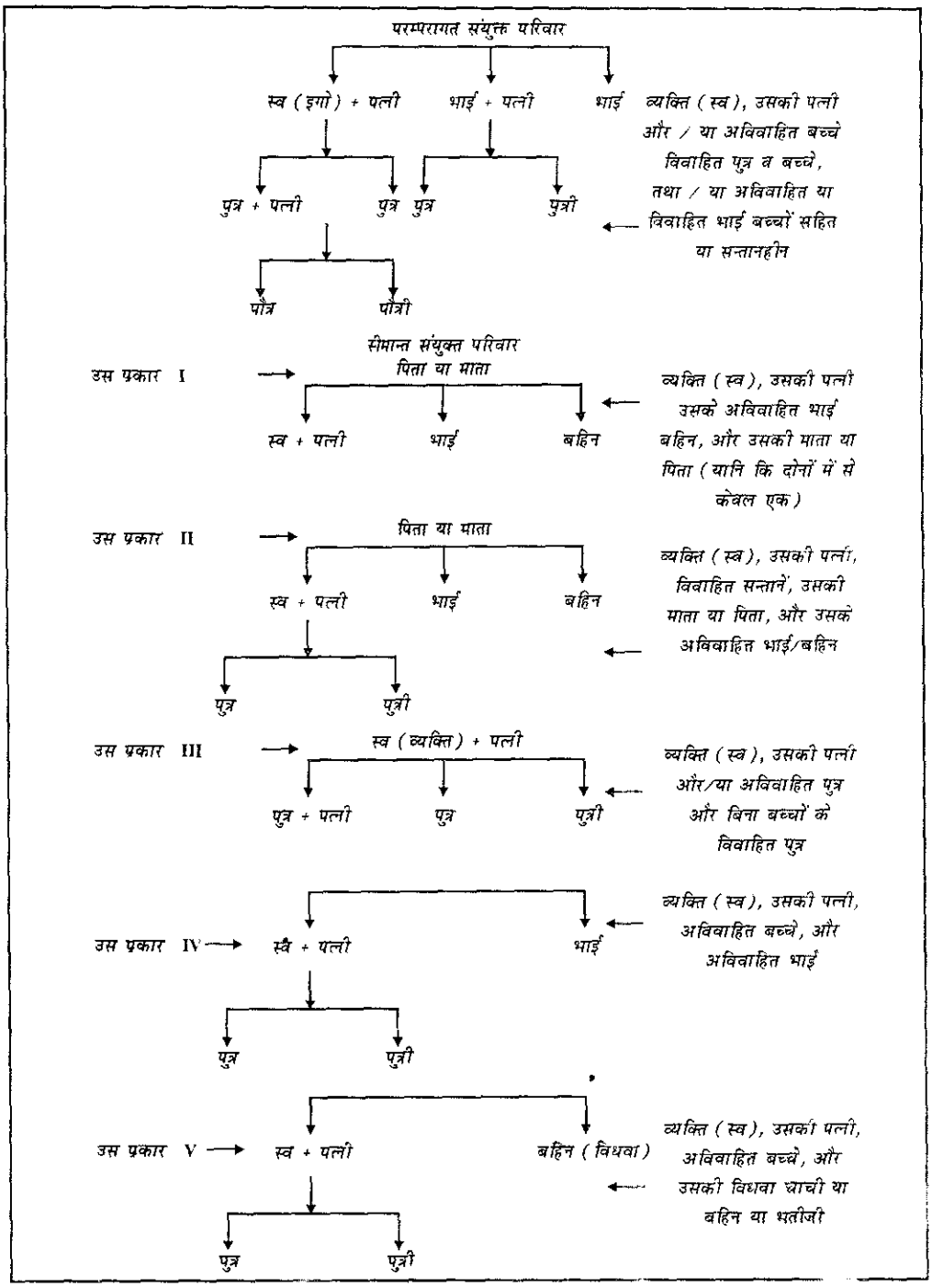


रेखाचित्र - ,

अन्य परिवारों के साथ सम्बन्धों तथा संयुक्तता की सीमा के आधार देसाई (वही: 157–61) ने परिवारों को पांच प्रकार से वर्गीकृत किया है: (1) एकाकी परिवार, जो कि कार्य तथा निवास की दृष्टि से अलग होता है; (2) प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार, जो आवासीय अर्थ

में एकाकी होता है, किन्तु अन्य परिवारों के साथ पारस्परिक दायित्वों की पूर्ति के अर्थ में संयुक्त होता है, (3) प्रकार्यात्मक और सत्तामूलक (substantively) संयुक्त परिवार, जो कि आवासीय दृष्टि से एकाकी होता है परन्तु सम्पत्ति, कार्य की दृष्टि व पारस्परिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति की दृष्टि से संयुक्त होता है किन्तु उसमें दो ही पीढ़ियों तक की सीमा होती है; (5) परम्परागत संयुक्त जो कि सीमान्त संयुक्त परिवार की तरह आवास, सम्पत्ति व कार्य में संयुक्त होता है, लेकिन तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्यों का होता है। निम्न चित्र 3 परम्परागत संयुक्त परिवार तथा सीमान्त संयुक्त परिवार के पांच उप–प्रकार दर्शाता है।

देसाई के वर्गीकरण में तीसरे प्रकार के सीमान्त संयुक्त परिवार को (यानि की व्यक्ति (स्व) पत्नी, अविवाहित सन्तान, और बिना सन्तान के विवाहित पुत्र) को कापड़िया ने एकाकी परिवार कहा है (1959:74)। उनकी मान्यता है कि वह परिवार एकाकी होता है जिसमें व्यक्ति, उसकी पत्नी, और उनके विवाहित या अविवाहित बच्चे हो, अर्थात् यह परिवार माता–पिता और उनके विवाहित या अविवाहित बच्चों का समूह है बशर्ते कि विवाहित बच्चों के अपने बच्चे न हों। यदि विवाहित बच्चों के भी बच्चे हों तो वह परिवार संयुक्त परिवार में बदल जाएगा। कापड़िया ने पाँच प्रकार के परिवार बताए हैं: (1) एकाकी परिवार अविवाहित पुत्रों के साथ (2) एकाकी परिवार विवाहित पुत्रों के साथ (3) समरेखीय (lineal) संयुक्त परिवार (4) भिन्न शाखाई (colateral) संयुक्त परिवार और (5) विधवा बहिन के साथ और/या उसके बच्चों के साथ (यानि कि आश्रितों के साथ) परिवार।

कापड़िया द्वारा दर्शाए गए उपरोक्त वर्गीकरण में दूसरे प्रकार का एकाकी परिवार (जिसे देसाई ने सीमान्त संयुक्त परिवार कहा है) ऐलिन रास के द्वारा लघु संयुक्त परिवार कहा गया है। रास (1961:34) ने चार प्रकार के परिवार बताए हैं : (1) बड़ा संयुक्त परिवार जिसमें तीन या चार पीढ़ियां एक साथ, एक ही घर में रहती हों, एक ही रसोई में भोजन बनाती हों, साझी सम्पत्ति की मालिक हों और सभी खर्चे के लिए आमदनी इकट्ठी हों, (2) लघु संयुक्त परिवार जिसमें माता–पिता, विवाहित पुत्र व अविवाहित बच्चे या दो भाई अपनी पत्नी व बच्चों के साथ रहते हों; (3) एकाकी परिवार जिसमें माता या पिता दोनों अविवाहित बच्चों के साथ रहते हों; और (4) एकाकी परिवार के आश्रितों के साथ, यानि कि माता–पिता, उनकी अविवाहित सन्तान और एक या अधिक आश्रित सदस्य। रास ने लघु संयुक्त परिवार के तीन उप प्रकार बताए हैं:

(1) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे व विवाहित पुत्र बिना बच्चों के,

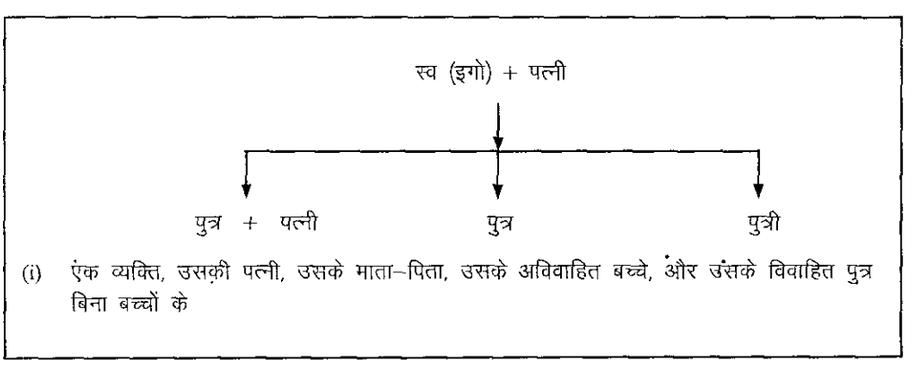


(i) एंक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके माता–पिता, उसके अविवाहित बच्चे, और उसके विवाहित पुत्र बिना बच्चों के

**रेखाचित्र–4 (i)**

(2) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके माता–पिता, उसके अविवाहित बच्चे, और उसके विवाहित पुत्र बिना बच्चों के,

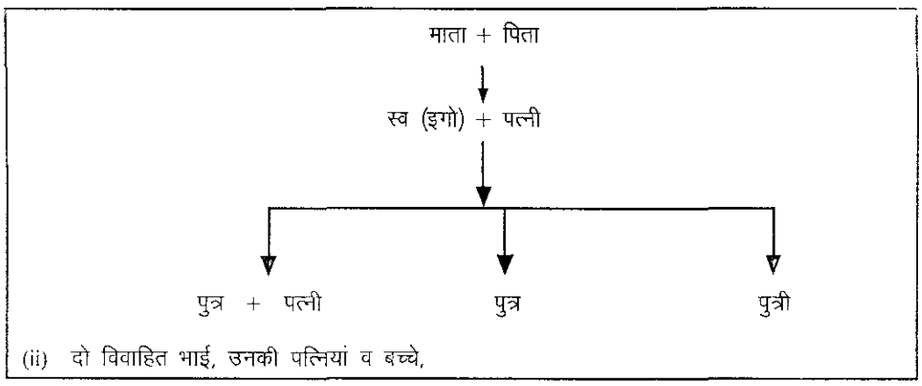


रेखाचित्र–4 (ii)

(3) दो विवाहित भाई, उनकी पत्नियां व बच्चे,

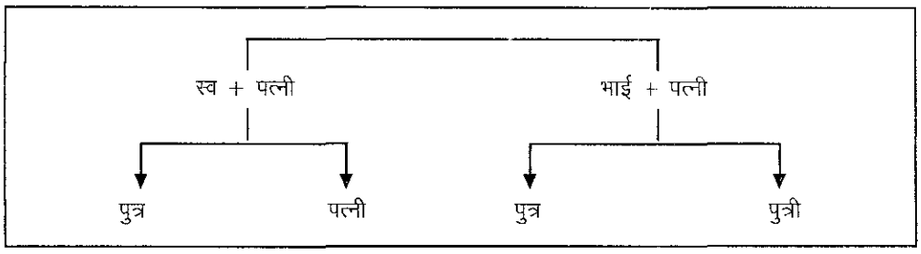


रेखाचित्र–4 (iii)

रास के अनुसार, एक बड़े संयुक्त परिवार में एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, माता–पिता, अविवाहित बच्चे, विवाहित बेटे व उनके बच्चे या बिना बच्चे वाले, तथा उसके विवाहित या अविवाहित भाई सम्मिलित होते हैं।

उपरोक्त सभी वर्गीकरण यह दर्शाते हैं कि संयुक्त परिवार की धारणा के प्रति विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इन सभी के विचारों को मिलाकर कहा जा सकता है कि "संयुक्त परिवार एक वंशक्रम (geneologically) रूप से संबंधित एकाकी परिवारों की बहुलता (multiplicity) है जो निवास और रसोई की दृष्टि से इकट्ठे रहते हों तथा जो एक ही व्यक्ति की सत्ता के अन्तर्गत कार्य करे हों।" धीरेन्द्र नारायण (1975:2) ने इसे "दो या अधिक सह–निवासी व सहभोगी नातेदारी इकाइयाँ" बताया है। एम.एस. गोरे (1968: 6–7) का मानना है कि संयुक्त परिवार की व्याख्या में सही दृष्टिकोण यह है कि इसे एकाकी परिवारों की बहुलता मानने के स्थान पर इसे पुरुष सहसम्पत्ति भागिया (coparceners) तथा उनके आश्रितों का परिवार माना जाये, क्योंकि पहली दृष्टि से वैवाहिक संबंधों पर बल दिया जाता है जबकि दूसरी दृष्टि से संयुक्त परिवार में माता–पिता व उनकी संतान एवं भ्रातृ सुलभ (filial and fraternal) संबंधों पर बल देना अधिक तर्क–संगत है।

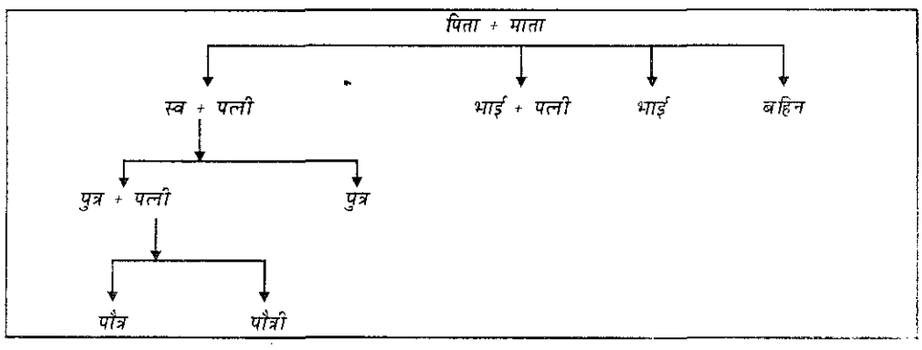


रेखाचित्र–5

एम.एस. गोरे (वही: 4) के अनुसार एक आदर्श रूप से संयुक्त परिवार में एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उनके अविवाहित [illegible] उनके वयस्क

पुत्र व उनकी पत्नियाँ एवं बच्चे सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के परिवार को ''संतानज एवं भ्रातृक संयुक्त परिवार'' भी कह सकते हैं। इस प्रकार के परिवार की दो विविधताएँ हो सकती हैं: (1) एक केवल माता–पिता व पुत्र–पुत्री का संयुक्त परिवार और दूसरा केवल भ्रातृक सम्बन्धों (fraternal) का संयुक्त परिवार। इन तीनों को चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है:

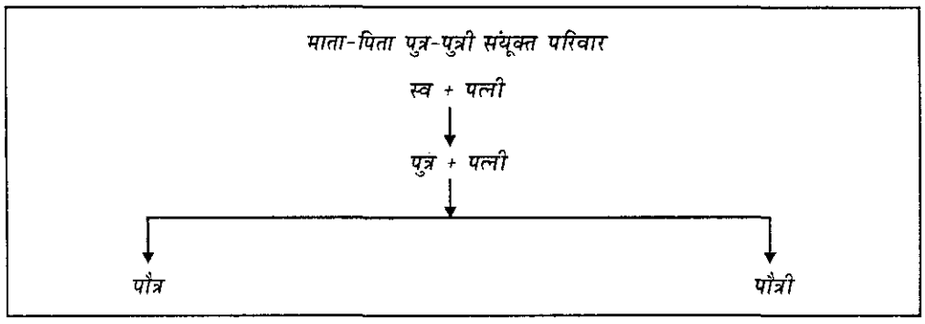


रेखाचित्र–6 (i)

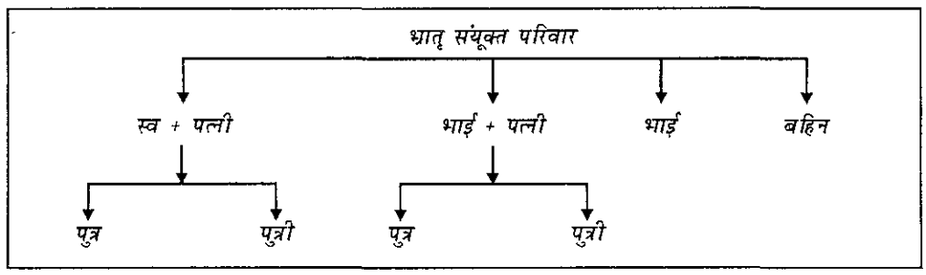


रेखाचित्र–6 (ii)

गोरे (वही: 94) ने दो प्रकार के मूल परिवार तथा एकाकी और संयुक्त और प्रत्येक के तीन उप–प्रकारों की ओर संकेत किया है। एकाकी परिववार के तीन उप भेद हैं : (1) पति, पत्नी व अविवाहित बच्चे (2) पति, पत्नी, बच्चे और अविवाहित (बिना कमाने वाले) भाई (3) पति, पत्नी, बच्चे, तथा विधवा माता या अन्य आश्रित जो सह–सम्पत्ति भागी नहीं हैं। संयुक्त प्रकार के तीन उप भेद इस प्रकार हैं : (1) पति, पत्नि, विवाहित व अविवाहित बच्चे (समरेखीय संयुक्त परिवार) (2) पति, पत्नी, विवाहित अविवाहित बच्चे व अविवाहित भाई (भ्रातृक संयुक्त परिवार) (3) पति, पत्नी, विवाहित पुत्र, विवाहित भाई और उनके परिवार (समरेखीय और भ्रातृक संयुक्त परिवार)।

मेरा तर्क यह है कि भारतीय परिवार का संरचनात्मक आदर्श पश्चिमी परिवार के आदर्श से बिल्कुल भिन्न हैं। भारत में चूँकि आदि परिवार की संरचना वही थी जिसे आज ''संयुक्त परिवार'' कहा जाता है, अत: हमें इस परिवार को मूल परिवार की इकाई के रूप में समझना चाहिए और इसे ''परम्परागत'' परिवार की संज्ञा देनी चाहिए, जबकि ''एकाकी'' परिवार को ''विखण्डित'' (fissioned) परिवार कहा जाना चाहिए, अर्थात् वह परिवार जो अपनी पैतृक इकाई से पृथक् हो गया है। आवासीय पृथक्करण के बाद भी यह अपने पैतृक इकाई पर निर्भर रह सकता है या फिर पूर्णरूपेण स्वतंत्रा इकाई के रूप में भी कार्य कर सकता है। ''संयुक्त'' शब्द केवल तभी उपयुक्त होगा जब हम ''एकाकी'' परिवार को मूल परिवार इकाई मानें और इस प्रकार से दो एकाकी इकाईयों के समन्वय से एक नये परिवार की धारणा सामने आती है। लेकिन यह ज्ञात होनें पर कि ''एकाकी'' परिवार हमारी मूल इकाई नहीं है, यह आवश्यक है कि ''परम्परागत'' परिवार को ही मूल परिवार इकाई मानें और अन्य स्वरूपों को इसी सन्दर्भ में समझें।

भारतीय समाज में सामान्य प्रथा यह है कि नव दम्पत्ति एक स्वतंत्र आत्मनिर्भर घर में वैवाहिक जीवन प्रारम्भ नहीं करते, बल्कि पति के माता–पिता के साथ प्रारम्भ करते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी समाज में भले ही पुरुष व उसकी पत्नी दोनों में से किसी के भी माता–पिता के साथ एक ही छत के नीचे वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करें (जो कि मकानों की कमी के कारण कभी–कभी होता है), लेकिन इसको वे लोग आपातकालीन व्यवस्था मानकर ही स्वीकार करते हैं और इस व्यवस्था को वे अस्थाई ही मानते हैं। जैसे ही सम्भव होता है वे अपना स्वतंत्र ''घर'' (household) स्थापित कर लेते हैं। यदि किसी कारणवश वे इसमें असमर्थ रहते है और यदि आने वाले महीनों में वैवाहिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तो सर्वप्रथम वे अपने माता–पिता के ''घर'' से पृथक् हो जाएँगे। संरचना के उपरोक्त आदर्श के आधार के कारण परिवार के वर्गीकरण का हमारा आधार न तो घर के सदस्यों की संख्या ही होना चाहिए (जैसा बोमैन ने किया था) और न ही व्यक्तिगत सदस्यों की क्रियाओं का अभिमुखीकरण (orientation) (जैसा आई.पी. देसाई ने किया था) बल्कि निवास, निर्भरता और नातेदारी सम्बन्धों की विस्तृत (range) को एक साथ मानकर ही परिवारों का वर्गीकरण करना चाहिए। इस आधार पर हम परिवारों को दो समूहों में वर्गीकृत

कर सकते हैं: ''परम्परात्मक'' और ''विखण्डित''। प्रथम समूह को तीन उप विभागों में भी वर्गीकृत किया जा सकता है: विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार (large range kinship family), मध्यम परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार (intermediate range kinship family), तथा लघु परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार (small range kinship family)। द्वितीय समूह को आश्रित (dependent) परिवार और अनाश्रित (idependent) परिवार में विभाजित किया जा सकता है।

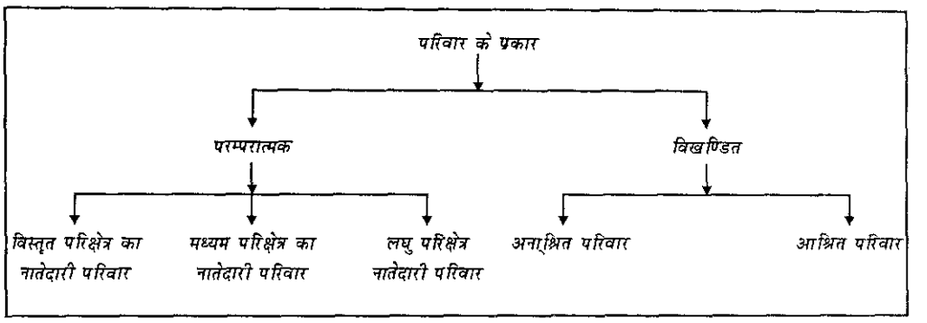


रेखाचित्र–7

विखण्डित अनाश्रित परिवार (fissioned independent family) वह है, जिसमें पति, पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते है, जिसमे परिवार का मुखिया न तो किसी रिश्तेदार के अधिकार पर आश्रित है और न ही उन पर आर्थिक रूप से आश्रित होता है; और विखण्डित आश्रित परिवार (fissioned dependent family) वह होता है जहाँ सदस्य (पति, पत्नी, और अविवाहित पुत्र व पुत्रियाँ) अलग घर में रहते हैं, लेकिन या तो कार्यों की दृष्टि से या सम्पत्ति की दृष्टि से अपने नातेदारों (पिता, भाई, दादा, आदि) पर निर्भर रहते है। यह इकाई एक जीवित कुलपिता (patriach) की सत्ता के अधीन भी होती है।

परम्परागत परिवारों में विस्तृत परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में चार प्रकार के स्वजन/ नातेदार होते हैं: प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक तथा दूरस्थ। यों भी कहा जा सकता है कि विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार वह है जिसमें कम से कम दो सगोत्री निकट की पीढ़ियों के प्रत्येक भाई के जनन परिवार (family of orientation) के हों (जैसे चित्र 8 (ii) में ''अ'' और ''ब'' द्वितीय पीढ़ी में तथा ''क'' और ''न'' तृतीय पीढ़ी में और माता पहली पीढ़ी में दर्शाये गए हैं।) ऐसे परिवार का उदाहरण वह परिवार है जिसमें दो विवाहित भाई होंगे। (जैसे चित्र 8(ii) में ''अ'' और ''ब''), उनके माता–पिता, पत्नी, और विवाहित पुत्र (''क'' और ''न'') तथा अविवाहित पुत्र (''ख'' और ''प'') और अविवाहित पुत्रियाँ (''ग'' और ''म'') तथा अविवाहित पौत्र (''ट'' और ''र'') तथा पौत्रियाँ (''त'' और ''ल'')। चित्र 8(प) में चार प्रकार के स्वजन/ नातेदार इस प्रकार सम्मिलित होंगे:

प्राथमिक– पति/ पत्नी/ पिता/ माता/ भाई/ बहिन/ पुत्र/ पुत्री

द्वितीयक– पिता का पिता/ पिता के भाई/ भाई के लड़के/ पुत्र के लड़के/ भाई की पत्नी/ पुत्र की पुत्री/ पिता की बहिन।

तृतीयक– पिता के पिता के पिता/ पिता के पिता के भाई/ पिता के भाई के पुत्र/ भाई के पुत्र के पुत्र/ पुत्र के पुत्र के पुत्र

दूरस्थ– पिता के पिता के भाई का पुत्र/ पिता के पिता के भाई के पुत्र का पुत्र

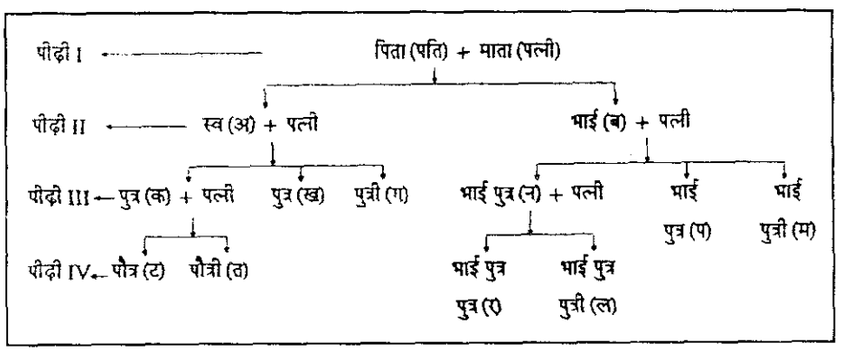


रेखाचित्र– 8(i)

विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परम्परात्मक परिवार

मध्यम परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में तीन प्रकार के स्वजन/ नातेदार (kins) होते हैं: प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक। यों कहा जा सकता है कि यह वह परिवार है जिसमें वरिष्ठ पीढ़ी के एक व्यक्ति का परिवार (जैसे चित्र 8 (ii) में ''क'' का परिवार) और निम्न पीढ़ी में कम–से–कम एक व्यक्ति का परिवार (जैसे चित्र 8 (पप) में ''अ'' का परिवार) सम्मिलित होता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति (स्व Ego) ''क'', उसकी पत्नी (ख), अविवाहित पुत्री (द), अविवाहित पुत्र (स) और, विवाहित पुत्र (''अ'' और ''ब'') और उनकी पत्नियाँ व बच्चे (''म'' और ''न'') के साथ।

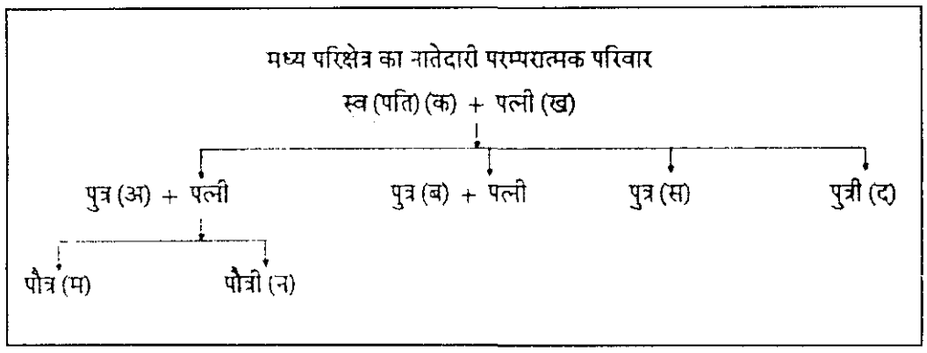


रेखाचित्र–8 (ii)

मध्य परिक्षेत्र का नातेदारी परम्परात्मक परिवार

लघु परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में केवल दो प्रकार के नातेदार होते हैं–प्राथमिक और द्वितीयक। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इसमें एक ही पीढ़ी के दो सम्बन्धित परिवार होते हैं (जैसे ''ग'' परिवार) या सात्मीय (adjacent) पीढ़ियों के दो परिवार होते हैं (जैसे ''ख'' परिवार)। उदाहरण के लिए दो विवाहित भाई (जैसे चित्र 8 (iii) में ''ग'' परिवार के दो भाई ''अ'' और ''ब ') अपने माता–पिता और बच्चों के बिना; या स्व (इगो), उसकी पत्नी, अविवाहित पुत्र, और विवाहित पुत्र अपनी सन्तान के साथ (उदाहरणार्थ, चित्र 8 (iii) में परिवार ''ख'')।

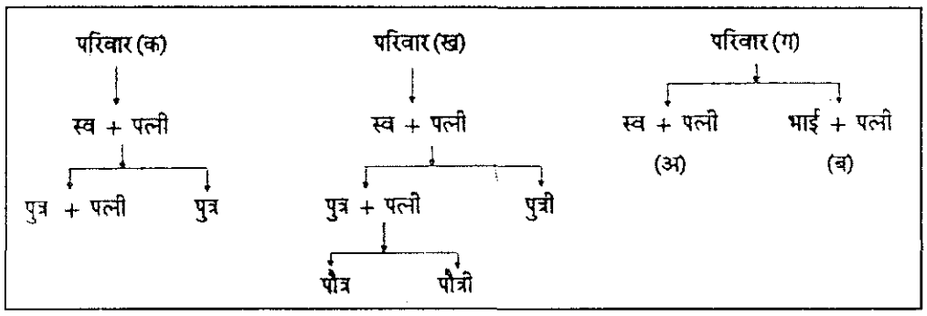


रेखाचित्र–8 (iii)

इस प्रकार, परिवारों के हमारे वर्गीकरण में पीढ़ियों का विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक या दो पीढ़ियों के परिवार भी संयुक्त परिवार हो सकते हैं (जैसे चित्र 8 (ii) में लघु परिक्षेत्र के नातेदारी परिवारों में परिवार ''ग'' और परिवार ''क'' से स्पष्ट है।)

## परम्परागत परिवार की विशेषताएँ (Characteristics of Traditional Family)

परम्परागत (संयुक्त) परिवार के कुछ प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं:

1. **सत्तात्मक संरचना (Authoritatian Structure)**: सत्तात्मक का यहाँ अर्थ है कि निर्णय तथा निश्चय करने की शक्ति एक व्यक्ति में होती है जिसकी आज्ञा का पालन बिना चुनौती के होना चाहिए। प्रजातंत्रीय परिवार में सत्ता जबकि एक या एक से अधिक लोगों में निहित होती है जिसका आधार दक्षता और योग्यता होता है, सत्तात्मक परिवार में परम्परा से सत्ता आयु एवं वरिष्ठता के आधार पर सबसे बड़े पुरुष के पास ही होती है। परिवार का मुखिया अन्य सदस्यों को थोड़ी ही स्वतंत्रता प्रदान करता है और निर्णय करने में वह भले ही अन्य सदस्यों की राय जाने या न जाने उसका निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है। लेकिन जनतंत्रीय

परिवार में मुखिया का कर्त्तव्य होता है कि वह अन्य सदस्यों की सलाह ले और कोई भी निर्णय करने से पहले उनकी भावनाओं को महत्त्व प्रदान करे।

2. **पारिवारिक संगठन (Familistic organization)**: इसका अर्थ है कि व्यक्ति के हितों का पूरे परिवार के हितों के समान होता है, अर्थात् परिवार का लक्ष्य ही व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए, जैसे यदि अच्छा स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद अध्ययन जारी रखना चाहता है परन्तु यदि उसे परिवार के व्यापार को देखने के लिए दुकान पर बैठने का कहा जाय तो उसे परिवार के आगे अपने हितों की अनदेखी करनी होगी।

3. **आयु और संबंधों के आधार पर सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण (Determination of status of members by their age and relationships)**: परिवार के सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण उनकी आयु और संबंधों द्वारा निश्चित होता है। पति का पद पत्नी से ऊँचा होता है। दो पीढ़ियों में ऊँची पीढ़ी वाले व्यक्ति की प्रस्थिति निम्न पीढ़ी के व्यक्ति की प्रस्थिति से अधिक ऊँची होती है। लेकिन उसी पीढ़ी में बड़ी आयु वाले व्यक्ति की प्रस्थिति कम आयु वाले व्यक्ति की प्रस्थिति से ऊँची होती है। पत्नी की प्रस्थिति उसके पति की प्रस्थिति से निश्चित होती है।

4. **सन्तान तथा भ्रातृक संबंधों की दाम्पत्य संबंधों पर वरीयता (Filial and fraternal relationship gets preference over conjugal relationship)**: रक्त सम्बन्धों को वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है। दूसरे शब्दों में पति–पत्नी के (conjugal) सम्बन्ध, पिता–पुत्र (filial) या भाई–भाई (fraternal) सम्बन्धों की अपेक्षा निम्न माने जाते हैं।

5. **संयुक्त दायित्वों के आदर्श पर परिवार का कार्य संचालन (Family functions on the ideal of joint responsibility)**: परिवार संयुक्त परिवार के उत्तरदायित्वों के आदर्शों के आधार पर कार्य करता है। यदि पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिए ऋण लेता है तो उसके पुत्रों का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह उसकी वापसी का प्रयत्न करें।

6. **सभी सदस्यों के प्रति समान बर्ताव (All members get aequal attention)**: परिवार के सभी सदस्यों पर समान दिया जाता है। यदि एक भाई के पुत्र को 4000 रुपये मासिक आय के साथ एक खर्चीले कन्वेन्ट स्कूल में प्रवेश दिलाया तो दूसरे भाइयों के (कम मासिक आय वाले) पुत्रों को इन्हीं सुविधाओं के साथ अच्छे स्कूल में पढ़ाया जाएगा।

7. **वरिष्ठता के सिद्धान्त के आधार पर सत्ता–निर्धारण (Determination of authority on the principle of seniority)**: परिवार में (स्त्री–पुरुषों, पुरुषों–पुरुषों, स्त्रियों–स्त्रियों के) बीच के सम्बन्धों का निर्धारण वरीयता क्रम के अनुसार निर्धारित होता है। यद्यपि सबसे बड़ी आयु का पुरुष (या स्त्री) किसी दूसरे को सत्ता सौंप सकते हैं, लेकिन यह भी वरीयता के सिद्धान्त पर ही होगा जिससे व्यक्तिवाद की भावना विकसित न हो सके।

## परिवार का बदलता स्वरूप (Changing Family Pattern)

अब हम यह देखेंगे कि हमारे समाज में संयुक्त परिवार में किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है। क्या यह टूट रहा है?

## परिवर्तन की प्रगति (Nature of Change)

मेरी मान्यता है कि परिवार की संयुक्तता (अर्थात् सह–निवासी व सह–भोगी नातेदारी समूह) अदृश्य नहीं हो रही है और उस स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है जब कि भारत के लोगों के मस्तिष्क में संयुक्त परिवार की धारणा पूर्णतः विलुप्त हो जाएगी। परन्तु संयुक्तता की 'संबंध विच्छेदन प्रवृत्ति' में बदलाव आ रहा है। विस्तृत संयुक्त परिवार की अपेक्षा अब छोटे क्षेत्र में कार्य करने वाले पीढ़ियों तक का ही परिवार होगा। साथ ही अधिकांश ऐसे एकाकी परिवार जिनमें एक व्यक्ति, उसकी पत्नी और अविवाहित बच्चे आ हैं, प्रकार्य की दृष्टि से अपने प्राथमिक नातेदारों के साथ (जैसे भाई, पिता आदि) संयुक्त बने रहेंगे।

## परिवर्तन सम्बन्धी आनुभाविक अध्ययन (Empirical Studies on Change)

इस सन्दर्भ में विभिन्न आनुभविक अध्ययन क्या इंगित करते हैं? इन अ का विस्तीर्ण निष्कर्ष तो यह है कि पुरातन शैली के (जिनमें अनेक परिवार इकट्ठे रहते थे) की संख्या सामान्य अनुपात से कम है। 1951 के जनगणना कमिश्नर ने पाया कि घरों का एक बड़ा अनुपात (33% गाँवों में तथा 38% शहरों में) मूल रूप से यह इंगित करता हैं कि देश की परम्पराओं के अनुसार अब संयुक्त नहीं है और संयुक्त परिवार से टूटने और अलग घर स्थापित करने की प्रवृत्ति दिनों–दिन बढ़ती जा 1950 के के दशकों के बीच देश के विभिन्न भागों में किए गए अनेक समाजशास्त्रिय अध्ययनों से पता चलता है कि पुरातन शैली का संयुक्त परिवार

अब शायद ही कहीं और कभी ही मिले तथा संयुक्तता की प्रकृति अब ''सह–निवास'' से मात्र ''दायित्व निभाने'' में परिवर्तित हो रही है। यहाँ हम भारतीय परिवारों में होने वाले परिवर्तनों का दो दृष्टि से विश्लेषण करेंगे: संरचना में परिवर्तन और अन्तः व्यक्तिगत सम्बन्धों में परिवर्तन।

## संरचना में परिवर्तन (Change in Structure)

भारत में परिवार की संरचना में परिवर्तनों के विश्लेषण में किए गए अध्ययनों में से हम यहाँ कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों जैसे आई.पी.देसाई, के. एम.कापड़िया, एलिन रास, एम.एस. गोरे, ए.एम. शाह और सच्चिदानन्द आदि के सर्वेक्षणों का ही विवेचन करेंगे।

आई.पी. देसाई ने (1964:21) गुजरात के महुवा नगर के 423 परिवारों का 1955–57 में अध्ययन किया था, जहाँ 25,000 जनसंख्या थी और 4800 घर थे। कुल जनसंख्या में से 78% हिन्दू थे और 22% मुस्लिम थे। पीढ़ी विस्तार के आधार पर 423 परिवारों के निदर्श (sample) में उन्होंने पाया कि 4.02% परिवार एक पीढ़ी के एकाकी परिवार थे, 57.45% दो पीढ़ी के एकाकी परिवार थे, 32.68% तीन पीढ़ी के संयुक्त परिवार थे, और 5.67 % चार या उससे अधिक पीढ़ी के संयुक्त परिवार थे। दूसरे शब्दों में 61.47 % परिवार एकाकी और 38.53% संयुक्त थे। ये आँकड़े यह प्रकट करते हैं कि संयुक्तता (jointness) की अपेक्षा एकाकिता (nuclearity) अधिक मात्रा में मौजूद है।

कुल 423 परिवारों का वर्गीकरण संयुक्तता के स्तर पर तथा दूसरे परिवारों के साथ सम्बन्धों के आधार पर करे हुए देसाई (वही: 69) ने पाया कि लगभग आधे परिवार निवास, सम्पत्ति तथा कार्य प्रणाली (functioning) के आधार पर संयुक्त थे, जब कि एक तिहाई केवल कार्य प्रणाली के आधार पर ही संयुक्त थे। 4.96% प्रकरणों में संयुक्तता शून्य थी, 26.48% में निम्न (low) संयुक्तता) आपसी दायित्वों तक ही सीमित थी। (17.02% में उच्च (High) संयुक्तता (आपसी दायित्वों और सम्पत्ति में) थी, 30.26% में उच्चतर (higher) संयुक्तता (अथवा सीमान्त संयुक्तता थी यानी निवास, (तीन पीढ़ियों से कम) पारस्परिक उत्तरदायित्व और सम्पत्ति में) और 21.28% में उच्चतम (highest) संयुक्तता थी। (यानि कि परम्परागत संयुक्तता अथवा निवास (तीन या अधिक पीढ़ियाँ), पारस्परिक उत्तरदायित्व और सम्पत्ति में संयुक्तता थी।)

इस प्रकार देसाई ने (1956:154–56) नगरीय परिवारों में परिवर्तन के विषय में तीन प्रकार के निष्कर्ष दिए: (1) एकाकिता (nuclearity) बढ़ रही है और संयुक्तता घट रही है तथा आवासीय एवं संगठनात्मक (acompositional) प्रकार के परिवारों में पति–पत्नी और बच्चों के समूह की प्रधानता है (2) व्यक्तिवाद की भावना नहीं पनप रही है क्योंकि जो परिवार आवासीय व संगठनात्मक रूप से एकाकी हैं, उनमें से 50% से कुछ कम परिवार उसी नगर में रहने वाले या नगर से बाहर रहने वाले परिवारों से सक्रिय रूप से संयुक्त हैं। (3) संयुक्तता के घेरे में नातेदारी सम्बन्धों की परिधि छोटी होती जा रही है। संयुक्त परिवारों में माता–पिता व पुत्रों, भाई–भाई, व चाचा–भतीजों के सम्बन्धों की प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में, समरेखीय विस्तार (linear depth) सम्बन्ध पिता, पुत्र, और पौत्रों के बीच पाया जाता है तथा भिन्न शाखाई सम्बन्ध व्यक्ति, उसके चाचा और उसके अपने भाइयों के बीच ही पाए जाते हैं।

कापड़िया (1956:112) ने भी 1955–56 में अपने किए गए अध्ययन में ग्रामीण व नगरीय परिवारों में परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उन्होंने गुजरात में सूरत जिले के एक नगर ''नवसारी'' और इस नगर के आस–पास के 15 ग्रामों का अध्ययन किया था। कुल मिलाकर उन्होंने 1345 परिवारों का अध्ययन किया था, जिनमें से 18% नवसारी नगर के और 82% उसके आस–पास के गांवों के थे।

नगर एवं ग्रामीण दोनों क्षेत्रों के परिवारों की संरचना का विश्लेषण करते हुए कापड़िया (वही, 113–15) ने पाया कि 49.1% परिवार एकाकी थे और 50.9 % संयुक्त थे। इस प्रकार कापड़िया ने परिवार के स्वरूप के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले:

1. ग्रामीण समुदाय में संयुक्त परिवारों का अनुपात (49.7%) एकाकी परिवारों के समान (50.3%) ही है। दूसरे, जब परिवार की प्रकृति जाति के सन्दर्भ में देखते हैं तो पता चलता है कि उच्च जातियों में (ब्राह्मण, बनिया, पातीदार आदि) संयुक्त परिवारों की प्रधानता है। संयुक्त और एकाकी परिवार का अनुपात 5:3 है। निम्न जातियों में एकाकी परिवार अधिक हैं। इनमें संयुक्त और एकाकी परिवारों का लगभग 9:11 अनुपात है। इस प्रकार उच्च जातियों में एक संयुक्त परिवार के पीछे 0.6 एकाकी परिवार है, और निम्न जातियों में हर संयुक्त परिवार के पीछे 1.2 एकाकी परिवार हैं। तीसरे, संयुक्त परिवार न केवल कृषि जातियों में (जैसे पातीदार, अनाविला, आदि) प्रधान है, बल्कि व्यावसायिक जातियों में भी हैं (जैसे बढ़ई, दर्जी, सुनार, लुहार, कुम्हार, तेली, चूड़ी वाले, आदि) जिससे पता चलता है कि यह सन्देहात्मक ही है कि संयुक्त परिवार आवश्यक रूप से कृषि अर्थव्यवस्था से ही संबंधित है।

2. नगरीय समुदाय में एकाकी परिवारों (43.5%) की अपेक्षा संयुक्त परिवार (56.5%) अधिक हैं। अनुपात में एक संयुक्त परिवार के पीछे 0.77 एकाकी परिवार आते हैं। यह तथ्य उस पूर्व धारणा के बिल्कुल विपरीत है जिसमें कहा जाता है कि बड़े नगरों में एकाकी परिवारों में अधिक लोग रहते हैं तथा परिवार की संरचना के विघटन में शहरों का अधिक प्रभाव होता है।

3. समाघात (impact) गाँवों में (यानि की ऐसे गाँव जो नगर से सात या आठ किलोमीटर की परिधि में हैं) परिवार का स्वरूप ग्रामीण परिवार के स्वरूप से मिलता जुलता है तथा नगरीय परिवार के स्वरूप से उसका कोइ मेल नहीं है (यानि कि संयुक्त और एकाकी परिवारों का अनुपात लगभग समान है)। दूसरे, जहाँ तक जाति भिन्नता को दर्शाने वाले स्वरूप का सम्बन्ध है, अन्य ग्रामों के विपरीत ''निकटस्थ व समाघात'' ग्रामों (Impact Villages) में व्यावसायिक (functional) जातियों में एकाकी परिवारा की ओर धीमी वृद्धि मिलती है और खेतिहर जातियाँ एकाकी परिवार में धीमी कमी दर्शाते हैं। यह बताना कठिन है कि यह नगर के प्रभाव के कारण है या कि जाति विविधता की अभिव्यक्ति मात्र है।

उपर्युक्त आँकड़ों के प्रकाश में कापड़िया ने दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले : (1) संयुक्त परिवार का ढाँचा एकाकी परिवार की ओर नहीं झुक रहा है (2) ग्रामीण व नगरीय परिवारों के स्वरूप में अन्तर जाति प्रथा में आर्थिक कारकों द्वारा हो रहे परिवर्तन के परिणामस्वरूप आया है।

एलिन रास (1961:303) ने एक नगरीय क्षेत्र में उच्च व मध्यम वर्गीय परिवारों में परिवर्तन के स्वरूप का अध्ययन किया था। उन्होने बंगलौर में 1957 में 157 परिवारों का अध्ययन किया था। उनके साक्षात्कारों के पात्रों से कहा गया कि वे दो अवधियों में अपने 'घरों'' (households) की रचना का वर्णन करें: अपने बचपन के काल का (time of growing up) तथा साक्षात्कार के समय का। उत्तरों से पता चला कि बचपन में साक्षात्कारों के 12.1% परिवार बृहत्–संयुक्त (large joint) थे (तीन या अधिक पीढ़ियों तक के समरेखीय व भिन्नशाखाई स्वजनों के साथ), 28% लघु संयुक्त (उंसस रवपदज) थे (यानि कि एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित सन्तान व बिना सन्तान के विवाहित पुरुष; या एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके माता–पिता, उसकी अविवाहित सन्तान और बिना सन्तान के विवाहित बेटे; या दो विवाहित भाई अपनी पत्नी और अविवाहित सन्तान के साथ), 49.1% एकाकी थे, तथा 10.8% आश्रितों सहित एकाकी (nuclear with dependent) परिवार थे। साक्षात्कार के समय उत्तरदाताओं के परिवारों की संरचना 5.1% बृहत् संयुक्त परिवार के रूप में थी, 30.6% लघु संयुक्त परिवार के रूप में, 43.3% एकाकी परिवार के रूप में, और 21.0 % आश्रितों सहित एकाकी परिवार के रूप में थी (वही: 36–37)।

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर रास (वही: 49) ने निष्कर्ष निकाला कि: (1) भारत में आज परिवारों की प्रवृत्ति परम्परागत संयुक्त परिवार से विखण्डन (break away) व एकाकी परिवार की ओर है; (2) लघु संयुक्त परिवार भारत में अब पारिवारिक जीवन का एक विशिष्ट मानक है; (3) अधिकतर लोग अपने जीवन का कुछ समय एकाकी परिवार में बिताते हैं; (4) अपने जीवन–काल में अनेक प्रकार के परिवारों में रहना इतना कठिन हो गया है कि नगर निवासियों के सामान्य क्रम के रूप में परिवार के प्रकारों के एक चक्र (Cycle) की चर्चा की जा सकती है; (5) पिता और पितामह की अपेक्षा वर्तमान पीढ़ी के लिए दूर के रिश्तेदार कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। वे उनसे मिलते भी कम हैं, उनके लिए उनमें स्नेह भी कम है, और उनके प्रति अपना उत्तरदायित्व भी कम समझते हैं; (6) नगर में रहने वाला पुत्र अपने सभी सम्बंधियों से काफी दूर हो गया है (घर में कम जगह होने के कारण तथा व्यक्तिवादिता और एकान्त पसन्द प्रवृत्ति बढ़ने से जिसके कारण आगन्तुकों का बड़े संयुक्त परिवारों की अपेक्षा कम स्वागत होता है); अतः उन पर संयुक्त परिवार की तुलना में नियंत्रण भी कम रहता है।

ए.एम. शाह ने 1955–1958 की अवधि में गुजरात में एक गाँव (राधवानाज) में 283 घरों (households) का अध्ययन किया। यह गाँव अहमदाबाद से 35 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। अध्ययन के समय इसमें 283 घर थे और 21 जातियों सहित 1,185 जनसंख्या थी। कुल घरों में से 34.3 % घर छोटे थे (तीन या कम सदस्यों वाले), 47.0% मध्यम आकार वाले थे (4 से 6 सदस्यो वाले), 15.5% वृहत थे (7 से 9 सदस्यों वाले), और 3.2 % अति वृहत् आकार के थे (10 या अधिक सदस्यों वाले)।

रचना (composition) की दृष्टि से शाह ने इन परिवारों को दो समूहों में बाँटा: सरल (simple) व जटिल (acomplex)। ''सरल परिवार'' उसे माना गया जिसमें पितृ–परिवार (parental family) सम्पूर्ण या उसका कुछ अंश सम्मिलित हो, जबकि ''जटिल परिवार'' वह हुआ जिसमें दो या दो से अधिक पितृ–परिवार या उनके अंश सम्मिलित हों। ''पितृ–परिवार''उसे कहा गया जिसमें एक व्यक्ति, उसकी पत्नी व उनके अविवाहित बच्चे हों। शाह की मान्यता है कि ''सरल परिवार'' की रचना के छः सम्भावित रूप हो सकते हैं (1) व्यक्ति और उसकी पत्नी (2) केवल पति या केवल पत्नी (3) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी और उसके अविवाहित बच्चे (4) अविवाहित भाई और बहनें (5) पिता व उसके अविवाहित बच्चे (6) माता और उसके अविवाहित बच्चे। इसी प्रकार से ''जटिल परिवार'' के तीन सम्भावित रूप हो सकते हैं (1) दो या अधिक पितृ परिवार (2) एक पितृ परिवार तथा दूसरे पितृ परिवार के कुछ हिस्से (3) एक पितृ परिवार के अश तथा दूसरे पितृ परिवार के अंश।

उक्त वर्गीकरण के आधार पर शाह ने बताया कि 68.0% परिवार उस गाँव में सरल थे व 32.0% जटिल। चूँकि शाह का सरल परिवार एकाकी परिवार का तथा जटिल परिवार संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व करता है, यह माना जा सकता है कि शाह का अध्ययन भी ग्रामीण भारत में संयुक्त प्रणाली का टूटना दर्शाता है।

रामकृष्ण मुखर्जी (1975:4) ने पश्चिमी बंगाल में 1960–61 में 4,210 परिवारों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संयुक्त परिवार की संरचना समय के साथ एकाकी परिवार में बदल रही है और संयुक्त परिवार का स्थान एकाकी परिवार द्वारा लिया जाना पहले से ही शुरू है।

एम.एस. गोरे (1968: 247–48) ने 1960 में हरियाणा में बसे या वहाँ से आए 499 अग्रवाल परिवारों (39 मुख्य निदर्श में तथा अतिरिक्त निदर्श से) का अध्ययन किया। प्रमुख निदर्श में जो परिवार थे वे पारम्परिक व्यवसायों तथा महाजनी के काम में लगे थे और अपेक्षाकृत कम शिक्षित थे। ये परिवार तीन विभिन्न खण्डों—नगर, ग्रामीण तथा उपान्त (fringe) से थे। नगर परिवार दिल्ली के थे, उपान्त परिवार दिल्ली के आस–पास के गाँवों से तथा ग्रामीण परिवार हरियाणा के रोहतक व हिसार के गाँवों से थे। अतिरिक्त निदर्श में जो परिवार थे, वे गैर–परम्परागत व्यवसायों में लगे थे, अपेक्षाकृत अधिक पढ़े–लिखे थे, और नगर क्षेत्र में रह रहे थे। इन चारों प्रकार के परिवारों (नगरीय, ग्रामीण, उपान्त व अतिरिक्त) में से प्रत्येक में से एम.एस. गोरे ने एकाकी व संयुक्त दोनों प्रकार के परिवारों को छाँटा। नगर क्षेत्र के परिवारों का गोरे ने आगे भी वर्गीकरण किया, (1) स्थानीय (जिनमें परिवार का मुखिया दिल्ली में जन्मा था) तथा (2) अप्रवासी (Immigrants) (जिनमें परिवार का मुखिया दिल्ली से बाहर जन्मा था)। अतः इन 499 परिवारों का विभाजन इस प्रकार था: शहरी स्थानीय एकाकी व संयुक्त परिवार: 50; शहरी अप्रवासी एकाकी व संयुक्त परिवार: 49; उपान्त एकाकी: 49; उपान्त संयुक्त: 51; ग्रामीण एकाकी: 48; ग्रामीण संयुक्त 52; तथा अतिरिक्त एकाकी व संयुक्त परिवार 100। इस प्रकार कुल अध्ययन किए गए परिवारों की संख्या क्रमशः 195 एकाकी व 204 संयुक्त थी। गोरे ने प्रत्येक परिवार से दो या दो से अधिक व्यक्ति साक्षात्कार के लिए चुने थे। इस प्रकार उन्होंने 1,174 व्यक्तियों का अध्ययन किया। इनमें से 490 उत्तरदाता एकाकी परिवारों से थे तथा 784 संयुक्त परिवारों से थे।

मुख्य निदर्श के 399 परिवारों को छः आधारों पर वर्गीकृत करते हुए गोरे (वही: 94–96) ने पाया कि 154 परिवार तो प्रथम श्रेणी के एकाकी थे, (व्यक्ति, उसकी पत्नी, तथा अविवाहित बच्चे), 41 एकाकी परिवार दूसरी तथा तीसरी श्रेणी के थे (या तो व्यक्ति, उसकी पत्नी, तथा अविवाहित बच्चे), 41 एकाकी परिवार दूसरी तथा तीसरे श्रेणी के थे (या तो व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे, व अविवाहित भाई, या फिर एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे, और कोई आश्रित जो सहभागी (coparcener) न हो); 137 चौथी संयुक्त परिवार श्रेणी के थे (एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे और विवाहित पुत्र); 47 संयुक्त परिवार पन्चम श्रेणी के थे (व्यक्ति उसकी पत्नी अविवाहित बच्चे, विवाहित पुत्र और अविवाहित भाई), और 20 संयुक्त परिवार छठी श्रेणी के थे (एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे, विवाहित पुत्र, अविवाहित भाई, और विवाहित भाई व उनके परिवार)। यह दर्शाता है कि दो प्रकार के परिवार सभी अन्य प्रकार के परिवारों पर छाए हुए हैं, एक तो वह जिसमें व्यक्ति, उसकी पत्नी, तथा अविवाहित बच्चे हैं (399 में से 154 या 38.6%), और दूसरे वह जिसमें व्यक्ति, उसकी पत्नी और विवाहित व अविवाहित बच्चे हैं (399 में से 154 या 38.6%), और दूसरे वह जिसमें व्यक्ति,उसकी पत्नी और विवाहित व अविवाहित बच्चे हैं (399 में से 137 या 34.3%)।

एडविन ड्राइवर (1962:112–120) ने 1958 में तत्कालीन बम्बई राज्य के नागपुर जिले में एक सर्वेक्षण किया था। उन्होंने 2,314 परिवारों से सम्पर्क किया, जिनमें से 882 नगरों में रहते थे, 309 कस्बों में, तथा 1,123 ग्रामों में रहते थे। इनमें से 93.3% हिन्दू परिवार थे तथा 6.7% गैर हिन्दू परिवार थे। 2,314 परिवारों के विश्लेषण ने दर्शाया कि नगर में 22.9% परिवार संयुक्त थे और 77.1% एकाकी, कस्बे में 24.9% संयुक्त और 75.1% एकाकी; और गाँव में 37.0% संयुक्त तथा 63.0% एकाकी थे। तीनों क्षेत्रों को (नगर, कस्बों और गाँव) एक साथ लेने पर पता चलता है कि 30.0% संयुक्त परिवार तथा 70.0% एकाकी परिवार थे (देखें, कापड़िया, 1966:297)। अतः यह कहा जा सकता है कि नगरीय क्षेत्र में एकाकी परिवार अधिक हैं और ग्रामीण क्षेत्र में संयुक्त परिवार।

परिवार के स्वरूप का आय वर्ग के सन्दर्भ में विश्लेषण करते हुए ड्राइवर ने पाया कि ग्रामीण क्षेत्रों में संयुक्त परिवार उच्च आय वर्ग में (1000 रुपये से अधिक) निम्न वर्गों की तुलना में अधिक हैं, जबकि शहरी क्षेत्रों में उच्च आय वर्ग में निम्न वर्ग की तुलना में संयुक्त परिवार कम हैं। ड्राइवर ने पीढ़ियों के अन्तर के सन्दर्भ में भी परिवार के स्वरूप का अध्ययन किया। जबकि पुरानी पीढ़ी में उन्होंने 16.03% संयुक्त परिवार व 28.48% एकाकी परिवार देखो, नयी पीढ़ी में उन्होंनें 14.0% संयुक्त तथा 41.4% एकाकी परिवार देखे। यह दर्शाता है कि बूढ़े दम्पत्तियों में सयुक्त परिवार अधिक पाए जाते (देखें, कापड़िया, 1966)।

बम्बई के यूनिवर्सिटी स्कूल आफ इकोनॉमिक्स और सोशियालॉजी ने 1957 में वृहद् बम्बई का आँकड़ा सर्वेक्षण करते समय 13,365 परिवारों के स्वरूपों का विश्लेषण किया, जिनमें से 74.8% परिवार हिन्दू थे। इन परिवारों से संबंधित आँकड़ों से पता चला कि 11.52% परिवार एकल सदस्यीय (uni-member) थे, 5.74% एक ऐसे थे, 8.04% एकाकी थे पर किसी विवाहमूलक

(affinal kin) के साथ थे, 34.02% सीमान्त संयुक्त थे, और 10.68% संयुक्त परिवार थे (देखें, कापड़िया, 1966:297–98)। यह दर्शाता है कि लगभग 75.0% परिवार संयुक्त थे और 17.2% यथार्थ एकाकी थे।

सच्चिदानन्द (1977) ने 1970 में बिहार के शाहाबाद जिले के 30 ग्रामों के 720 परिवारों का अध्ययन किया। प्रत्येक ग्राम से उन्होंने स्तरित प्रतिचयन (stratified sampling) के आधार पर 24 परिवारों का चयन किया। परिवारों को स्तरीकृत करने के लिए जिन तीन चरों (variables) का उन्होंने प्रयोग किया वे थे: जाति (दो स्तरों पर), भूमि सम्पत्ति (land-holding) का आकार (तीन स्तरों पर), तथा साझी खेती (share cropping) (दो स्तरों पर)। उन्होंने प्रत्येक स्तर समूह से दो परिवार लिए। इन परिवारों के इस निदर्श में 6,675 व्यक्ति सम्मिलित थे।

अध्ययन किए गए कुल परिवारों में से 25.8% एकाकी तथा 74.2% संयुक्त थे (एकाकी परिवारों में आश्रित भी शामिल थे)। सच्चिदानन्द ने परिवार के प्रकार तथा विविध चरों जैसे जाति, शिक्षा, भूमि–आकार, व परिवार के आकारों के बीच सम्बन्धों का विश्लेषण किया। उन्होंने पाया कि यद्यपि तीनों प्रकार की जातियों में संयुक्त परिवारों की संख्या अधिक थी—उच्च जातियों में 70.0%, मध्य जातियों में 76.0% तथा अनुसूचित जातियों में 89.0%—किन्तु आशा के विपरीत एकाकी परिवारों की संख्या उच्च जातियों में (30.0%) मध्यम जातियों (24.0%) तथा अनुसूचित जातियों (11.0%) की तुलना में अधिक थी। शिक्षा की दृष्टि से परिवारों के स्वरूप के संदर्भ में उन्होंने पाया कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ एकाकी परिवारों की प्रवृत्ति बढ़ती है। जिन परिवारों का शिक्षा स्तर मैट्रिक या उसके उपर था उनमें 39.0% परिवार एकाकी थे और जिन परिवारों का शिक्षा स्तर मिडिल या कम था उनमें एकाकी परिवार का प्रतिशत 24.0% ही था। जहाँ तक परिवार के स्वरूप तथा भूमि–सम्पत्ति का सम्बन्ध था, उन्होंने पाया कि जैसे–जैसे भूमि–आकार बढ़ता है संयुक्त परिवार की संख्या भी बढ़ती है; कम भूमि होती है तो संयुक्त परिवार भी कम होते हैं। इसके बाद उन्होंने रिश्तेदारों के विस्तार (range of kin constituents) के दृष्टिकोण से पाया कि 26.0% परिवारों में केवल प्राथमिक स्वजन थे, 62.0% में प्राथमिक व द्वितीय स्वजन थे, और 3.0% में प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक, एवं दूर के स्वजन सम्मिलित थे।

पालिन कोलेण्डा (Pauline Kolenda, 1968) ने 1950 व 1970 के दशकों के बीच किए गए 26 अध्ययनों के आधार पर घरों की रचना (composition of households) से संबंधित परिमाणात्मक (quantitative) तथ्यों (सह–निवास व सह–भोजन इकाइयों) का प्रयोग किया। इन अध्ययनों में नौ ग्रामीण, दस अलग–अलग जातियों तथा सात जिलों का सर्वेक्षण सम्मिलित था। उन्होंने पाया कि (1) यद्यपि अधिक संख्या में लोग संयुक्त व पूरक (supplemented) एकाकी परिवारों में रहते हैं, लेकिन संरचना की दृष्टि से अधिक परिवार एकाकी ही होते है; (2) संयुक्त परिवारों के अनुपात में क्षेत्रीय भेद (regional differences) स्पष्ट होते हैं, (3) संयुक्त परिवार उच्च और भूस्वामी जातियों की एक विशेषता है अपेक्षाकृत निम्न व भूमिहीन जातियों के, (4) जाति–पद (caste rank) संयुक्त परिवारों के आकार व अनुपात से अधिक संबंधित है। परन्तु कोलेण्डा की मान्यताओं पर सतर्क अनुसन्धान की आवश्यकता है।

इस पुस्तक के लेखक ने दो भिन्न अनुसन्धान प्रयोजनाओं (1976 में ''छात्रों में मादक पदार्थों का अभिशाप'' तथा 1988 में ''महिलाओ के अधिकार: एक महिलावादी परिप्रेक्ष्य'') में कार्य करते समय परिवार के स्वरूप का अध्ययन किया। प्रथम प्रयोजना में एक नगर (जयपुर) के 4181 छात्र उत्तरदाताओं का अध्ययन किया गया था जबकि दूसरी प्रयोजना में एक जिले (जयपुर) के आठ ग्रामों के 753 परिवारो का अध्ययन किया गया था। दोनों अध्ययनों से पता चलता है कि संयुक्त परिवार व्यवस्था अभी पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हुई है, यद्यपि एकाकी परिवारों की संख्या बहुत बड़ी है। 1988 के अध्ययन में 51.8% परिवार संयुक्त और 48.2% परिवार एकाकी पाए गए।

## उदीयमान प्रवृत्तियाँ (The Emerging Trends)

उपरोक्त सभी अध्ययनों (देसाई, कापड़िया, रासा, शाह, मुखर्जी, गोरे, ड्राइवर, बम्बई विश्वविद्यालय, सच्चिदानन्द, कोलेण्डा और आहूजा) को एक साथ दृष्टिगत करने पर हमारे देश में परिवार संरचना के परिवर्तन से सम्बद्ध निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

1. विखण्डित (fissioned) परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है, अर्थात् पुत्र अपने माता–पिता से अलग रहना पसन्द करते हैं, लेकिन उनके प्रति परम्परागत दायित्वों का निर्वाह करना जारी रखते हैं।
2. परम्परागत समुदायों में संयुक्तता अधिक है और बाहरी प्रभावों से प्रभावित समुदायों में एकाकिकता अधिक है।
3. परम्परागत परिवारों (अर्थात् सह–निवासी व सह–भोगी नातेदारी इकाई) का आकार छोटा हो गया है।

4. हमारे समाज में प्रकार्यात्मक (functional) प्रकार का संयुक्त परिवार तब तक बना रहेगा जब तक यह सांस्कृतिक आदर्श बना रहेगा कि एक पुरुष को अपने माता–पिता व अल्प आयु भाई–बहनों की देखभाल करनी है।

स्पष्ट रूप से यह तो बताना सम्भव नहीं है कि भारतीय परिवार में परिवर्तन कब प्रारम्भ हुए। वास्तव में परिवार व्यवस्था कभी भी स्थिर नहीं रही है और बीसवीं शताब्दी में परिवर्तन धीरे–धीरे होता रहा है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त तक ऐसी कोई भी राजनैतिक, सामाजिक, या औद्योगिक शक्ति नहीं थी जो भारतीय परिवार के स्वयं लागू किए गए एकाकीपन (isolation) को शेष विश्व के परिवारों से तोड़ सके। वस्तुतः 20 वीं शताब्दी के चौथे दशक से, विशेषतः स्वतंत्रता के पश्चात से, परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे।

अब यह कहा जा सकता है कि ''परम्परागत'' से ''संक्रमणशील'' (transitional) परिवार में होने वाले परिवर्तनों की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं: (1) नव–स्थानीय आवास (2) प्रकार्यात्मक संयुक्तता (3) व्यक्तियों में समानता (4) महिलाओं के लिए समान दर्जा (5) संयुक्त जीवन–साथी चुनाव (6) परिवार के आदर्शों/ प्रतिमानों का कमजोर होना।

## नव–स्थानीय आवास (New-Local Residence)

विवाह के बाद कुछ बच्चे अपने माता–पिता के साथ रह सकते हैं लेकिन शीघ्र ही वे अलग रहना पसन्द करते हैं। नव दम्पत्ति एवं उनके परिवार अपने कार्य–स्थान के अनुरूप अपने आवास का निर्धारण करते हैं। अतः नव–स्थानीय आवास अधिक–से–अधिक सामान्य होते जा रहे हैं। कभी–कभी ये नव–स्थानीय परिवार किसी घटनावश अपने माता–पिता के परिवार में लौट आते हैं, लेकिन अक्सर वे नहीं लौटते।

## प्रकार्यात्मक संयुक्तता (Functional Jointness)

नव–स्थानीय आवास से तृतीयक तथा दूर के नातेदारों से सम्बन्ध कमजोर तो होते हैं, किन्तु पृथक रहने वाले प्राथमिक व द्वितीयक नातेदारों से नहीं। विवाहित पुत्र अपने माता–पिता एवं भाई–बहनों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निभाना जारी रखते हैं। उनके ये सम्बन्ध न केवल कर्त्तव्यों के निर्वहन मात्र के लिए बने रहते है, बल्कि उनके प्रति श्रद्धा व स्नेह के कारण भी। नव–स्थानीय परिवारों की यह विशेषता रहती है कि वे अपने प्राथमिक व द्वितीयक रिश्तेदारों के साथ आवश्यकता पड़ने पर (बीमारी, बुढ़ापा, बेरोजगारी, आदि में) आपसी सहयोग एवं आर्थिक सहयोग करते रहते हैं।

## व्यक्तियों में समानता (Equality of Individuals)

पति, पत्नी एवं अन्य सदस्यों को समान व्यवहार देना बड़े स्तर पर वैचारिक परिवर्तन का ही एक भाग है। व्यक्तिवाद का विचार जिसमें समूह (परिवार) से अधिक व्यक्ति को दिया जाता है लगभग समस्त विश्व में बढ़ता जा रहा है। अतः परिवार में कुलपिता (patriarch) व माता–पिता अपनी सत्ता को बच्चों पर थोपते नहीं हैं, बल्कि बच्चों को अपने साधनों व लक्ष्यों के चुनाव की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। व्यक्ति की योग्यता को मान्यता प्रदान की जाती है और नये परिवार में उनकी इच्छाओं को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी अपनी उपलब्धियों से बनती है, न कि उसकी आयु और सम्बन्ध से। इस तरह हर परिवार का दर्जा हर पीढ़ी के लिए नये सिरे से निश्चित होता है।

## महिलाओं के लिए समान दर्जा (Equal Status for Women)

संयुक्त परिवारों को महिलाओं की आधीनता से जोड़ा जाता है। महिलाओं को घर के सभी कार्यों की जिम्मेदारी सौंपी जाती है और उन्हें खाना बनाने, सफाई करने, कपड़े धोने, एवं बच्चों के लालन–पालन की भूमिका में ही व्यस्त रखा जाता है। उनको मात्र यौन सहयोगी का र्जा दिया जाता है, किन्तु पत्नी के वैधानिक व अन्य प्रकार के अधिकार नहीं दिए जाते। नये उभरते हुए परिवार इसमें परिवर्तन लाने का .यास कर रहे हैं। महिलाएँ अब कुछ शक्ति प्राप्त कर रहीं हैं। इसके साथ सम्बद्ध तथ्य यह है कि बाल विवाह का स्थान वयस्क विवाह ने ने लिया है और लड़कियों में शिक्षा प्रसार भी तेजी से हो रहा है। विस्तृत होती अर्थव्यवस्था में महिलाएँ भी अब कार्य कर रहीं हैं तथा जीवन तर को उठा रहीं हैं। ऐसे परिवारों में पुरुष स्त्रियों को समान व्यवहार देने लगे हैं। यद्यपि कामकाजी महिलाओं के परिवारों में महिलाओं के लए समान अधिकार का विचार जोर पकड़ता जा रहा है, परन्तु गैर–कामकाजी महिलाओं के परिवारों में यह सब चर्चा नहीं होती है। हिलाएँ क्योंकि परिवार में कोई आर्थिक योगदान नहीं देती हैं, अतः इन परिवारों में पुरुष उनसे अधिक सम्मान की अपेक्षा करते हैं। जब तक र का कामकाज व बच्चों का लालन–पालन महिला का उत्तरदायित्व रहेगा, तब तक कोई भी परिवार व्यवस्था महिलाओं को पूर्ण बराबरी ा दर्जा प्रदान नहीं करेगी।

## संयुक्त जीवन–साथी चुनाव (Joint Mate-Selection)

''परम्परागत'' परिवार में बच्चों के विवाह उनके माता–पिता द्वारा बच्चों से सलाह लिए बिना ही तय कर दिये जाते थे। लेकिन ''संक्रमणशील'' (transitional) परिवार में जीवन साथी के चुनाव में बच्चे व माता–पिता संयुक्त रूप से निर्णय करते हैं। इस संयुक्त चुनाव में संघर्ष के अवसर कम होते हैं और नव–दम्पत्ति अपने माता–पिता से अलग गृहस्थी बसाने से पहले कुछ माह या वर्ष उनके साथ रहते है। नये परिवार में आने पर नव–विवाहित पत्नी को परिवार के अन्य सदस्यों से अधीन दर्जा मिलता है जब तक कि उसका परिवार में इतना समाजीकरण न हो जाए कि परिवार की प्रथाओं, रीति–रिवाजों का विरोध कम हो जाए। यदि नवविवाहिता अलग निवास में भी रहती है तब भी वह अपने ससुराल वालों के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह करती रहती है और इस कार्य को अधिक देती है।

## पारिवारिक प्रतिमानों का कमजोर होना (Weakening of Family Norms)

''संक्रफमणशील'' (transitional) परिवार में परिवार प्रतिमान इस सीमा तक कमजोर हो गए हैं कि अवसरों और पुरस्कारों का वितरण व्यक्ति के परिवार की सदस्यता से नहीं, अपितु उसके गुणों से निश्चित होता है। भारतीय परम्परागत परिवार की संरचना अति विशिष्टतावादी सिद्धान्त पर आधारित की गयी थी। विशिष्टतावाद (particularism) व्यक्ति की परिवार में सदस्यता के अनुसार अवसरों एवं पुरस्कारों के वितरण की व्याख्या करता है, न कि व्यक्ति के विशिष्ट गुणों या योग्यताओं के आधार पर। हमारे प्राचीन समाज में पारिवारिक सदस्यता इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि परिवार के पास ही पुरस्कार और उनके वितरण का नियंत्राण होता था। किसी व्यक्ति के रोजगार के अवसर तथा कार्य जो वह करता था उसकी परिवार में स्थित से निर्धारित होता था। श्रम–विभाजन अधिक विशिष्ट नहीं होता था और किसी भी वयस्क को किसी भी व्यवसाय के लिए काफी शीघ्रता से दक्ष (trained) बनाया जा सकता था। श्रम का यह विभाजन ''प्रकार्यात्मक विशिष्टता'' (functional specificity) में श्रम का विभाजन सम्मिलित है।

जैसे–जैसे भारत में आधुनिकीकरण प्रारम्भ हुआ, परिवार व्यवस्था की विशिष्टतावादी आवश्यकताएँ व्यावसायिक व्यवस्था की बढ़ती हुई सार्वभौमिक आवश्यकताओं से टकराने लगीं। परम्परागत प्रतिमानों की माँग थी कि बाहरी लोगों से सम्पर्क कम किए जाएँ तथा उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि बाहरी लोगों के साथ अनुबंधित (contractual) सम्बन्ध बंधनकारी नहीं हैं। जो उद्योगों के मालिक थे या उनके प्रबन्ध में लगे थे, उन्हे द्विविधा का सामना करना पड़ा। यदि वे परम्परागत प्रतिमानों का पालन करते तो उन्हें व्यापार में हानि होती और यदि वे सार्वभौमिक कसौटी का पालन करते तो वे दायित्वों का उल्लंघन करते और उनके परिवारों को कष्ट होता। अतः लम्बे अन्तराल के बाद परिवार को ही औद्योगीकरण की मांग के सामने झुकना पड़ा।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपरोक्त प्रवृत्तियाँ मात्र प्रवृतियाँ हैं। यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि परम्परागत (संयुक्त) परिवार टूट रहा है और कुलपिता या माता–पिता की प्रभुता समाप्त हो रही है। दाम्पत्य–मूलक परिवार (conjugal families) कुछ शहरी व औद्योगिक क्षेत्रों में हो सकते हैं, किन्तु उनसे पुरानी व्यवहार पद्धतियों के टूटने का संकेत नहीं मिलता। दाम्पत्य मूलक परिवारोन्मुख प्रवृत्ति अभी प्रकट होनी है। ग्रामीण समुदाय इस (दाम्पत्यमूलक) व्यवस्था से अप्रभावित है।

## विशिष्ट परिवार–स्वरूप को वरीयता देने के कारण (Causes of Preferences for Specific Family Pattern)

लोग संयुक्त (परम्परागत) परिवार या एकाकी/ खण्डित (fissioned) परिवार को क्यों पसंद करते हैं? संयुक्त परिवार को पसन्द करने का प्रथम कारण है जीवन की विविध आवश्यकताओं और उच्च जीवन मूल्य के विरुद्ध आर्थिक सुरक्षा की इच्छा। पुरातन काल में बीमारी, वृद्धावस्था, बेरोजगारी, दुर्घटना आदि से सुरक्षा परिवार, जाति, ग्राम तथा जनहितैषी व्यक्तियों (philanthropists) द्वारा चलायी गई संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती थी, लेकिन आज ग्राम तथा जाति, आदि इस प्रकार की कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करते हैं।

कुछ स्थितियों में राज्य ने यह उत्तरदायित्व विभिन्न माध्यमों के द्वारा अपने हाथों में ले लिया है, जैसे राज्य कर्मचारी बीमा योजना, वृद्धावस्था हित योजना, कामगर क्षतिपूर्ति योजना, मातृ प्रसूति हित योजना, आदि, लेकिन ये योजनाएँ कुछ ही प्रकार के औद्योगिक संस्थानों तथा कुछ निजी या सार्वजनिक संस्थानों द्वारा ही अपनाई गई हैं। यहाँ तक कि इन संस्थानों में कार्यरत सभी श्रमिकों को इन योजनाओं का लाभ नही मिलता है जब तक कि वे कुछ शर्तों को पूरा न करें। देश की कृषि पर आधारित 70% जनसंख्या के लिए इस प्रकार की कोई भी सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ नहीं हैं। इन परिस्थितियों ने हमारे समाज में व्यक्तियों को आवश्यकता के समय में सहयोग व सहायता के लिए परिवार सस्था पर ही निर्भर रहने को बाध्य किया है। द्वितीय कारण है स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता तथा उनकी नौकरी। सास–ससुर का परिवार में होने का लाभ यह है कि कामकाजी बहू की अनुपस्थिति में उसकी बच्चों की देखभाल होती रहती है। तीसरा कारण यह है कि परिवार के बड़ों के प्रति आदर व स्नेह तथा छोटों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना बनी रहती है। हमारी युवा पीढ़ी अपने वृद्धायु माता–पिता और छोटे भाई–बहनों के

प्रति ''धार्मिक'' उत्तरदायित्वों को भले ही न समझे, लेकिन वे निश्चय ही यह तो समझते हैं कि अपने नातेदारों का समर्थन करना उनका ''सामाजिक'' कर्त्तव्य तो है ही। अन्तिम कारण है कि इससे परिवार के सदस्यों की शक्ति व मान–सम्मान बढ़ता है।

दूसरी ओर एकाकी परिवार तथा पृथक् निवास के वरण के कारण हैं संघर्षों से बचना, पारिवारिक नियंत्रण से मुक्ति, तथा कुछ भी करने व कैसे भी रहने के लिए स्थान की प्राप्ति, अधिक एकान्तता (privacy), शैक्षिणिक आकांक्षाओं एवं सामाजिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के प्रयास, आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना, तथा स्वेच्छा से चुने हुए व्यवसाय के द्वारा उच्च जीवन–स्तर बनाना, आदि।

## परिवर्तन के प्रकार्यात्मक व दुष्कार्यात्मक पक्ष (Functional and Dysfunctional Aspects of change)

परम्परागत से एकाकी या संक्रमणशील या खण्डित परिवार के ढाँचे में परिवर्तन के साथ–साथ एकाकी परिवार के पक्ष तथा संयुक्तता के विपक्ष की अभिरुचि में परिवर्तन प्रकार्यात्मक तथा दुष्कार्यात्मक दोनों ही है। यह प्रकार्यात्मक इसलिए है कि प्रथमतः परम्परागत (संयुक्त) परिवार पराश्रित (parasites) एवं निकम्में (drones) लोगों को जन्म देता है। कुछ सदस्य यह सोचकर बिल्कुल काम नहीं करते कि परिवार के अन्य लोग उनको पोषण आदि देने के लिए हैं ही। ऐसा इसलिए है कि परम्परागत (संयुक्त) परिवार ''सबके लिए एक और सब एक के लिए'' के सिद्धान्त पर कार्य करता है। यदि एक व्यक्ति कुछ भी धनार्जन नहीं करता फिर भी उसका, उसकी पत्नी तथा बच्चों का परिवार उतना ही ध्यान रखता है जितना कि कमाने वाले सदस्य और उसके बच्चों व पत्नी का। अतः यदि इस प्रकार के सदस्य काम की तलाश भी करते हैं तो वह आधे मन से ही। यह स्थिति परिवार में सन्देहों, विवादों, गलत–फहमियों, और झगड़ों को जन्म देती है जिससे सदस्यों के सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध व परिवार का संगठन ही समाप्त हो जाता है। (2) द्वितीयतः, संयुक्त परिवार व्यक्तिवाद को रोकता है। युवक अपने अधिकारों एवं प्रस्थिति के प्रति सचेत हो गये हैं और परिवार के भीतर भी सम्बन्धों के पुनरावलोकन की माँग करते हैं। किन्तु परिवार के वयस्क लोग परम्पराओं में विश्वास के कारण इसको इन्कार करते हैं जिससे युवकों की कठिन परिश्रम करने तथा आगे बढ़ने की चाह कम हो जाती है। (3) तृतीयतः, संयुक्त परिवार विवादों एवं मन–मुटावों की स्थली है। जिस स्त्री का पति अधिक कमाता है वह उत्तेजित होती है, विवाद करती है, विद्रोह करती है और पृथकता की माँग करती है। परिवार में अधिकतर झगड़े संकीर्ण, सन्देह करने वाली, रुढ़िवादी, ईर्ष्यालु, अन्ध–विश्वासी, बातूनी व झगड़ालू महिलाओं के कारण होते हैं। स्त्रियों के बीच कामकाज का असमान वितरण, बच्चों का लालन–पालन तथा बुजुर्गों द्वारा स्त्रियों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार भी विवाद का कारण बन जाता है। फिर, संयुक्त परिवार की प्रति ही कुछ ऐसी है कि सदस्यों के बीच तनाव उत्पन्न हो जाता है क्योंकि या तो वे परिवार द्वारा प्रदत्त कर्त्तव्यों और भूमिकाओं के साथ सामंजस्य करने के लिए इच्छुक नहीं रहते हैं या फिर संयुक्त परिवार उन सदस्यों को समायोजित करने में असमर्थ होता है जो कि परम्परागत स्वरूप से थोड़ा हट कर चलते हैं। (4) अन्ततः, संयुक्त परिवार महिलाओं की स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है। उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है और बच्चों के लालन–पालन में उनकी कोई आवाज नहीं होती। वे दमन अनुभव करती हैं तथा भावात्मक तनावों से पीड़ित रहती है।

संयुक्त (परम्परागत) परिवार में परिवर्तन निम्न कारणों की वजह से दुष्कार्यात्मक (dysfunctional) हैं: (1) प्रथमतः, इससे भूमि के छोटे–छोटे टुकड़े हो जाते हैं जिससे कृषि उत्पादन तथा देश की राष्ट्रीय आय भी प्रभावित होती हैं। एक अनुमान के अनुसार 55 से 60% षकों के पास 5 एकड़ से अधिक भूमि है, 35 से 40% के पास 5 से 25 एकड़ तक तथा केवल 5 से 10% के पास 25 एकड़ से अधिक भूमि है। अतः 5% खेतिहर ही पूर्णतः खुशहाल है, 9% काफी अच्छे हैं और 86% बहुत बुरे हाल में हैं। संयुक्त परिवार में विखण्डन से सम्पत्ति के बंटवारे की आवश्यकता बढ़ जाती है और भूमि के छोंटे–छोटे टुकड़े होना आवश्यक हो जाता है जिससे कृषकों को वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करना लगभग असम्भव हो जाता है। इससे कृषि उत्पादन बुरी तरह प्रभावित होता है और परिवार के आर्थिक स्तर एवं समाज की आर्थिक प्रगति भी प्रभावित होती है। (2) द्वितीयतः, आवासीय संयुक्तता के विखण्डन ने हमें नकारात्मक अर्थों में प्रभावित किया है क्योंकि संयुक्त परिवार कमजोरों और वृद्धों की शरण–स्थली थी। यद्यपि सरकार ने हाल के वर्षों में वृद्धों, बीमारों, अपंगों तथा बेरोजगारों के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की हैं (जैसा कि उपर बताया गया है), फिर भी हमारे देश की जनसंख्या का एक अधिक भाग इन लाभों से वन्चित रह जाता है। इस कारण बहुत से लोग वांछित संरक्षण के लिए परिवार पर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में, संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य को ऐसा वातावरण प्रदान किया जाता है जिसमें वह अपने अस्तित्त्व की ही नहीं, बल्कि धार्मिक और मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। (3) तृतीयतः, नये उभरते हुए आवासीय एकाकी परिवार में एक व्यक्ति प्रेम, विश्वास और बलिदान के मूल्यों को विकास करने में इतना समर्थ नहीं होता है जितना कि संयुक्त परिवार में होता है। ऐसी एकीकरण की प्रक्रिया के प्रशिक्षण ने हमें वांछित जीवन अनुभव प्रदान किया है और हमारी सामाजिक परिपक्वता में वृद्धि की है जिससे हमारे व्यक्तित्त्व के विकास को अवसर मिला। इन्हीं लाभों के कारण कहा जाता है कि परम्परागत (संयुक्त) पारिवारिक जीवन बालपन में विद्यालय, यौवन में सुरक्षा कवच, वृद्धावस्था में सान्त्वना, तथा हर समय पूज्यनीय, सम्माननीय व श्रद्धास्पद संस्था है।

## परम्परागत (संयुक्त) परिवार का भविष्य (Future of Traditional (Joint) Family)

भारत में परम्परागत (संयुक्त) परिवार जल्दी समाप्त होनेवाला नहीं है। कापड़िया (1966:331) ने भी अनुभव किया है कि संयुक्त परिवार के शीघ्र टूटने की धारणा निराधार है। यह (संयुक्त परिवार) न केवल अर्ध–औद्योगिक कस्बों में ही मजबूत है, बल्कि बड़े नगरों मे संकेन्द्रित (concentrated) समुदायों में भी प्रबल है। अतः संयुक्त परिवार विघटित नहीं हुआ है, अपितु अनेक दबावों एवं तनावों के बीच से गुजर रहा है और इसका भविष्य अन्धकारमय नहीं है। विभिन्न पीढ़ियों के बीच अनेक झगड़ों के होते हुए भी आगे आने वाली पीढ़ी के लोगों में परम्परागत (संयुक्त) परिवार के प्रति अच्छी भावना है। उनमें अनुशासन के प्रति आदर, पारिवारिक कार्यों में सहयोग, तथा पारिवारिक पर्यावरण में सन्तोष की सामान्य भावना पायी जाती है।

एलिन रास (Aileen Ross, 1961:51) का मत बिल्कुल भिन्न है। उनका कहना है कि यदि पृथक् रहने वाले परिवार लम्बे समय तक एक दूसरे के निकट सम्पर्क में न आएं तो पारिवारिक दायित्व व सदस्यों के प्रति भावात्मकता की भावना कमजोर होती जाएगी और पूर्व कुलपिता (patriarch) की सत्ता टूट जाएगी। ऐसा होने पर बड़े नातेदारी समूह के साथ पहचान को बनाए रखने के लिए कुछ भी शेष बचा न रह जाएगा।

इस लेखक का मत है कि उन कारणों को उचित महत्त्व अवश्य दिया जाना चाहिए जो परिवार संरचना के स्वरूप को समय के साथ प्रभावित करते हैं। इनमें से पाँच अति महत्त्वपूर्ण कारक इस प्रकार है: (1) पुत्र विवाह और बहू का परिवार में प्रवेश, (2) वरिष्ठ पुरुष/ स्त्री सदस्य का देहान्त, (3) किसी अन्य स्थान में उच्च पद वाला कार्य मिल जाना, (4) परिवार की आर्थिक स्थिरता में बाधा उत्पन्न होना, और (5) भाइयों के संघर्ष, भाई–बहन बन्धनों में विच्छेद, तथा व्यक्ति का समरेखीय स्वजनों के प्रति दायित्वों से वैवाहिक दायित्वों की ओर झुकाव। इस प्रकार प्रत्येक परिवार में विकास चक्रफ (developmental cycle) की क्षमता होती है। यद्यपि सयुक्त परिवार भारतीय पारिवारिक संगठन का एक सांस्कृतिक आदर्श है, फिर भी परिवार को एक स्थाई इकाई के रूप में नहीं देखा जा सकता। हिन्दू/ भारतीय परिवार में क्योंकि नातेदारी के दायित्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसलिए लघु विस्तारित (small range), मध्यम विस्तारीय (intermediate range), और विस्तृत विस्तारीय नातेदारी (large range kinship) परिवार और साथ ही आश्रित तथा स्वतन्त्र एकाकी परिवार भी हो सकते हैं। अतः हम अधिक स्वतंत्र विखण्डित (independent fissioned) परिवारों की, जो नातेदारों और परम्परागत (संयुक्त) परिवार के हितों से विलग हों, कुछ दशाब्दियों के बाद भी कल्पना नहीं कर सकते, भले ही शैक्षिक एवं औद्योगिक प्रगति हमारे देश में कितनी ही क्यों न हो जाये।

## अन्तःपारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन (Change in Intra-Family Relations)

परिवार की संरचना में परिवर्तन के उपरान्त, अब हम अन्तःपारिवारिक तथा पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन का विश्लेषण करेंगे। भारत में परम्परागत (संयुक्त) परिवार विविध महत्त्व पूर्ण सम्बन्धों के चारों ओर, जैसे, बच्चों व माता–पिता के बीच तथा पति–पत्नी, सास–बहु, व भाई–भाई आदि रिश्तों के बीच संगठित था। हाल के कुछ वर्षों में इन रिश्तों में काफ़ी परिवर्तन आए हैं। इन रिश्तों के हर श्रेणी में आए परिवर्तनों का विवेचन उचित होगा।

### माता–पिता व बच्चों के सम्बन्ध (Relations Between Parents and Children)

परम्परागत परिवार में पिता व पुत्र के बीच के सम्बन्ध स्नेह की अपेक्षा भय तथा आदर पर अधिक आधारित थे। पिता के प्रति ये भाव इतने प्रबल होते थे कि एक प्रभावी बन्धन स्वयं बन जाता था। आज इस सम्बन्ध को इन बिन्दुओं के प्रकाश में देखा जा सकता है: (1) सत्ता–अधिकार, (2) समस्याओं पर विचार–विमर्श की स्वतंत्रता, (3) बच्चों द्वारा माता–पिता का विरोध, और (4) दण्ड देने के तरीके।

परम्परागत परिवार में शक्ति और सत्ता के बीच विपरीत सम्बन्ध था। सत्ता पीढ़ी, लिंग व सापेक्ष आयु पर आधारित होती थी और पुरानी पीढ़ी के वृद्ध पुरुष के हाथों में होती थी। कुलपिता (परिवार का मुखिया) वस्तुतः सर्वशक्तिशाली होता था। वह ही यह निश्चित करता था कि बच्चों को कहाँ शिक्षा दी जाये और उन्हें क्या व्यवसाय करना है। जीवन–साथी का चुनाव भी उसी के हाथ में था। वह किसी भी मामले मे बच्चों से सलाह लेने को बाध्य नहीं था। छोटों द्वारा अपने वरिष्ठ स्वजनों से बहस करना या जवाब देना बुरा व्यवहार गिना जाता था। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे अपने से बड़ों के आदेशों व कार्यों के संबंध में कोई प्रश्न नहीं करेंगे; यह आशा इस पर आधारित थी कि पूर्व [illegible] इसी पीढ़ी के किसी बड़े व्यक्ति को पूरा सम्मान दिया जाना चाहिए।

परिवार की सबसे बड़ी महिला के पास भी इतनी शक्ति होती थी कि कई मामलों में उसका निर्णय अन्तिम होता था; उदाहरणार्थ–गृह-प्रबन्धन में। कैथलीन गफ (Kathleen Gough) ने भी 1952 में तन्जौर ग्राम के अपने अध्ययन मे पाया (देखें, मैकिम मेरियट, 1955 44) कि प्रत्येक पितृवंशीय विस्तृत परिवार में सभी सदस्य सबसे बूढ़े की आज्ञा मानते हैं। डेविड मैण्डलबाम (David Mandelbaum) ने भारतीय

परिवार के विश्लेषण में बताया है (देखें, रुथ ऐंशेन, 1949:94) कि दादा मृत्यु तक सिद्धान्ततः परिवार का मुखिया बना रहता था। यह उसे अपनी पत्नी, बच्चों, छोटे भाइयों और बहनों पर पूरा अधिकार देता था; यहाँ तक कि जो सदस्य अन्यत्र चले जाते थे वे भी सिद्धान्ततः परिवार के ही सदस्य रहते थे तथा दादा के नियंत्रण में रहते थे, वह व उनके प्रतिदिन के कार्यों व मामलों की निगरानी नहीं कर पाता था। दादा की मृत्यु के बाद उसकी सत्ता परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य के हाथों में चली जाती थी। युवाओं के कुल–पिता व अपने माता–पिता के प्रति असीमित उत्तरदायित्व होते थे। क्योंकि परिवर के प्रत्येक वरिष्ठ व्यक्ति की स्थिति व पद में सुधार होता जाता था इसलिए इस व्यवस्था के विरोध का अवसर ही नहीं आता था।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि आज के शहरी व शिक्षित परिवारों में दादा की सत्ता कम होती जा रही है। सबसे बड़ा सदस्य अब कुल–पिता नहीं रहा जैसा कि दो पीढ़ी पूर्व हुआ करता था। नई विचारधारा और नये व्यवसाय चुनाव के अवसरों ने काफी अन्तर पैदा कर दिया है। सत्ता का हस्तान्तरण अब कुल–पिता से बच्चों के पिता में होता जा रहा है जो अपने बच्चों से हर मामले में, निर्णय लेने के पूर्व, सलाह लेते हैं। इस परिवर्तन के सन्दर्भ में रास (Ross, 1961$93) ने भी कहा है कि उनके अध्ययन से यह पता नहीं चलता है कि संयुक्त परिवार के जीवन में पितामह अब उतने प्रभावी नहीं हैं जितना आशा की जाती थी। उनके अध्ययन किए गए 157 प्रकरणों में से 6.3% में सत्ता दादा के हाथ में थी, 59.2% में पिता के हाथ में थी, 12.1% में मां के हाथ में थी, तथा 22.4% में सभी वयस्क संयुक्त रूप से सत्ता में थे। यह अध्ययन दादा से पिता व माता की ओर सत्ता परिवर्तन दर्शाता है।

एम.एस. गोरे ने भी 1961 में अपने अध्ययन में उत्तरदाताओं से पूछा था कि उनके परिवार में स्कूल भेजने, व्यवसाय चुनने तथा बच्चों के लिए वर वधू चुनने में किसका निर्णय माना जाता है। उन्होंने पाया कि बहुत अधिक मामलों में बच्चे निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। इस आधार पर गोरे (1968:138) ने कहा कि यह तथ्य स्पष्ट होता है कि परिवार के जिन सदस्यों के बारे में निर्णय लिया जाता है, उनमें से थोड़े से सदस्य निर्णय अपने हाथ में रखते हैं, फिर चाहे वह निर्णय व्यवसाय, शिक्षा या जीवन–साथी के चयन से सम्बंधित ही क्यों न हो।

तथापि, बच्चे अपनी समस्याओं पर अपने माता–पिता से बहस अवश्य करते हैं। गोरे ने एक सौ उत्तरदाताओं के अतिरिक्त प्रतिदर्श में पाया कि 63% बच्चे अपनी समस्याओं पर अपने माता–पिता से खुलकर विचार–विमर्श कर लेते थे, 11% बिलकुल नहीं करते थे, और 19% बातचीत करते तो थे, लेकिन अन्तिम निर्णय परिवार के सबसे बड़े पुरुष पर छोड़ते थे (वही, 153)।

कापड़िया (1966:323) ने हाईस्कूल के किशोर छात्रों के अध्ययन में पाया कि 58% उत्तरदाता भोजन के समय या अन्य किसी समय अपने माता–पिता से स्वतंत्रतापूर्वक बातचीत करते थे। अपनी समस्याओं पर खुलकर बातचीत करने की स्वतंत्रता ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में अधिक मिलती है।

मार्गरेट कारमैक (Margaret Cormack) (1969) ने भी 500 छात्रों के अध्ययन में पाया कि आज के बच्चे अधिक स्वतंत्रात हैं। वे अपने बड़ों के सामने खुलकर बोलते हैं, अपनी इच्छानुसार पैसे खर्च करते हैं, अपने वस्त्र स्वयं चुनते हैं तथा बिना किसी के साथ भी बाहर चले जाते हैं। जब उन्होंने अपने उत्तरदाताओं से पूछा कि वे अपने बच्चों का पालन–पोषण किस प्रकार करेंगे, 47% ने कहा कि उन्हें अधिक आजादी देकर, 39% ने कहा जैसे उनका स्वयं का पालन–पोषण हुआ था और केवल 3% ने कहा कि वे बच्चों को कम आजादी देंगे।

आज बच्चे न केवल अपनी समस्याओं पर अपने माता–पिता से बातचीत करते हैं, बल्कि जब कभी उनकी विचारधारा का टकराव होता है तो वे उनका विरोध भी करते हैं। कारमैक ने इस सम्बन्ध में पाया कि 55% छात्र कभी–कभी अपने माता–पिता का विरोध करते थे, 6% अक्सर, 33% कभी नहीं। आई.पी.देसाई (1953) ने भी पूना के हाई स्कूल के छात्रों के अध्ययन में पाया कि समकालीन परिवार में माता–पिता व बच्चों के सम्बन्ध काफी तनावपूर्ण हैं। लगभग 168 उत्तरदाताओं ने उन्हें बताया कि कई बार उनकी इच्छा हुई कि वे अपना घर छोड़ दें। इनमें से 117 ने इसके कारण भी दिए। 64.1% ने घर से इस कारण अलग होना चाहा क्योंकि उनके माता–पिता का उनके प्रति व्यवहार अपमानजनक, अन्यायपूर्ण एवं खराब था, 18.8% परिवार के संवेदनहीन वातावरण तथा उससे उत्पन्न तनाव के कारण, 10.2% परिवार में कलह के कारण, और 6.9% ने कुछ अन्य कारण बताए। पुरानी व नयी पीढ़ी के बीच संघर्ष के कारण थे: (1) युवा पीढ़ी में इस विश्वास के कारण कि बड़े लोग उनसे अधिकारवादी, अन्यायपूर्ण, तथा अनुचित व्यवहार करते हैं; (2) युवा पीढ़ी में इस बढ़ते विश्वास के कारण कि वे लोग अपने माता–पिता से सांस्कृतिक रूप से अधिक आगे हैं; (3) युवा पीढ़ी के इस विश्वास के कारण कि बड़ों की तुनुकमिजाजी, स्वभाव की कठोरता, बल प्रयोग व अवैध माँग के कारण उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को दबाया जा रहा है; (4) इस विश्वास के कारण कि उनकी आकाँक्षाएँ बड़े लोग पूरी नहीं करते हैं; (5) सामाजिक रीतियों और धार्मिक विश्वासों के प्रति अभिवृत्तियों में अन्तर के कारण।

बच्चों व माता–पिता के सम्बन्धों को कुछ वैधानिक उपायों ने भी प्रभावित किया है। आज माता–पिता अपने बच्चों को पैतृक सम्पत्ति से वन्चित नहीं कर सकते। 1956 के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के अनुसार बिना वसीयत किए एक हिन्दू के मरणोपरान्त उसकी सम्पत्ति उसके कुछ निश्चित उत्तराधिकारियों को मिलेगी।

सम्भवतः परिवर्तित हो रहे सम्बन्धों के कारण ही आजकल माता–पिता अपने बच्चों को दण्डित करने के लिए पुराने तरीको को नहीं अपनाते। इस सन्दर्भ में कारमैक (1969) ने पाया कि आजकल माता–पिता अपने बच्चों को दण्डित करने के जो तरीके अपनाते हैं वे हैः डाँट–फटकार, पिटाई, बाहर जाने से रोकना, मिठाई या खिलौने न दिलाना, या कमरे में अकेला छोड़ देना, आदि। रास (1961:122) ने पाया कि माता–पिता बच्चों को डाँट फटकार, तर्क या थप्पड़ के द्वारा दण्डित करते हैं।

माता–पिता व बच्चों के सम्बन्धों में इन सामान्य परिवर्तनों के अलावा आजकल माता व पुत्री के सम्बन्धों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है, क्योंकि पुत्री का विवाह अल्पायु में नहीं होता और वह अपनी माँ के साथ काफी लम्बे समय तक रहती है।

## विवाह (Marriage)

विविध संस्थाओं के अध्ययन के लिए विविध विज्ञान पृथक् सन्दर्भो का प्रयोग करते हैं। समाज वैज्ञानिकों ने भी विविध क्षेत्रों में विवाह संस्था की कल्पना विविध प्रकार से की है। विवाह के सम्बन्ध में प्रचलित विचार यह है कि यह स्त्री पुरुष के बीच का संयोग है जबकि लॉवी (Lowie), मरडॉक (Murdock) तथा वेस्टरमार्क (Westermark) जैसे मानवशास्त्रियों ने इस संयोग में सामाजिक स्वीकृति पर बल दिया है और इस तथ्य पर कि यह विविध संस्कारों एवं समारोहों द्वारा किस प्रकार सम्पन्न होता है। ब्लड, लांज और स्नाइडर, बोमन, बाबर और बर्जेस जैसे समाजशास्त्रियों का विचार है कि विवाह प्राथमिक सम्बन्धों की भूमिकाओं की एक व्यवस्था है। भारतशास्त्री (Indologists) विवाह को एक संस्कार या एक धर्म मानते हैं। परम्परागत एवं आधुनिक हिन्दू विवाह व्यवस्था का अध्ययन करने से पूर्व हम विवाह की अवधारणा एवं सामाजिक को समझने का प्रयत्न करेंगे।

### विवाह की अवधारणा (Concept of Marriage)

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है, या यह कहा जा सकता है कि जीवन अनेक भूमिकाओं का एक संयोग है जिन्हें विविध संस्थाओं के परिवेश में निभाना होता है। विविध भूमिकाओं में दो भूमिकाएँ अहम् हैंः एक है आर्थिक भूमिका और दूसरी है वैवाहिक या परिवार की भूमिका। प्रथम भूमिका निःसंदेह ही प्रमुख है क्योंकि व्यक्ति अपने जीवन का एक बड़ा भाग इसी भूमिका में लगाता है। मान लें कि व्यक्ति अपना जीविकोपार्जन 20 से 24 वर्ष की आयु में प्रारम्भ करता है और 58 से 62 वर्ष की आयु तक निरन्तर इस कार्य में व्यस्त रहता है तथा नित्य आठ या दस घण्टे अपने काम पर खर्च करता है, तो हम कल्पना कर सकते हैं कि हमारी आर्थिक भूमिका हमारा कितना समय लेती है। वैवाहिक भूमिका में भी जीवन के चालीस से पचास वर्ष व्यतीत होते हैं। किन्तु इन दोनों भूमिकाओं में से आर्थिक भूमिका की अपेक्षा वैवाहिक भूमिका ही अहम है, क्योंकि आर्थिक भूमिका में द्वितीयक सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं और वैवाहिक भूमिका में प्राथमिक सम्बन्ध।

प्राथमिक सम्बन्ध आवश्यक रूप से असीमित, विशिष्ट, भावात्मक, परमार्थवादी, एवं शाश्वत (spontaneous) होते हैं। दूसरी ओर, द्वितीयक सम्बन्ध प्रारम्भिक रूप से सीमित, प्रमाणिक (standardized), अभावनात्मक (unemotional), उपयोगितावादी और संविदात्मक (contactual) होते हैं। विवाह के प्राथमिक सम्बन्ध अन्य प्राथमिक समूहों, जैसे मित्र समूह, पड़ौस, गाँव, आदि के प्राथमिक सम्बन्धों से भिन्न होते हैं, क्योंकि वैवाहिक सम्बन्ध यौन सम्बन्धों पर आधारित होते हैं और यौन संबंध स्त्री पुरुष के बीच स्थाई तथा निकटतम सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विवाह में प्राथमिक सम्बन्ध दो महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, आवश्यकतापूर्ति तथा सामाजिक नियंत्रण। यह व्यक्ति की जैविक (यौन सन्तुष्टि), मनोवैज्ञानिक (स्नेह और सहानुभूति) और आर्थिक (भोजन, वस्त्रा एवं निवास) आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा नैतिकता एवं नीतिशास्त्र के प्राथमिक श्रोत का कार्य करता है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि उसका जीवन साथी उसके लिए कोई कार्य कर रहा है, तो वह सोचता है कि यह उसका नैतिक दायित्व है कि वह उसकी देखभाल करे या उसकी बात सुने। अतः कोई भी व्यक्ति अनैतिक तथा उत्तरदायित्वहीन नहीं है।

'विवाह' का अध्ययन करते समय एक समाजशास्त्री इसमें निहित प्राथमिक सम्बन्धों का विश्लेषण नहीं करता, बल्कि इसका भी करता है कि किस प्रकार विवाह में नयी और विभिन्न भूमिकाएँ सम्मिलित हैं, तथा क्या उन भूमिकाओं में लिप्त व्यक्ति उनके योग्य है या नहीं, तथा उन भूमिकाओं को निभाने की निर्योग्यता से किस प्रकार परिवार विघटन होता है। विवाह में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार एक साथी का भूमिका निर्वाहन दूसरे साथी की भूमिका अपेक्षाओं के कितना अनुकूल है (Blood, 1960:189)।

कूस (Koos 1953:4) के अनुसार विवाह एक विभाजन रेखा है जो कि जनक परिवार (family of orientation) तथा जनन परिवार (family of procreation) के बीच दोनों परिवारों में व्यक्ति की भूमिका के सन्दर्भ में खींची गई है। जनक परिवार में भूमिकाएँ शैशव, बचपन तथा किशोरावस्था में बदलती रहती हैं तथा उनमें उत्तरदायित्व या दायित्वबोध नहीं होता, किन्तु जनन परिवार में भूमिकाएँ विवाह के बाद, पति के रूप में, पिता के रूप में, धन अर्जनकर्त्ता के रूप में, पितामह के रूप में, तथा अवकाश प्राप्त व्यक्ति के रूप में विविध अपेक्षाओं एवं दायित्वों वाली होती हैं।

## विभिन्न भूमिकाओं से आलिप्त जनक परिवार तथा जनन परिवार में विविध अवस्थाएँ

इस प्रकार विवाह समाज व्यवस्था का सूक्ष्म प्रारूप है जिसे सन्तुलन में रहना चाहिए अन्यथा सब कुछ बिखर सकता है। सन्तुलन के लिए समायोजना की आवश्यकता होती है जो आदान–प्रदान पर आधारित होता है या पति व पत्नी दोनों से ही त्याग की अपेक्षा रखता है। यह एक युग्म व्यवस्था है। सन्तुलन बनाए रखने के लिए किसी को तो कुछ कार्य करने ही होंगे, जैसे खाना बनाने का, सफाई, कपड़े धुलाई, धन कमाने, बच्चों की देखभाल, आदि का। कौन क्या भूमिका निर्वाह करता है, यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि यह कि विवाह के स्थायित्व के लिए कोई भूमिका निभा रहा है।

विवाह में साधक (instrumental) तथा एकीकृत (integrative) नेतृत्व निहित होता है। साधक नेता कार्य को कराने से सम्बन्ध रखता है तथा समूह को लक्ष्य प्राप्त की ओर ले जाता है। एकीकृत नेता समूहों को एकीकृत करने में लगा रहता है। इस प्रकार दोनों भूमिकाएँ परस्पर विरोधी हैं, फिर भी एक–दूसरे की पूरक हैं। समाजशास्त्री विवाह के अन्तर्गत इन्हीं भूमिकाओं का अध्ययन करते हैं।

## विवाह में अभिप्रेरणाएँ (Motivations In Marriage)

सभी भूमिकाओं के पीछे कुछ अभिप्रेरणाएँ होती हैं। विवाह के पीछे क्या अभिप्रेरणा है? यह मान्यता है कि प्रारम्भिक काल में व्यक्ति विवाह इसलिए करता था क्योंकि जीवनयापन की समस्या उसके सामने थी। आर्थिक कारणों से मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता होती थी, जो न केवल उन्हें काम में मदद करें, बल्कि जब माता–पिता कार्य करने योग्य नहीं रहें तब बच्चे बीमें के समान उनके काम आ सकें। उन्हें खेतों पर काम करने के लिए अधिक स्त्रियों की आवश्यकता होती थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारम्भिक काल में विवाह में प्रेम और सहयोग नहीं था और केवल व्यावहारिक कारण ही अधिक महत्त्वपूर्ण थे। बोमैन (Bowman) के अनुसार विवाह के मूलभूत उद्देश्य हैं: यौन सन्तुष्टि, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता, सामाजिक स्थिति और सम्मान, तथा आर्थिक सुरक्षा एवं संरक्षण। पोपनो (Popenoe, 1951) ने विवाह के पाँच तत्त्व बताए हैं: यौन इच्छा, श्रम विभाजन, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता तथा आर्थिक सुरक्षा। बोमैन ने व्यक्तित्त्व सन्तुष्टि को विवाह का उद्देश्य नहीं माना है। वह कहते हैं कि यह विवाह का उद्देश्य नहीं बल्कि प्रतिफल है।

मजूमदार (1944:78) के अनुसार यद्यपि नियमित तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त यौन सन्तुष्टि विवाह का मूल कारण है, फिर भी यह एक मात्रा और अन्तिम कारण नहीं है। उन्होंने सेमा नागाओं का उदाहरण दिया है जिनमें एक बच्चा अपने पिता की विधवा (माँ के अलावा) से विवाह कर लेता है ताकि उसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर सके, क्योंकि उनके जनजातीय रिवाजों के अनुसार पुरुष की विधवा सम्पत्ति की अधिकारी होती है, न कि बच्चे। इस प्रकार मजूमदार की मान्यता है कि विवाह के उद्देश्य हैं: यौन सन्तुष्टि, बच्चों के लालन पालन के विश्वसनीय सामाजिक तरीका, संस्कृति का संक्रमण, आर्थिक आवश्यकताएं तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकार।

आज जब 'परम्परागत' समाज 'आधुनिक' समाज में बदल रहा है, विवाह के लिए इन व्यावहारिक कारणों का कम होता जा रहा है। आज विवाह के जो प्रेरक कारक माने जा रहे हैं, वे हैं एकाकीपन की भावना से छुटकारा तथा दूसरों के माध्यम से जीवित रहने का उद्देश्य। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि आज विवाह का प्रमुख उद्देश्य मित्रता या सहयोग प्राप्ति होता है। यौन सन्तुष्टि इसके क्षेत्र से परे नहीं है परन्तु यह अब मित्रता की अपेक्षा गौण हो गया है।

परम्परागत हिन्दू समाज में विवाह के उद्देश्य निम्न माने जाते थे: धर्म, प्रजा, तथा रति। इनमें से धर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है; तत्पश्चात, सन्तानोत्पत्ति तथा यौन सन्तुष्टि को। दफ्तरी (Daftri, 1948:47) ने भी कहा है कि यौन आनन्द हिन्दू विवाह का मात्र उद्देश्य नहीं माना गया है। प्रमुख उद्देश्य था धर्म अर्थात कर्त्तव्य पालन। इस प्रकार हिन्दू विवाह में व्यक्ति की रुचि का काम था। विवाह समुदाय तथा परिवार के प्रति सामाजिक कर्त्तव्य समझा जाता था।

## हिन्दू विवाह–एक धार्मिक संस्कार (Hindu marriage: a Sacrament)

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जो कि धर्म के निर्वाह के लिए किया जाता है, न कि आनन्द के लिए। हिन्दू विवाह को पवित्र मानने के

कई कारण दिए जा सकते हैं: (1) धर्म (धार्मिक कृत्यों की पूर्ति) हिन्दू विवाह का सर्वोच्च उद्देश्य था; (2) धार्मिक संस्कारों को पूरा करना, जैसे यज्ञ, कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि; (3) संस्कार अग्नि के समक्ष किए जाते हैं जिनमें ब्राह्मणों द्वारा वेदों से मंत्रोच्चार किया जाता था; (4) विवाह बन्धन अटूट समझा जाता था तथा पति पत्नी मृत्यु पर्यन्त परस्पर बन्धनयुक्त रहते थे; (5) यद्यपि पुरुष अपने जीवन में अनेक धार्मिक संस्कारों की पूर्ति करता था, किन्तु स्त्री के लिए विवाह ही एक मात्र संस्कार था; (6) स्त्रियों के कौमार्य (chastity) तथा पुरुषों की वफादारी पर बल दिया जाता था; (7) विवाह परिवार तथा समुदाय के प्रति एक सामाजिक कर्त्तव्य माना जाता था तथा व्यक्तिगत रुचियों और आकाँक्षाओं का विचार कम किया जाता था।

गत कुछ दशकों में हिन्दू विवाह अनेक परिवर्तनों के बीच से गुजरा है; तो क्या यह अब भी पवित्र है या इसे भी एक समझौता माना जाए? हिन्दू विवाह में हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हैं कि आज युवा वर्ग धार्मिक त्यों की पूर्ति के लिए विवाह नहीं करते, वरन् मित्रता के लिए करते हैं और विवाह बन्धन अब अटूट नहीं रह गए हैं, क्योंकि तलाक वैधानिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुका है। विद्वानों का मत है कि तलाक की अनुमति से विवाह की पवित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि तलाक अन्तिम उपाय के रूप में ही प्रयोग होता है न कि पुनर्विवाह के रूप में। इसी प्रकार यद्यपि विधवा विवाह को मान्यता प्रदान कर दी गई है किन्तु ऐसे विवाह विस्तृत रूप में प्रचलित नहीं हैं। परस्पर विश्वास तथा जीवन–साथी के प्रति प्रतिबद्धता आज भी विवाह के मूल तत्त्व माने जाते हैं। जब तक विवाह केवल यौन सन्तुष्टि के उद्देश्य से ही नहीं किया जाता रहेगा, बल्कि 'साथ रहने' तथा 'सन्तान प्राप्ति' के लिए किया जाएगा, तब तक विवाह हिन्दुओं के लिए धार्मिक पवित्र संस्कार बना रहेगा। विवाह में स्वतंत्रता (साथी के चुनाव की) विवाह में स्थायित्व को दृढ़ बनाती है, न कि नष्ट करती है तथा वैवाहिक व्यवहार को शुद्ध बनाती है। कापड़िया (1972:197) ने भी कहा है विवाह अभी भी धार्मिक संस्कार के रूप में जारी है, केवल नैतिक स्तर उंचा उठा है।

## विवाह के प्रकार (Types of Marriage)

प्रारम्भिक काल में हिन्दू समाज में पत्नी प्राप्त करने के आठ तरीके बनाए गए थे, जिनमें से चार उचित व वांछनीय (धर्म्य) समझे गए जिनको पिता/ परिवार की अनुमति प्राप्त थी, तथा अन्य चार अवांछनीय (अधर्म्य) माने गए जिन्हें परिवार तथा पिता की स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। स्मृतियों द्वारा मान्यता प्राप्त उपयुक्त विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष, तथा प्रजापत्य थे, जबकि चार अवांछनीय विवाह थे: असुर, राक्षस, गान्धर्व तथा पैशाच।

'ब्राह्म' विवाह माता पिता द्वारा निश्चित किया जाता है। विवाह संस्कार ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न किया जाता है तथा पिता द्वारा कन्या वस्त्र, अलंकार आदि से सम्पन्न करके दान के रूप में वर को दी जाती है। 'दैव' विवाह में कन्या के पिता द्वारा यज्ञ की व्यवस्था की जाती है और जो ब्राह्मण उसे उचित ढंग से पूरा करता था, उसी को दक्षिणा के स्थान पर कन्या अलकृंत करके दी जाती है। 'आर्ष' विवाह में कन्या का पिता वर से गाय या बैल के रूप में कुछ भेंट लेकर उसे कन्या दे देते थे। यह मात्र एक संस्कार का रूप होता है। 'प्रजापत्य' विवाह में यद्यपि माता पिता की अनुमति आवश्यक है, किन्तु संस्कार कोई नहीं सम्पन्न होता है। 'असुर' विवाह में कन्या के पिता को वर द्वारा मूल्य दिया जाता है। यह एक प्रकार का आर्थिक अनुबन्ध होता है। 'गन्धर्व' विवाह में न तो माता पिता की सहमति की आवश्यकता है और न संस्कारों या दहेज आदि की। इसे प्रेम विवाह भी माना जाता है। इसमें दोनों पक्षों की इच्छा को ही महत्त्व दिया जाता है। यौन सन्तुष्टि ही इसमे अधिक महत्त्व की बात है। 'राक्षस' विवाह में कन्या या उसके माता–पिता की सहमति के बिना कन्या को छीनकर या कपट से विवाह कर लिया जाता है। प्राचीन समय में ऐसे विवाह का अधिक महत्त्व था। उस समय जीते हुए राजा पराजित राज्यों से अनेक सुन्दर कन्याओं का हरण कर लेते थे। 'पैशाच' विवाह में सोई हुई, उन्मत्त, मदिरापान की हुई अथवा राह में अकेली जाती हुई लड़की के साथ यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक कुकृत्य करके बाद में उससे विवाह कर ले, तब ऐसे विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं।

उपरोक्त आठ प्रकार के विवाहों में 'ब्राह्म' विवाह सर्वोत्तम समझा जाता है जिसमें कन्या एक योग्य व उसी जाति या समान स्थिति वाली जाति के 'वर' को दान में दी जाती है। इस विवाह में वर व कन्या दोनों ही परिपक्व अपेक्षित होते हैं और दोनों में परस्पर सहमति होती है। इन प्रकार के अतिरिक्त 'एक विवाह' का प्रचलन भी था, यद्यपि आदिकाल व मध्य युग में कुछ बहु–पत्नी विवाह के उदाहरण मिलते हैं। महाभारत में द्रौपदी के बहुपती विवाह का एक उदाहरण भी मिलता है।

## विवाह की आयु (Age at Marriage)

सही जीवन–साथी ढूँढना तथा जीवन–साथी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्धों का विकास विवाह के महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। लड़के व लड़कियाँ हो सकता है स्वयं विवाह करना चाहते हों या फिर उनके माता–पिता उन्हें विवाह के लिए बाध्य करते हों परन्तु विवाह के लिए 'तैयार' न हों। विवाह की ''तैयारी'' से अभिप्राय है कि ''दोनों ही साथी विवाह का उत्तरदायित्व निर्वाह करने के योग्य हों।'' व्यक्ति को न केवल

जीवन–साथी का उत्तरदायित्व निभाना होता है, अपितु उसे उन दायित्वों के वहन करने की भी योग्यता होनी चाहिए जो एक दो वर्ष बाद गर्भाधान और उसके पश्चात् की समस्याओं से सम्बद्ध होती हैं। अतः विवाह में सम्बद्ध व्यक्तियों की दक्षता (skills) और साधनों (resources) का होना आवश्यक है। इसी कारण विवाह में आयु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

## प्राचीन भारत में विवाह की आयु (Marriage Age in Ancient India)

वैदिक युग में यौन–परिपक्वता के पश्चात् ही (post-puberty) विवाह का प्रचलन था (राजवलि पाण्डे, 1949)। आठवें वर्ष में दीक्षा संस्कार के पश्चात बालक को गुरु–गृह भेज दिया जाता था जहाँ उसे लगभग 12 वर्ष तक रहना पड़ता था। यह अवधि ब्रह्मचर्य के नाम से जानी जाती थी। इस प्रकार सामान्यतया विवाह के समय उसकी आयु 20 वर्ष होती थी। चूँकि पति पत्नी की आयु में आदर्श अन्तर 2 से 5 वर्ष का माना जाता था, अतः हम यह कह सकते हैं कि लड़कियों का विवाह अल्पायु (tendera age) में नहीं होता था। ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व से लड़कियों की विवाह योग्य आयु में धीमे–धीमे कमी आई और 8 से 10 वर्ष के बीच लड़कियों के विवाह की आयु की प्रवृत्ति में वृद्धि होनी लगी। ''गृहसूत्र'' में भी ''नग्निका'' (nakedness) अवस्था ही विवाह की सबसे उपयुक्त आयु मानी गई है। ऋषि पाराशर ने लड़कियों को पाँच समूहों में विभक्त किया है: आठ वर्ष से कम आयु की लड़की को उन्होंने ''नग्निका'' की संज्ञा दी, आठ वर्ष की लड़की को ''गौरी'', नौ वर्ष की लड़की को रोहिणी दस वर्ष की लड़की को ''कन्या'', और दस वर्ष से ऊपर आयु की लड़की को ''रजस्वला'' की संज्ञा दी। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि लड़की का विवाह ''नग्निका'' अवस्था में ही होना चाहिए तथा ''रजस्वला'' होने तक लड़की को अविवाहित रखने के कारण उसके माता–पिता नरक में जाते हैं। वह ब्राह्मण जो एक रजस्वला लड़की से विवाह करता है उससे न कोई बातचीत करे और न ही उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करें (काने, 1946:445)। ''धर्म सूत्र'' में भी ''नारीत्व'' (womanhood) प्राप्त करने से पूर्व ही लड़की के विवाह का विधान है। छठीं और सातवीं ए.डी. शताब्दी पश्चात, ब्राह्मण लड़कियों के आठ व दस वर्ष के बीच विवाह की आयु को सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया था (धुर्ये, 1963:62)। इस प्रकार अधिकतर शास्त्रीय विचारधारा इस बात की पक्षधर थी कि लड़की का विवाह यौन–परिपक्वता से पूर्व ही सम्पन्न होना चाहिए। इस तथ्य पर बल भी तथा प्रोत्साहन भी दिया गया।

कापड़िया (1966:140–142) के अनुसार यौन परिपक्वता पूर्व विवाह संबंधी विचारधारा के प्रादूर्भाव में तीन कारक माने जा सकते है।, जिन्हें उन्होंने ''सिद्धान्त'' भी कहा है: कौमार्य (virginity) सिद्धान्त, संस्कार (sanskara) सिद्धान्त, और स्त्री आधिपत्य (woman's dominion) सिद्धान्त। अपने प्रथम (कौमार्य) सिद्धान्त के अन्तर्गत महाभारत से अनेक घटनाओं का सन्दर्भ देते हुए उन्होंने कहा कि महाकाव्य (रामायण–महाभारत) काल में लड़कियों के लिए 'कुमारी' होना आवश्यक नहीं था, किन्तु महाकाव्येतर काल में लड़की का कौमार्य उसका सर्वोच्च गुण माना जाने लगा तथा यह सम्मान का सूचक भी बन गया। समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने तथा लड़की को कौमार्य भंग होने की सम्भावना से बचाने के दृष्टिकोण से ब्राह्मणों ने समय पूर्व विवाह के विधान की रचना कर डाली।

'संस्कार'' सिद्धान्त के अनुसार जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विभिन्न स्थितियों में अनेक धार्मिक संस्कार जीवन की शुद्धि (purification) एवं उच्च जीवन के समारंभ के लिए सम्पन्न किए जाते हैं। इन संस्कारों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है: (1) वे संस्कार जो जन्म के पूर्व एवं पश्चात् सम्पन्न किए जाते हैं, (2) वे संस्कर जो छात्र–जीवन प्रारम्भ से लेकर समाप्त होने तक की अवधि में सम्पन्न किए जाते हैं, (3) वे संस्कार जो गृहस्थ जीवन में प्रवेश के समय सम्पन्न होते हैं। प्रथम अवस्था के संस्कार गर्भाधान के समय से प्रारम्भ होकर मुण्डन संस्कार तक चलते रहते हैं। द्वितीय अवस्था के संस्कार गुरू गृह–प्रवेश से लेकर छात्र–जीवन पूर्ण होने तक चलते हैं। तृतीय अवस्था के संस्कार विवाह से प्रारम्भ होकर अन्त्येष्टि तक होते हैं। चूँकि लड़कियों के लिए विवाह ही कमात्र संस्कार है जो उनको पवित्रता प्रदान करता है (क्योंकि पुरुष के लिए उपर्युक्त अन्य कई ऐसे संस्कार है।) और यह संस्कार उनको सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से गृहस्थी के कर्त्तव्यों के वहन करने की दीक्षा (initiation) भी प्रदान करता है, अतः जितना शीघ्र उनका विवाह हो जाए उतना ही अच्छा रहे। इसी कारण सम्भवतः बाल विवाह की प्रथा को प्रोत्साहन मिला।

तीय सिद्धान्त ''आधिपत्य हस्तान्तरण'' (transfer of dominion) के अनुसार स्त्री स्वतंत्र नहीं रह सकती। विवाह पूर्व वह अपने पिता के आधिपत्य में होती है, विवाह उपरान्त अपने पति के आधिपत्य में, और वृद्धावस्था में, विधवा होने की स्थिति में, अपने पुत्रों के आधिपत्य में होती विवाह के द्वारा पिता के आधिपत्य का हस्तान्तरण पति के पक्ष में हो जाता है। अतः इससे पूर्व कि उसके मन में इस हस्तान्तरण को चुनौती का विचार उत्पन्न हो, उसका विवाह कर दिया जाना चाहिए। इसी कारण लड़कियों के लिए बाल–विवाह का विधान अस्तित्त्व में आया।

उपरोक्त तीनों सिद्धान्तों में प्रथम और तृतीय का कोई तर्कसंगत आधार मालूम नही पड़ता। नैतिक पतन के कुछ उदाहरण देकर यह नहीं कहा जा सकता कि महाकाव्य काल में कौमार्य को अधिक नहीं दिया जाता था और क्योंकि महाकाव्येतर युग में ब्राह्मण कौमार्य का अधिक देना चाहते थे, इसी कारण बाद में विवाह योग्य कन्या के लिये कुमारी होना एक आवश्यक योग्यता हो गई और इससे पूर्व कि कोई लड़की अपने कौमार्य को खो दे, विवाह करना उसके लिए आवश्यक हो गया। हमारे धर्म ग्रन्थों में भी यह उल्लेख मिलता है कि महाकाव्य काल में भी स्त्री की पवित्रता में ह्रास निन्दनीय होता था (वात्स्यायन)। यदि यह न होता तो पाण्डवों की माता कुन्ती को अपने अवैध पुत्र कर्ण का परित्याग क्यों करना पड़ता? इस प्रकार यदि कापड़िया ने महाकाव्य एवं वैदिक युग के सन्दर्भों के बिना ही बाल विवाह को कौमार्य भग होने के डर से जोड़ा होता तो उनका उपरोक्त कथन अधिक तर्कसंगत होता। इसी प्रकार उनका ''आधिपत्य हस्तान्तरण'' सिद्धान्त भी निराधार ही मालूम पड़ता है। प्राचीन काल की तो बात ही क्या है, आजकल भी शिक्षित लड़कियाँ इस बात पर प्रश्न नहीं करती है कि विवाहोपरान्त पिता से पति को अधिकार परिवर्तन न हो। तब हम कैसे कह सकते हैं कि ब्राह्मणों ने बाल–विवाह विधान इसलिए बनाया ताकि लड़कियां स्त्रीत्व प्राप्त करने के बाद आधिपत्य परिवर्तन को चुनौती न दे सकें।

राजबलि पाण्डे (1949:321–323) ने उत्तर वैदिक काल में लड़की की विवाह योग्य आयु सीमा नीचे जाने के प्रश्न पर कुछ भिन्न मत व्यक्त किया है। उनका एक कथन तो यह है कि भारत की पूर्ण विजय के पश्चात् आर्यों का जीवन सुख एवं विलासिता प्रिय हो गया और वे जीवन का अपूर्व आनन्द लेने में व्यस्त हो गए। इस कारण यौन जीवन जल्दी आरम्भ हुआ और विवाह भी। दूसरी ओर, वेदों के अध्ययन के रुक जाने के कारण पवित्र तथा अनुशासित जीवन व्यतीत करने के बन्धन भी ढीले पड़ गए; अतः लम्बे समय तक विवाह स्थगित किए जाने का कोई आवश्यक कारण नहीं रह गया। तीसरी बात यह है कि तीसरी और चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से भारत पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गए। ग्रीक, बैक्ट्रियन, पर्थियन, और सिन्थियन लोग जो भारतीयों से शारीरिक रूप में अधिक बलवान किन्तु कम सभ्य थे, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्तों पर आधिपत्य कर बैठे। इन लोगों में स्त्रियों की प्रस्थिति अत्यन्त शोचनीय एवं निम्न स्तर की थी। स्त्री आनन्द और उपभोग की वस्तु मात्र मानी जाती थी। अतः हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को संकट पैदा होने के कारण सुरक्षा कारणे से समय–पूर्व विवाह आवश्यकता बन गई। अन्तिम तथ्य यह भी सामने आया कि लड़की को पिता द्वारा पति को दी जाने वाली ''भेंट की वस्तु'' (gift) माना जाने लगा और जो वस्तु पहले ही उपभोग की जा चुकी हो उसको भेंट स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सकता है। इसलिए ''नग्निका'' अवस्था में ही विवाह का विधान प्रारम्भ हुआ। जब स्त्री की विवाह आयु कम हो गई तब लड़कों की विवाह आयु पर भी इसका प्रभाव पड़ना आवश्यक था क्योंकि हिन्दुओं में पति–पत्नी की आयु में बड़ा अन्तर सहन नहीं किया जाता। अतः दोनों लड़कों और लड़कियों के लिए बाल विवाह का प्रचलन मान्य हो गया।

बाल–विवाह के चाहे जो भी कारण रहे हों, लेकिन तीन तथ्य इस प्रथा को प्रोत्साहन देने में सहायक सिद्ध हुए है: पहला, संयुक्त परिवार प्रथा ने बाल विवाह को अधिक प्रोत्साहित किया; दूसरा, अन्तर्विवाह (endogamy) के नियमों का कठोर हो जाना जो कि ईसा की आठवी सदी के बाद अनिवार्य हो गया; और तीसरा, ऐतिहासिक कारण जिनमें मध्ययुगीन मुसलमानों द्वारा हिन्दू अविवाहित लड़कियों का शोषण सम्मिलित है। सदियों बाद भी बाल–विवाह का प्रचलन बढ़ता ही रहा। उन्नीसवीं सदी में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें प्रसिद्ध लोगों ने कम आयु की लड़कियों से विवाह किया। 1931 की जनगणना की रिपोर्ट (Vol 1, Part II, 125) के अनुसार, भारत में 72.2% लड़कियों का विवाह 15 वर्ष की अवस्था से पूर्व हो चुका था और 34.1% का दस वर्ष की आयु से पूर्व हुआ था।

## बाल–विवाह के विरुद्ध अपनाए जाने वाले उपाय (Measures Against Child Marriages)

भारत में बाल–विवाह को रोकने में सर्वप्रथम मालाबारी, राजा राम मोहन राय, और ईश्वरचन्द्र विद्या सागर, जैसे सामाजिक सुधारकों ने प्रयत्न प्रारम्भ किए थे। 1846 में विधि आयोग (Law Commission) ने सिफारिश की कि 10 वर्ष से कम आयु की पत्नी के साथ यान सम्बन्धों का निषेध किया जाना चाहिए। इस सिफारिश को 1860 में लागू किया गया जबकि भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) में व्यवस्था की गई कि 10 वर्ष से कम आयु की पत्नी से यौन सम्पर्क अपराधिक आक्रमण (criminal assault) माना जाए और इसके लिए आजन्म कारावास तक का दण्ड दिया जाए। किन्तु अधिनियम निरर्थक सिद्ध हुआ क्योंकि हिन्दू पत्नी स्वभाव से ही अपने पति की आज्ञा का नम्रता से पालन करती है। कुछ प्रान्तों द्वारा विवाह की न्यूनतम आयु निश्चित करने के प्रयत्न अवश्य किए गए। बंगाल सरकार 1891 में विवाह के समय न्यूनतम 12 वर्ष की आयु निश्चित करने के लिए एक अधिनियम पारित करना चाहती थी, किन्तु यह अधिनयिम पारित न किया जा सका। मैसूर सबसे पहला राज्य था जिसमें विवाह की कम से कम आयु 9 वर्ष सम्बन्धित अधिनियम 1894 मे पारित कर दिया; पिफर 1904 में बड़ौदा ने, और 1918 में इन्दौर ने विवाह की न्यूनतम आयु 12 वर्ष निश्चित करने सम्बन्धी अधिनियम पारित कर दिया। केन्द्रीय स्तर पर एक सांसद गिरधारी लाल ने 1921 में सरकार से मांग की कि लड़की का विवाह 11 वर्ष से कम

और लड़के का 14 वर्ष से कम पूर्णरूपेण निषिद्ध कर दिया जाए। सरकारी दृष्टिकोण था कि देश की पिछड़ी सामाजिक दशाओं के कारण ऐसा करने की पहल सरकार के बजाय निजी व्यक्ति की ओर से हो तो अच्छा हो। फरवरी 1922 में राय बहादुर बक्शी सोहन लाल ने केन्द्रीय संसद में इस आशय का एक बिल रखा जिसमें कहा गया कि विवाह–सहवास (consummation) के लिए आयु सीमा 14 वर्ष निश्चित की जाए। विभिन्न प्रान्तीय सरकारों से मत प्रकट करने के लिए इस बिल को भेजा गया। बम्बई और उत्तर प्रदेश सरकारों को छोड़कर अन्य सभी प्रान्तीय सरकारें या तो इसके विरुद्ध थीं या पशोपेश में थी। तदनुसार, सितम्बर 1922 में सरकार ने यह बिल सत्र के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया। 1924 में पुनः यह मामला संसद में श्री हरी सिंह गौड़ द्वारा उठाया गया जिन्होंने एक नया विचार प्रस्तुत किया। इस बार यह बिल एक प्रवर समिति को सौंप दिया गया, जिसने विवाह–सहवास की कम से कम 13 वर्ष की आयु की सिपफारिश की। चूँकि विधायक गण इससे सन्तुष्ट नहीं थे और वे इसे 14 वर्ष तक बढ़ाना चाहते थे, इसलिए सरकार ने इस बिल को अनुमति नहीं दी। इसके स्थान पर सितम्बर 1925 में एक नया बिल प्रस्तुत किया गया, जिसमें विवाह की निम्नतम आयु 13 वर्ष निश्चित की गई; लेकिन विधायकों ने पुनः इस पर आपत्ति की क्योंकि वे 14 वर्ष चाहते थे। अतः 1929 में शारदा समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने विवाह–सहवास आयु 15 वर्ष तथा विवाह की निम्नतम आयु लड़की के लिए 14 वर्ष और लड़के के लिये 18 वर्ष करने की सिपफारिश की। तब सरकार ने एक ''बाल विवाह निरोधक अधिनियम'' क्रियान्वित किया। इसके अनुसार लड़के की विवाह की आयु 18 वर्ष तथा लड़की की 14 वर्ष निश्चित कर दी गई। यह अधिनियम पहली अप्रैल 1930 से समस्त ब्रिटिश भारत में लागू कर दिया गया, लेकिन 600 देशी राज्यों में नहीं। सन् 1949 में इसमें पुनः सुधार किया गया जिसमें लड़की की विवाह की आयु 14 वर्ष से बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गई। इस अधिनियम में पुनः 1978 में सुधार किया गया और लड़की की आयु 18 वर्ष तथा लड़के की आयु 21 वर्ष कर दी गई। सन् 1955 के ''हिन्दू विवाह अधिनियम'' में भी यही प्रावधान है। यद्यपि 1929 और 1955 के अधिनियमों में आयु प्रावधान एक से हैं, किन्तु अन्तर इतना सा है कि 1929 का अधिनियम विवाह को अवैध घोषित नहीं कर सकता जबकि 1955 का अधिनियम विवाह को निष्प्रभावी (*null & void*) ठहरा सकता है। सन् 1929 के अधिनियम में नियम तोड़ने वालों के विरुद्ध दण्ड निश्चित किया गया है जिसमें तीन माह का कारावास तथा आर्थिक दण्ड एक हजार रुपये तक किया जा सकता है। स्त्रियों को कारावास का प्रावधान इसमें नहीं है। विवाह के एक वर्ष बाद की गई शिकायतों पर भी ध्यान नहीं दिया जाता। सन् 1954 के ''विशेष विवाह अधिनियम'' द्वारा लड़के की विवाह की आयु 21 वर्ष और लड़की की 18 वर्ष निश्चित कर दी गई। यह उन मामलों के लिए था जहां विवाह माता–पिता की सहमति के बिना सम्पन्न हुआ हो। इससे पता चलता है कि हमारे देश में विवाह की आयु के नियन्त्रण के संबंध में समय–समय पर कुछ कानूनी उपाय अपनाए गए हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त विविध अधिनियमों (1929, 1954 और 1955) के आधार पर जो विवाह की आयु निश्चित की गई है, क्या वह हमारे देश में वर्तमान समय की आवश्यकताओं के संदर्भ में उपयुक्त है? हम इस प्रश्न का विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर करने का प्रयत्न करेंगे।

## विवाह की आयु : एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Suitable Age for Marriage: A sociological Perspective)

व्यक्ति के लिए विवाह की तत्परता (readiness) निश्चित करने में ''परिपक्वता'' (maturity) एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारक है। विवाह के बाद व्यक्ति को विविध भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है, अतः केवल परिपक्व व्यक्ति ही नये उत्तरदायित्वों को सम्हालने के योग्य समझा जाना चाहिए। प्रश्न है कि ''परिपक्व'' व्यक्ति कौन है? परिपक्वता 'क्या है? परिपक्वता पाँच प्रकार की बतायी गई है: कालानुसारी (chronological), शारीरिक (physical), मानसिक (mental), संवेगात्मक (emotional) और सामाजिक (social)। कालानुसारी परिपक्वता व्यक्ति की कालक्रफम में प्राप्त हुई आयु से मानी जाती है कि वह जन्म से कितने वर्ष तक जीवित रहा है। शारीरिक परिपक्वता का अर्थ शारीरिक बनावट व शरीर विकास से होता है। लड़कियों के मामले में शारीरिक परिपक्वता का विशेष महत्त्व होता है क्योंकि इससे लड़कियों में चर्बी का जमाव, प्रथम रजोदर्शन (menstruation) और इसी प्रकार की बातें जो उनकी प्रजनन उर्वरकता (fertility) को प्रभावित करती हैं आदि निश्चित होती हैं, और इस प्रकार उनकी विवाह–आयु प्रभावित होती है। मानसिक परिपक्वता व्यक्ति की बुद्धिमानी तथा बुद्धिहीनता तथा बुद्धि–लब्धि (Intelligence Quotient) दर्शाती है; जैसे, वह सामान्य (normal) है या जड़–बुद्धि वाला (idiot) है (जो तीन वर्ष से कम वाले बालक की तरह व्यवहार करता है) या अल्प–बुद्धि वाला (imbecile) है (जो तीन और सात वर्ष के बीच वाले बालक की तरह व्यवहार करता है) या क्षीण–बुद्धि वाला (moron) है (जो सात और बारह वर्ष के बीच वाले बालक की तरह व्यवहार करता है)। संवेगात्मक परिपक्वता से व्यक्ति की विविध सम्बन्धों को स्थापित करने व उन्हें बनाए रखने की योग्यता का पता चलता है। सामाजिक परिपक्वता का अर्थ सामान्य सामाजिक जीवन के अनुभवों से होता है। यदि हम यह मानें कि केवल वही व्यक्ति विवाह के योग्य है जो

उपरोक्त सभी तरह से परिपक्व है तो हमें ''विलम्ब विवाह'' (late marriage) की सिफारिश करनी पड़ेगी। अतः हम सरल शब्दों मे ''परिपक्वता'' की परिभाषा देने का प्रयास करते हैं। रोबर्ट ब्लड (Robert O' Blood, 1969:150) के अनुसार एक परिपक्व व्यक्ति वह है जो व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने तथा उन सम्बन्धों को कायम रखने की योग्यता रखता हो; या वह व्यक्ति जिसमें ''देने '' (स्नेह व सहानुभूति) व ''लेने'' (उत्तरदायित्वों के लेने या वहन करने की) योग्यता हो। लांज और स्नाइडर (Lantz & Synder, 1966:9) ने परिपक्व व्यक्ति की तीन विशेषताएँ बताई हैं: परानुभूति (empathy), उत्तरदायित्व (responsibility), और स्थिरता (stability)। ''परानुभूति'' दूसरों की भावनाओं को समझने और दूसरों की आवश्यकताओं को पहचानने की योग्यता है। उत्तरदायित्व दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने तथा आत्मनिर्भरता का सामर्थ्य है। ''स्थिरता'' में जीवनपर्यन्त उत्तरदायित्वों के निर्वहन की प्रतिबद्धता होती है।

बोमैन (Bowman, 1960:91-113) ने परिपक्व व्यक्ति के सात लक्षण बताए हैं: (1) वह व्यक्ति जो दैनिक जीवन में परिपक्व स्तर पर बुद्धि का प्रयोग करता हो, अर्थात् जिसका अपने और दूसरों के प्रति निरपेक्ष (objective) दृष्टिकोण हो; जो अपने व दूसरों के अनुभव से लाभ उठाता हो। जो अपनी जानकारी को एकत्रित करने का समाकलन करता हो इसी समाकलित ज्ञान के आधार पर कार्य करता हो। तथा जो कोइ भी कदम उठाने से पूर्व समस्या के विविध पदों को देखता हो। (2) वह व्यक्ति जो समय को समष्टि का एक अंग मानता हो। अर्थात् जो सामाजिक जीवन व सामाजिक संबंधों को समझता हो। दूसरों को सुविधाएँ व रियायतें देने में विश्वास करता हो। जो सत्ता और परम्पराओं की इज्जत करता हो और जो यह मानता हो कि वह बिना समाज के नहीं रह सकता। (3) जो यथार्थ के धरातल पर रहता हो यानि की ऐसा धरातल जो भूत, वर्तमान व भविष्यगत और संतुलित हो। वह प्रतिष्ठा के लिए वेशक शालीनता व शिष्टाचार पर निर्भर करता हो और विचरण स्थल के लिए अतीत के बजाय वर्तमान को प्रयोग करता हो। (4) वह व्यक्ति जो स्वतंत्र हो अर्थात जो आर्थिक भूमिका पूर्णरूपेण निभा सकता हो और स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय ले सकता हो। (5) वह व्यक्ति जो चापलूसी, प्रसंशा तथा शुभकामनाओं पर निर्भर करता हो और अपने उत्तरदायित्वों को समझता हो। (6) वह व्यक्ति जो अपने व्यवहार को सुख–दुख पर नहीं बल्कि सिद्धान्तों पर आधारित करता हो और प्रौढ़ व्यवहार दर्शाता हो। (7) वह व्यक्ति जो यौन प्रेम विवाह आदि प्रशंसकों के प्रौढ़ व्यक्तियों सा रूझान रखता हो अर्थात जिसमें यौन अभिव्यक्ति की पूर्णतः तर्कसंगत मात्र में हो।

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिपक्वता मात्रा में संबंध निर्णय है। कोई भी व्यक्ति गर्व से यह नहीं कह सकता कि उनमें शत–प्रतिशत परिपक्वता है। फिर भी विवाह के लिए एक सीमा तक परानुभूति तथा स्थिर उत्तरदायित्व की आवश्यकता होती है। जिसमें कि जीवनसाथी एक–दूसरे पर विश्वास व निर्भर कर सकें। औसत व्यक्ति में परिपक्वता आयु के क्रमशः बढ़ने से समय में आ जाती है। परिणामस्वरूप कालानुसारी (chronological) आयुपरिपक्वता का मोटा सूचक है।

अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति विवाह के लिए किस आयु में परिपक्व माना जाए। विविध देशों के विधानों से इस प्रश्न का थोड़ा उतर तो मिलता है यद्यपि कानून भिन्न–भिन्न है। फिर भी प्रत्येक देश में विवाह की कम से कम आयु लगभग निश्चित ही है। जैसे लड़के के लिए 18 से 22 वर्ष के बीच और लड़की के लिए 14 से 18 वर्ष के बीच। 30 मार्च 1961 को 18 राष्ट्रों वाले संयुक्त राष्ट्र आयोग जो स्त्रियों की स्थिति अध्ययन कर रहा था ने यह सहमति व्यक्त की है कि माता पिता की अनुमति से पंद्रह वर्ष विवाह की आयु सर्वसम्मत स्वीकृत है। जैसा कि पहले भी विवेचन किया जा चुका है कि भारत में वैधानिक रूप से लड़की के लिए 18 वर्ष और लड़के लिए 21 वर्ष निश्चित की जा चुकी है। क्या उपरोक्त तथ्यों को परिपक्वता की निश्चित परिभाषा मानी जाए। अमरिका में तलाक की दर तथा विवाह आयु में संबंध विषय पर किए गए कुछ अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि वे पर्याप्त नहीं हैं। एक ऐसा ही अध्ययन जो कुछ दशक पहले किया गया था तथा जिसका उल्लेख माउरेर (Mowrer) ने किया। उदाहरण के लिए प्रस्तुत है।

**विवाह की आयु एवं विवाह व तलाक का अनुपात**

| विवाह के समय आयु | विवाहों में तलाकों का प्रतिशत | |
|---|---|---|
| 17 वर्ष से कम | 45.0 | 45.0 |
| 17 वर्ष | 27.5 | 28.0 |
| 21 वर्ष | 15.0 | 12.5 |
| 25 वर्ष | 12.5 | 10.5 |
| 29 वर्ष | 11.0 | 10.0 |
| 40 वर्ष | 10.0 | 9.0 |

निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होता है कि जितना विलम्ब से विवाह होगा, तलाक दर उतनी ही कम होगी क्योंकि तलाक विवाह की असफलता का एक प्रतीक है और तलाक की दर उन विवाहों में अधिक होती है जो 17 वर्ष या उससे पहले सम्पन्न होते हैं, अर्थात् चूँकि 20 और 21 वर्ष की आयु से नीचे, अपरिपक्वता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है, अतः कहा जा सकता है कि विवाह की आयु किसी भी दशा में 20 या 21 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। जो विवाह 25 से 40 वर्ष के बीच होते हैं उनमें तलाक की दर लगभग एक जैसी ही होती है; अतः हम 29 या 30 वर्ष को विवाह की अधिकतम आयु निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार 21 और 29 वर्ष के बीच की आयु (twenties) विवाह के लिए उचित है।

विवाह की अधिकतम और निम्नतम आयु के विषय में विचार करते समय परिपक्वता के अतिरिक्त अन्य कारकों पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा ही एक कारक है भूमिका निर्वाह की तैयारी (role-preparation), अर्थात् क्या व्यक्ति को विवाहोपरान्त भूमिका निभा सकने का प्रशिक्षण है? आमतौर पर व्यक्ति विवाह के न केवल बाद में ही अच्छा पति या अच्छी पत्नी होना सीखते हैं, बल्कि विवाह से पूर्व भी कुछ विवाहित युगलों के व्यवहार का प्रेक्षण करके भी सीखते हैं। यदि उनका विवाह कम आयु में सम्पन्न हो जाए तो वे केवल अपने माता–पिता के व्यवहार को देखने का ही अवसर पाते हैं। यदि माता–पिता उनके लिए आदर्श सिद्ध हों तो उन्हें विवाह के लिए तैयार माना जा सकता है; यदि नहीं तो बच्चे निश्चित रूप से अपने विवाह की भूमिका अदा करते समय तैयारी में कमी का अनुभव करेंगे। भूमिका अदा करने का ज्ञान व्यक्ति ऐसी आयु में जिसमें कि भूमिकाओं के को समझ सके, अपने माता–पिता के अतिरिक्त अन्य विवाहित युगलों के सम्पर्क में आने से भी प्राप्त करता है। अतः 20–21 वर्ष से कम विवाह की आयु को निरुत्साहित किया जाना चाहिए।

तीसरा कारण है परिस्थितीय तत्परता (circumstantial readiness), अर्थात् क्या परिस्थितियाँ व्यक्ति को विवाह की अनुमति प्रदान करती हैं? मान लें कि व्यक्ति विवाह के समय विद्यार्थी है। विवाह के बाद या तो उसे अध्ययन छोड़ना पड़ेगा (जिससे उसके शैक्षिक जीवन पर प्रभाव पड़ेगा) या फिर पत्नी की अवहेलना करनी होगी (जिससे उसके विवाहित जीवन पर प्रभाव पड़ेगा)। ऐसी स्थिति में परिस्थितियाँ उसे विवाह की अनुमति नहीं देती हैं। इसी प्रकार, यदि लड़की पाकशास्त्र तथा गृह कार्यों में कुशल नहीं है तो उसे विवाह के लिए तैयार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हो सकता है कि परिस्थितियों ने उसका साथ न दिया हो। सामान्य रूप से एक व्यक्ति 21 या 22 वर्ष बाद अपनी शिक्षा पूर्ण करता है और फिर उसे एक या दो वर्ष व्यवसाय/ नौकरी ढूँढने में लगते हैं। लड़कियाँ भी तारुण्य पार करने के बाद ही गृह कार्यों में दक्षता प्राप्त करती हैं। अतः परिस्थितियाँ आमतौर पर व्यक्ति को 21 या 22 वर्ष की आयु के बाद ही विवाह की अनुमति देती हैं।

विवाह के पश्चात् नवीन वातावरण में सामन्जस्य की योग्यता का प्रश्न भी विवाह की न्यूनतम आयु निश्चित करने में महत्वपूर्ण है। विवाह के बाद भारतीय लड़की से अपेक्षा की जाती है कि वह धैर्यपूर्वक अपने पति की भूमिका प्रभुत्वता (role dominance) व सास के व्यवहार को स्वीकार करे। उसको ससुराल के अन्य सदस्यों की आदतों, व्यवहार के तरीके एवं आदर्शों का भी ख्याल रखना होता है और सहना होता है। इसके लिए न केवल समायोजन की बल्कि आवश्यकता पड़ने पर दृढ़ होने की भी आवश्यकता होती है। अल्पायु की लड़की इस समायोजन व दृढ़ता के लिए पूर्ण रूप से समर्थ नहीं होती। केवल वही लड़की जिसने किशोरावस्था (adolescence) पार कर ली है अथवा 20–21 वर्ष के बाद की आयु ही विवाह के लिए आदर्श आयु है।

कुछ अन्य प्रश्न भी हैं, जैसे काम प्रवृत्ति की सन्तुष्टि (gratification of sex instinct) तथा स्त्री की प्रजनन आयु (reproductive age) जो विवाह की आयु को निश्चित करने में अहम् हैं। यदि व्यक्ति अपनी काम भावना को लम्बे समय तक दबा दे या नियंत्रण कर ले तो या तो वह काम विकृति (sexual perversion) का शिकार होगा या फिर अपनी जैविक आवश्यकताओं (biological urges) की पूर्ति के लिए असामाजिक तरीके अपनाएगा। अतः ऐसे व्यक्तियों के विवाह में अधिक विलम्ब उनके लिए हानिकारक हो सकता है। लेकिन यौन जीवन (sex life) के लिए परिपक्वता की आयु की क्या पहचान है? कापड़िया (1972:160) ने भारत में 1950 के बाद के अनेक अध्ययनों के द्वारा बताया है कि यहाँ लड़कियों की रजोदर्शन की औसत आयु 12 से 15 वर्ष के बीच होती है। यद्यपि यह आयु स्त्री में काम भावना के उद्दीपन की आयु का संकेत करती है, तथापि यह उसमें यौन परिपक्वता नहीं दर्शाती। स्त्री के शरीर में पहले रजोदर्शन के बाद यौनांगों के समुचित विकास के लिए पांच या छः वर्ष का समय आवश्यक है; इसलिए उसका यौन–जीवन इस अवधि तक के लिए स्थगित होना चाहिए; अथवा, तारुण्य (puberty) अवस्था प्राप्त होने तक विवाह कम से कम 5 या 6 वर्ष विलम्ब से होना चाहिए। इसीलिए विवाह की आयु 20 वर्ष के बाद ही निश्चित की जानी चाहिए।

जहाँ तक भारत में स्त्री की प्रजनन (reproduction) आयु का प्रश्न है, यह 45 वर्ष तक मानी जाती है। इस उपरी सीमा के निश्चित होने से यह स्पष्ट है कि प्रजनन के लिए कुल उपलब्ध समय–अवधि प्रभावी विवाह (effective marriage) की आयु से विपर्यय (inversely) रूप से भिन्न होगी। उदाहरणार्थ, यदि लड़की का विवाह 20 या 21 वर्ष में हो तो उसे लगभग 24 या 25 वर्ष का ही प्रजनन समय

उपलब्ध होगा और यदि विवाह 15 वर्ष की आयु में हो तो 30 वर्ष की लम्बी अवधि प्रजनन के लिए उपलब्ध होगी। प्रजनन–अवधि जितनी कम होगी उर्वरकता (fertility) भी उतनी ही कम होगी। इस दृष्टिकोण से भी लड़कियों की विवाह–आयु के लिए 20 वर्ष से कम का सुझाव नहीं दिया जा सकता।

अन्त में, विवाह की अधिकतम आयु सीमा निर्धारित करने में सेवा–निवृत्त आयु का भी विचार आवश्यक है। यह आवश्यक है कि सेवा निवृत्ति से पूर्व ही व्यक्ति अपने बच्चों की शिक्षा, विवाह, आदि उत्तरदायित्वों से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाए। यदि एक व्यक्ति 33 या 34 वर्ष की अवस्था में विवाह करता है और दो वर्ष के अन्तराल से केवल दो ही सन्तान चाहता है तो 58 वर्ष की सेवानिवृत्ति के समय उसकी छोटी सन्तान 20 वर्ष की होगी। ऐसे बालक को अपने पिता की सत्ता में होते हुए दुलार भरे पालन–पोषण द्वारा (fostering care) प्रौढ़ता प्राप्त करने के अवसर नहीं मिलेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि लड़के की विवाह की आयु किसी भी प्रकार 30 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।

वर्तमान में भारत में लड़के और लड़कियों की विवाह–आयु को मध्य का 14.9 और लड़कों की 18.5 थी, तब अमरीका में यह क्रमश 20.4 और 23.2 थी, ब्रिटेन में 21.9 और 25.2 थी, पूर्वी जर्मनी में 26.5 और 31.4 थी, जापान में 23.1 और 25.8 थी, तथा फ्रान्स में 22.6 और 26.0 थी (अग्रवाल, 1955, 2–2)

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे समाज में विवाह की सबसे उपयुक्त आयु 20 और 24 के बीच (early twenties) है। प्रो. धुर्ये (1963:67) ने भी कहा है कि स्त्रियों की विवाह की आयु लगभग 22 वर्ष तथा पुरुषों की 25 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए। विवाह की सफलता के लिए शिक्षा की आवश्यकता को तथा स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि लड़कियों के लिए 20–21 वर्ष तथा लड़कों के लिए 22–23 वर्ष की आयु अधिक वांछनीय होगी। अतः विवाह संबंधी विधानों का पुनरीक्षण (revision) करने और विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

## धर्म का स्वरूप

समाजशास्त्र की उत्पत्ति के समय से ही धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की चेष्टा की गई है। ऑगस्ट काम्टे ने अपने "तीन सोपानों के सिद्धात' अंतर्गत धार्मिक अवस्था का आरंभिक (सोपान) माना है। आधुनिक वैज्ञानिक अवस्था में भी सामाजिक पुनर्गठन का काम काम्टे के अनुसार धर्म और नैतिकता के सिद्धांतों पर अवलंबित होगा। दूसरी ओर मार्क्स का मत है कि अन्य विचारधाराओं की तरह धर्म एक विचारधारा है लेकिन शोषित और उत्पीड़ित जनता के लिए अफीम की तरह है यह यथार्थ संबंधी उसकी चेतना को समाप्त करता है। धर्म की प्रकार्यात्मक भूमिका और सामाजिक सुदृढ़ता में इसके योगदान पर दुर्खीम, मैक्स वेबर और पारसंस ने विचार किया है।

एक संस्था के रूप में सामाजिक संरचना में धर्म की प्रमुख भूमिका है। धर्म अपने अनुयायियों को विश्वास, कार्यपद्धति और आपदकाल में धीरज प्रदान करता है। अतः धर्म का विशेष समाजशास्त्रीय है।

## धर्म क्या हैं?

धर्म मनुष्य और सृष्टि के अस्तित्त्व के रहस्यों से संबंधित है। सदियों से मनुष्य को ऐसे प्रश्न उद्वेलित करते रहे हैं कि संसार कैसे और क्यो बना? मृत्यु क्या है? विभिन्न धर्मों ने अपने ढंग से इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। दुर्खीम के अनुसार जिन वस्तुओं को पवित्र माना जाता है। धर्म उनसे संबंधित विश्वासों और व्यवहारों की एकीकृत प्रणाली। इसके द्वारा समान विश्वासों और व्यवहारों के अनुयायी एक नैतिक समुदाय में एकबद्ध होते है। इस तरह अपनी परिभाषा में दुर्खीम धर्म की संरचना के मूलतत्त्वों एवं उसके प्रकार्य दोनों पर प्रकाश डालते है। इनके अनुसार धर्म की संरचना के निम्नलिखित मूल तत्त्व है।

1. पवित्र वस्तु; 2. विश्वास और व्यवहार; 3. अनुयायी; 4. एक नैतिक समुदाय.

पहले ही इस बात को स्पष्ट किया जाता है कि दुर्खीम के समाजशास्त्रा मे सामाजिक दृढ़ता की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। इस परिभाषा के अनुसार भी धर्म सामाजिक दृढ़ता को शक्ति प्रदान करता है।

धर्म की संरचना के कुछ सामान्य तत्त्व हैं। आदिम अथवा आधुनिक संगठित सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में नीचे लिखे तत्त्व पाए जाते है

1. आधिभौतिक सत्ता में विश्वास,

2. आधिभौतिक सत्ता का स्वरूप, प्रगति, मनुष्य, स्थान, पदार्थ के रूप में मूर्त हो सकता है अथवा उपदेशों और दार्शनिक चेतना के रूप में अमूर्त हो सकता है,
3. आधिभौतिक सत्ता में विश्वास करने वाले अनुयायी,
4. उपासना की पद्धति,
5. कर्मकाण्ड
6. आधिभौतिक स्थान (स्वर्ग–नरक( की अवधारणा),
7. विचारधारा,
8. पूजा का स्थान।

## प्रमुख विचारक

धर्म के समाजशात्रीय विश्लेषण की चेष्टा समाजशास्त्रा की उत्पत्ति के समय से ही आरंभ हो गई थी। उनीसवीं सदी में कॉम्टे (1852–1856), टाइलर (1871), स्पेंसर (1896) तथा फ्रेजर (1890) ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से धर्म के विभिन्न पक्षों पर विचार किया। अध्ययन पद्धति की दृष्टि से इस काल में वैज्ञानिक, विकासवादी और मनोविज्ञानवादी विधियों के आधार पर धर्म का विश्लेषण हुआ।

### प्रमुख विचारक

*काम्टे के तीन सोपानों के सिद्धांत में धार्मिक अवस्था को प्रथम सोपान माना गया है। यह अवस्था आरंभिक और आदिम समाज में थी।* इसके बाद मानवीय चिंतन दार्शनिक (मध्य युगीन) अवस्था से होते हुए आधुनिक वैज्ञानिक अवस्था तक पहुँचा है जिसका आरंभ उन्नीसवीं सदी में हुआ। एक ओर तो काम्टे वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति के विकास में धर्म और दर्शन की मान्यताओं को अप्रासंगिक मानते हैं और दूसरी ओर आधुनिक समाज के पुनर्गठन के लिए धर्म की सार्वभौमिक आवश्यकता पर भी बल देते हैं। काम्टे के चिंतन में इस तरह परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है काम्टे द्वारा किए गए धर्म के विश्लेषण में उपरोक्त वर्णित तीनों विधियाँ मिली जुली हैं। टाइलर, फ्रेजर और स्पेंसर ने मुख्य रूप से धर्म की उत्पत्ति पर विचार किया है। पारसंस के अनुसार भी धर्म सामाजिक संरचना का एक तत्त्व है। यह अनेक प्रकार्यात्मक भूमिकाओं को पूरा करता है। इस अध्याय में यथास्थान हम इनके विचारों का विवेचन करेंगे।

### धर्म की उत्पत्ति

*समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों का मत है कि आधुनिक संगठित धर्मों; के विकास के मूल में आदिम मानव की भय और असुरक्षाजन्य* कल्पना, उपासना पद्धति, विश्वासों और कर्मकाण्डों का हाथ है। आखेट और खाद्य संकलन की अवस्था में आदिम मानव का जीवन अनिश्चितताओं से भरा था। शिकार मिलेगा अथवा नहीं? खाद्य संकलित हो पाएगा अथवा नहीं? वर्षा, बाढ़, आंधी, तूपफान के रूप में प्रकृति की क्रूरता का भी उसे मुकाबला करना पड़ता था। स्वप्न, बीमारी और मृत्यु उसके लिए रहस्यमय थे। कार्यकारण के आधुनिक संबंधों से वह अपरिचित था। अज्ञात को समझने की चेष्टा में, इस अवस्था में शकुन, अपशकुन, प्रकृति के लाभदायक और हानिकारक रूप आदि के विषय में आदिम मनुष्य ने कुछ विश्वास विकसित किए।

इस अवस्था में मनुष्य के जीवन के दो पक्ष थे पहला पक्ष तो वह था जिसका वह अनुभव करता था, जिसे वह देख सकता था। अपनी देखने, सुनने, समझने की क्षमता से आदिम मानव ने मनुष्य प्रकृति और जानवरों के व्यवहार की व्याख्या करने की चेष्टा की। मृत्यु, महामारी, वर्षा, तूफान और बाढ़–ये कुछ ऐसी घटनाएँ थीं जिनकी व्याख्या वह अपने देखने सुनने की क्षमता के द्वारा नहीं कर सकता था। इस असमर्थता, अनिश्चय और असुरक्षा के बीच से जो मानवीय कल्पनाएँ विश्वास तथा कर्मकाण्ड उत्पन्न हुए उनसे ही धीरे–धीरे आधुनिक संगठित धर्मों का विकास हुआ है।

आदिम मनुष्य का मानसिक, सामाजिक और भौगोलिक दायरा सीमित था। जीवन नित्य प्रति की आवश्यकताओं तक सीमित था। इन आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा में ही अत्यंत व्यावहारिक ढंग से आदिम मनुष्य ने अपने विश्वासों एवं कर्मकाण्डों की पद्धति भी विकसित की। आदिम समुदायों के बीच धर्म की उत्पत्ति पर टाइलर, स्पेंसर और फ्रेजर ने विचार किया है।

टाइलर और स्पेंसर के अनुसार आदिम मनुष्य के जीवन में आत्मा की अवधारणा के कारण धर्म की उत्पत्ति हुई। इनके अनुसार आदिम मनुष्य के वियर में आत्मा के अस्तित्त्व का विश्वास मृत्यु और स्वप्न से संबंधित उनकी कल्पना से आया। टाइलर के अनुसार आदिम मनुष्य

का विश्वास था कि आदमी के शरीर में आत्मा है जो निद्रा की अवस्था में बाहर चली जाती है। जागने पर आत्मा शरीर में वापस चली आती है। आदिम मनुष्य के अनुसार जब आत्मा शरीर में वापस लौटकर नहीं आती है तो वह मृत्यु की स्थिति है। इस स्थिति के बाद भी आदिम मनुष्य अपने संबंधियों के मृत शरीर को इस आशा में रखे रहता था कि संभव है कि आत्मा वापस आ जाए। आदिम मनुष्य के जीवन में एक ओर तो उपलब्धियाँ थीं जैसे– शिकार और खाद्यसंकलन की यथेष्ट मात्र और दूसरी ओर निराशाएँ भी थीं उनका विश्वास था कि मृतक संबंधियों और पूर्वजों की आत्मा यदि सुखी और संतुष्ट है तो उनके जीवन में भी होगा। यदि पूर्वजों की आत्मा दुःखी और असंतुष्ट है तो वह भी दुखी रहेगा। मृतक आत्मा की धारणा से आदिम मनुष्य में विश्वास और पूर्वजों की आत्मा के संतोष के लिए किए गए कार्यों के कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की उत्पत्ति हुई।

स्पेंसर आदिम मनुष्य के विश्वासों की उत्पत्ति के मूल में उसके स्वप्नों का हाथ मानते हैं। स्वप्नों के कारण आदिम मनुष्य पूर्वजों की आत्मा और भूतप्रेतों से जोड़ता था। इनसे आधिभौतिक सत्ता का विश्वास विकसित हुआ। इसके आधार पर स्पेंसर विभिन्न में धर्म के विकास पर प्रकाश डालते हैं। टाइलर और स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित धर्म की उत्पत्ति के विचार को "प्राणीवाद" अथवा पूर्वजों की पूजा का सिद्धांत कहा जाता है।

फ्रेजर के अनुसार आदिम मनुष्य का प्रकृति से निरंतर संघर्ष चलता रहता था। कभी वह प्रकृति को नियंत्रित करने में सफल हो जाता था। और कभी वह उससे पराजित हो जाता था। प्रकृति को नियंत्रित करने के लिए जिन मंत्रों और विधियों को आदिम मनुष्य ने विकसित किया, फ्रेजर उन्हें जादू कहते हैं। पराजय की स्थिति में आदि मनुष्य प्रकृति को प्रसन्न करने के लिए उसकी पूजा करता था। प्रकृति की पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई। फ्रेजर के विचारों को 'प्रकृतिवाद' का सिद्धांत कहा गया है।

दुर्खीम के सिद्धांत की भी इसमें अंतर्निहित दार्शनिकता को लेकर आलोचना हुई है। जहाँ तक सामूहिकता और सामाजिक सुदृढ़ता बढ़ाने में धर्म के योगदान का प्रश्न है, दुर्खीम का सिद्धान्त प्रकार्यात्मक ढंग से धर्म की उपयोगिता को स्पष्ट करता है। बाद के दिनों में, धर्म के इस प्रकार्य पर अपने अध्ययनों द्वारा मैलिनास्की और रेडक्लिपफ ब्राउन ने भी प्रकाश डाला।

## संगठित धर्मों की संरचना

आधुनिक युग में छोटे–बड़े अनेक संगठित धर्म हैं। इनमें इसाई, इस्लाम, हिंदू, कनफ्रयूसियनवाद, बौद्ध तथा यहूदी धर्म प्रमुख हैं। भारत में इन धर्मों के अतिरिक्त सिक्ख, जैन और पारसी धर्म भी हैं। इन सभी धर्मों के अपने विश्वास और उपासना पद्धतियाँ हैं। धर्म की अपनी विचारधारा भी होती है। धर्म के लिए अनुयायियों का होना भी अनिवार्य है। इसके साथ ही साथ धर्मों की उपासना पद्धति और पूजा के स्थान होते है। इन कार्यों को करने वाले संगठन की भी आवश्यकता होती है। ईसाई इस्लाम, बौद्ध, यहूदी ऐसे धर्म है जिनके निश्चित प्रवर्तत है। हिंदू धर्म हैं। हिंदू धर्म के अनुयायियों की मान्यता है कि इसके मूलभूत विश्वासों का प्रतिपादन स्वयं ईश्वर ने किया है। प्रमुख धर्मों की मूलभूत मान्यताओं का संकलन किसी न किसी आदि ग्रंथ–जैसे हिंदुओं का वेदों में इसाइयों का बाइबिल और इस्लाम का कुरान शरीफ में है।

निश्चित प्रवर्तक, विश्वास और विचारधारा, आदिग्रंथ, उपासना स्थल, संस्थागत स्वरूप के अतिरिक्त प्रत्येक धर्म के साथ संस्कार और पौराणिक आख्यान भी जुड़े होते है।

राजनीतिक और आर्थिक क्रियाओं की भाँति धार्मिक क्रियाएँ भी होती है। संस्कार धार्मिक क्रिया का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार है। संस्कार प्राय: पवित्र पदार्थों से संबंधित होते है। इनका संपादन धार्मिक पद्धति का ही अंग है जो लौकिक और पारलौकिक उपलब्धियो के लिए किए जाते हैं। संस्कारों में केवल विश्वास की यथेष्ट नहीं बल्कि अपेक्षित विधि से संस्कार का संपादन अधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कार सर्वदा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किए जाते है। अत: वे उपयोगितावादी क्रिया की श्रेणी में भी आते है।

हिंदू जीवन पद्धति के अंतर्गत अनेक तरह के संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु तक संपादित किए जाते है। जिनमें प्रमुख है गर्भाधान, नामकरण, उपनयन विवाह और मृत्यु के बाद का क्रिया कर्म। कैथोलिक धर्म के अंतर्गत भी सात मुख्य संस्कारों पर जोर दिया गया है। जिनमें बैप्टिज्म आर्डिनेशन और विवाह प्रमुख हैं। इस्लाम में भी संस्कारों पर जोर दिया गया है प्रोटेस्टेण्ट धर्म आरंभ से ही संस्कारों के लिए संदेहशील रहा है।

प्रत्येक धर्म के विश्वासों और आदर्शों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति उस धर्म से संबंधित पौराणिक आख्यानों के माध्यम से होती है। हिंदू धर्म में सृजन, प्रलय, मानव–उत्पत्ति आदि से संबंधित अनेक पौराणिक आख्यान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम और कृष्ण के पौराणिक आख्यानों के माध्यम से प्राचीन भारतीय समाज के जो आदर्श और मूल्य थे उन्हें प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दी गई है। इसी तरह इसाई धर्म के अंतर्गत द लास्ट सपर, ईसा का जन्म, उनको सूली पर चढ़ाया जाना तथा उनके उपदेशों से संबंधित अनेक आख्यान हैं। इस्लाम धर्म के अंतर्गत भी पैगंबर के विचारों और क्रियाओं, इस्लाम के प्रचार प्रसार संघर्ष से संबंधित अनेक आख्यान हैं। पौराणिक आख्यानों के माध्यम से

सामाजिक आदर्श तथा आचार के नियम एक पीढ़ी तक पहुँचते रहते हैं, जिसमें लोगों को अपनी परंपरा, मूल्य तथा नीति का ज्ञान होता रहता है हिंदू, बौद्ध, इस्लाम, कन्फ्रयूसिसवाद, यहूदी, कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अतिरिक्त जितने भी धर्म है उनका विशेष जोर कर्मकाण्डों पर रहा। इन सबका दृष्टिकोण पारलौकिक था। अतः लौकिक और सामाजिक उपलब्धि इन धर्मों मे गौण रही।

इनके विपरीत प्रोटस्टैण्ट धर्म ने कर्मकाण्डों पर बहुत कम जोर दिया। इनका दृष्टिकोण लौकिक था। इस धर्म के मानने वालों के आचारशास्त्र के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना ही ईश्वर की असली सेवा है। इस धर्म ने समय, ज्ञान और धन की महत्ता पर बल दिया। आचारशास्त्र की इन विशेषताओं के कारण इंग्लैण्ड हालैण्ड और अमेरिका में उद्योगीकरण हुआ और पूंजीवाद का विकास हुआ। भारत, चीन, अरब देशों और दक्षिणी यूरोप में औद्योगीकरण एवं पूंजीवाद की शुरूआत नहीं हुई।

मैक्सवेबर के सिद्धांत की काफ़ी आलोचना हुई है। अपने देश में रूढ़िवादिता के बाद भी जैन लोग व्यापार के क्षेत्र में आगे बढ़े रहे। हिंदू धर्म के अनुयायियों में भी कुछ क्षेत्रों–जैसे राजस्थान, पंजाब, सिंध एवं गुजरात में वाणिज्य और उद्योगों के क्षेत्र में काफी दक्षता दिखाई पड़ती है। फिर भी मैक्सवेबर के इस सिद्धान्त की पूरे विश्व के बौद्धिक क्षेत्रों में काफी चर्चा हुई है।

## धर्म और जादू टोना

यहाँ पर यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या जादूटोने को धर्म की संरचना के अंतर्गत ही माना जाए? प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्सवेबर ने जादूटोने की धारणा का प्रयोग धार्मिक क्रिया के अर्थ में ही किया है। मैलिनॉस्की और फ्रेजर धर्म तथा जादूटोने की धारणा का, स्पष्ट रूप से दो विभिन्न अर्थों में, प्रयोग करते हैं। मैलिनॉस्की के अनुसार जादूटोना दृश्यपरक अथवा अदृश्यपरक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आधिभौतिक साधनों का प्रयोग है। मृत्यु के बाद आत्मा को शांति मिले और इससे संबंधित जो जादूटोना किया जाता है, वह अदृश्यपरक लक्ष्यों से संबंधित है। लेकिन बीमारी को दूर करने के लिए और रोगी के आराम के लिए किया गया जादूटोना दृश्यपरक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इसमें हम स्पष्ट रूप से देख सकते है कि बीमारी ठीक हुई या नहीं धर्म और जादूटोने में इस अर्थ में समानता है कि दोनों आधिभौतिक सत्ता से संबंधित है। इस अर्थ में जादूटोना धर्म की संरचना के अंतर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में सफेद और काले जादूटोने में अंतर किया गया है। वह जादूटोना जो आम भलाई के लिए किया जाए और जिसका उद्देश्य किसी को हानि पहुँचाना न हो उसे सफेद जादूटोने की संज्ञा दी गई है। जिस जादूटोने के द्वारा लोगों को नुकसान पहुँचे उसे काला जादू कहा जाता है।

## धार्मिक संगठन

पूरे विषय में प्रायः सभी धर्मों के अंतर्गत अनेक धार्मिक समूह पाए जाते हैं। इन धार्मिक समूहों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है।:

1. सदस्यता का स्वरूप अनिवार्य अथवा स्वयंसेवी।
2. स्वयं सेवी धार्मिक समूहों की सदस्यता के नियम कठिन अथवा अपेक्षाकृत सरल।
3. धार्मिक समूहों का दूसरे धार्मिक समूहों के प्रति दृष्टिकोण उदार अथवा अनुदार।
4. धर्मांतरण की अनुज्ञा अथवा अनुज्ञा का अभाव।
5. धार्मिक समूह का संगठन लोकतांत्रिक अथवा अलोकतांत्रिक।
6. साधारण सदस्यों के मोक्ष के लिए पुरोहित की अनिवार्यता अथवा अनिवार्यता का न होना।

धार्मिक समूहों के संगठन की दृष्टि से पूरे विश्व के रामन कैथॉलिक चर्च सर्वाधिक संगठित धार्मिक समूल हैं। पूरे विश्व के रोमन कैथोलिक चर्च के प्रधान बेटिकन (रोम) स्थित पोप हैं। इसके बाद इस संगठन का विश्व स्तर से लेकर स्थानीय अथवा ग्राम स्तर तकपूर्ण रूप से संगठित धार्मिक उपक्रम है। इसके ठीक विपरीत हिंदू धर्म है। हिंदू धर्म के अंतर्गत कोई संगठित चर्च की तरह धार्मिक उपक्रम नहीं है।

## संप्रदाय

धार्मिक समूहों की दृष्टि से संप्रदायों का विशेष महत्व है। संप्रदाय एक ऐसा धार्मिक संगठन है जो प्रचलित रूढियों के विरुद्ध विद्रोह करता है। प्रचलित धर्म और आचार के नियमों से अलग हटकर संप्रदाय नई मानसिक स्थिति विकसित करता है। और इसके लिए दैवी आदेश का

दावा करता है। संप्रदायों की उत्पत्ति सामाजिक असंतोष में निहित है। धर्म, विशेष के अंतर्गत ही अनेक प्रकार के संप्रदायों का उदाहरण दिया जा सकता है।

हिंदू धर्म के अंतर्गत छः दर्शनों के आधार पर इनके मानने वालों के संप्रदाय बने। बाद में यह विभाजन उपासना पद्धति और देवता अथवा देवी की पूजा करने वालों के आधार पर बन गए। उपासक और शक्ति (दुर्गा के उपासक) सामाजिक सुधार के मध्ययुगीन आंदोलनों के प्रभाव के कारण हिंदूधर्म के अंतर्गत अनेक पंथों जैसे नाथ पंथ, कबीर पंथ, नानक पंथ, उदासी, नागा आदि विकसित हुए। उन्नीसवीं सदी के समाज सुधार आंदोलनों के फलस्वरूप ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज और राधास्वामी जैसे संप्रदायों का उदय हुआ। इनके विपरीत परंपरा से चली आती परिपाटी का पालन करने वाले लोग अपने को सनातनी हिंदू मानते रहे। स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण, महर्षिरमण, महर्षि अरविंद, साईं बाबा आदि द्वारा स्थापित संप्रदायों के अपने केंद्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय केंद्र है।

इसाई धर्म के अंतर्गत भी अनेक संप्रदाय हैं। इनमें प्रमुख हैं: येथाडिस्ट एंडबेनिडस्ट, कनवर्सनिस्ट, आदि। सामान्य तौर पर इसाई धर्म के दो प्रमुख संप्रदाय हैं–कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट। इनके अंतर्गत भी अपने विभाजन हैं। इस्लाम के अंतर्गत सुन्नी और शिया दो मुख्य सप्रदाय हैं।

धर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि धर्म की सदस्यता प्रायः स्वयंसेवी समूह के रूप में काम करते है। इनकी सदस्यता व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर करती है। संप्रदाय के अंतर्गत प्रायः साधारण जन और पुरोहित का अंतर मिट जाता है पूरा संप्रदाय भाईचारा, समान उद्देश्य और समानता पर आधारित होता है। दूसरे धार्मिक समूहों के प्रति असहिष्णुता के उपरांत भी अपने आंतरिक संगठन में संप्रदाय प्रायः अधिक लोकतांत्रिक होते है।

## संप्रदाय और पंथ

प्रचलित मुख्य धर्म की कमियों और नई परिस्थितियों के अनुरूप उनमें परिवर्तन की इच्छा के कारण, नये संप्रदायों का जन्म होता है। अपने संप्रदाय के प्रति निष्ठा और दूसरे संप्रदायों के प्रति संघर्ष और विरोध की भावना के कारण संप्रदाय के अंदर एकता मजबूत होती है। जब प्रतिरोध की भावना दुर्बल पड़ने लगती है तो संप्रदाय धीरे–धीरे स्वीकृत पंथ में रूपांतरित हो जाता है। विभिन्न संप्रदायों, पंथों और धर्मों के बीच सामंजस्य तथा विनिमय की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। भारत में प्राचीन समय में हिंदू, बौद्ध और जैन धर्मों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। जिसकी परिणति हुई सूफ़ीमत के प्रचार प्रसार सिख और कबीर पंथ के उदय एवं दीन–ए–इलाही की स्थापना में हिंदू धर्म की सामाजिक संरचना जैसे जाति प्रणाली का व्यापक प्रभाव बौद्ध, जैन और इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर पड़ा। बाद मे जब भारतवासी इसाई धर्म के संपर्क में आए और इस संपर्क का प्रभाव उन्नीसवी सदी में परिलक्षित हुआ तो संस्थागत और सुधार आंदोलनों के रूप में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और रामकृष्ण मिशन का जन्म हुआ।

## धर्म की सामाजिक भूमिका

संगठित धर्म का समाज और व्यक्ति के जीवन में अप्रतिम स्थान है। धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक, सामाजिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। विचारधारा के स्तर पर धर्म सृजन, विनाश, जन्म, मृत्यु, सामाजिक और वैयक्तिक आदर्श, लौकिक तथा परलौकिक लक्ष्यो का संपूर्ण दर्शन प्रदान करता है।

समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्रों में धर्म की भूमिका पर पारसंस ने विचार किया है। इनके अनुसार धर्म द्वारा प्रतिपादित प्रतिमान और मूल्यों के आधार पर समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण में सहायक मिलता है। धार्मिक मान्यताओं के द्वारा धर्म विशेष के अनुयायी वांछनीय और अवांछनीय माना जाता है उसको वे नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं। एक समूह के रूप में धर्म सामुदायिकता, भाईचारा, एकता की भावना विकसित करता है। सामाजिक जीवन को संगठित नियोजित और निर्देशित करने में धर्म की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है। धर्म व्यक्ति के जैवकीय पक्ष का भी नियमन अपने अनुयायियों के लिए स्वीकृत विवाह तथा परिवार के नियमों के माध्यम से करता है। इस अर्थ में दुर्खीम का यह विचार अत्यंत महत्त्व पूर्ण है कि सामाजिक उत्सवों, संस्कारों और कर्मकाण्डों के माध्यम से धर्म सामाजिक सुदृढता को शक्तिशाली बनाता है।

संगठित धर्म का सबसे बड़ा योगदान सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने और सामाजिक नियंत्रण को सुदृढ़ करने में है। धर्मग्रथों, धर्मगुरूओं के उपदेशो, प्रार्थना सभाओं, सम्मेलनों आदि के माध्यम से आज भी धर्म व्यक्ति और समूह के दृष्टिकोण और व्यवहार को नियंत्रित करता है। पारंपरिक रूप से धर्म ने अपनी मान्यताओं तथा मूल्यों संस्थाओं और संगठनो, सामूहिक उत्सवों आदि के माध्यम से

सामाजिक नियंत्राण की प्रक्रिया में धर्म के आधार रूढ़ियों और प्रथाओं को स्वीकार कर लेता है और इनके माध्यम से विवाह, परिवार के अन्य सदस्यों के पारस्परिक संबंध, संपत्ति और उत्तराधिकार की धारणा आदि का निर्णय होता है। धर्म निम्नलिखित विधियों से सामाजिक नियंत्राण की प्रक्रिया में सहायक होता है।

1. प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में पाप और पुण्य की धारणा पाई जाती है। बचपन से ही समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा धर्म की पाप और पुण्य, अच्छाई और बुराई तथा सद्कर्म और दुष्कर्म की धारणाएँ इसके सदस्यों के व्यवहार का अंग बन जाती है। वे व्यक्ति का उसके पूरे जीवन में निर्देशन करती रहती हैं।

2. धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप ही उसके अनुयायियों के लिखित अथवा उल्लिखित वैयक्तिक कानून–जो विवाह, परिवार, उत्तराधिकार, अधिकार और कर्तव्य का विवेचन करते हैं, विकसित होते हैं। अतः धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप ही इन सामाजिक संस्थाओं के नियम भी विकसित होते हैं और वे व्यक्ति तथा समूह के जीवन को नियंत्रित करते हैं।

3. धर्म की संस्थाएँ और उनके संगठन, अर्थ, मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारा और उनसे संलग्न धार्मिक व्यक्ति विभिन्न स्तर पर अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण करते रहते हैं।

4. धार्मिक प्रवचनों, उपदेशों, उत्सवों, सामुदायिक कार्यक्रमों के माध्यम से भी धर्म अपने सदस्यों के व्यवहारों का नियंत्रण करता है।

5. संगठित धर्मों ने लाभ तथा संपत्ति की धारणा को भी प्रभावित किया है और वे अपने निर्धन सदस्यों के कल्याण के लिए विशेष योजनाएँ चलाते हैं। शिक्षा, चिकित्सा तथा समाज कल्याण की अन्य योजनाओं के माध्यम से भी धर्म सामंजस्य और एकता में वृद्धि करता है।

## धर्म और सामाजिक उप–प्रणालियाँ

सामाजिक प्रणाली की जो विभिन्न उप–प्रणालियाँ जैसे नातेदारी, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा विज्ञान आदि हैं, उनसे भी धर्म का गहरा संबंध है। धर्म, यौन संबंधों का नियमन एवं नातेदारी एक दूसरे से गहराई से जुड़े हैं। प्रायः सभी धर्मों में यौनेच्छा को इस संसार की बुराई के रूप में चित्रित किया गया है। और इसके नियमन पर भी बल दिया गया है लेकिन विभिन्न धर्मों ने यौनेच्छा पर आधारित सामाजिक संबंधों को नकारा भी नहीं है। हिंदू समाजव्यवस्था में काम चार पुरुषार्थों में से एक है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह और गृहस्थ जीवन अनिवार्य है। यौनेच्छा को नियमित करने वाली पद्धति के रूप में विवाह एक धर्म सम्मत प्रणाली है। विवाहसूत्र में आबद्ध होकर पति पत्नी बनने वाले लोगों के आपसी कर्त्तव्य और दायित्व क्या हैं? माता–पिता और संतान के आपसी कर्तव्य और दायित्व क्या हैं? भाई–बहन के संबंध किस प्रकार के हों? इनका निर्णय धर्म द्वारा निर्देशित सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने भी इस बात की पुष्टि की है कि भारत में धर्म, नातेदारी व्यवस्था का आधार है। भारत और चीन दोनों देशों में पूर्वजों की पूजा को प्रणाली का संयुक्त और विस्तृत परिवार को स्थायित्व प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण हाथ है।

इसाई, इस्लाम तथ यहूदी धर्म के अनुयायियों में भी नातेदारी, विवाह और परिवार को इन धर्मों की मान्यताओं और क्रियाओं ने प्रभावित किया है। हिंदुओं के अनुसार विवाह एक संविदा न होकर संस्कार है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता है। इसी तरह कैथोलिक धर्म में भी विवाह विच्छेद का निषेध है इस्लाम और प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुसार विवाह दो व्यक्तियों के बीच की संविदा है। हिंदुओं, यहूदियों और कैथोलिक धर्मावलंबियों में विवाह विच्छेद की दर प्रोटेस्टेन्ट और इस्लाम धर्म के अनुयायियों की तुलना में काफी कम है।

## धर्म और अर्थप्रणाली

धर्म और अर्थप्रणाली के संबंधों पर भी समाजशास्त्रियों ने विचार किया है। जुम्बार्ट और मैक्स वेबर ने धर्म और अर्थप्रणाली पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है कि आज की पूंजीवादी प्रणाली विवेक शीलता, समय के सदुपयोग, बचत, संगठन, कर्मचारीतंत्र, प्रतिस्पर्धा तथा धन कमाने की इच्छा पर आधारित है। जम्बार्ई पूंजीवाद की इस चेतना का संबंध जहाँ यहूदी धर्म के आचार में ढूँढते हैं वही मैक्स वेबर के अनुसार इस पूंजीवादी चेतना का उद्यम प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आधार शास्त्र में अंतर्निहित है। इसके विपरीत इन दोनों विचारकों का मत है कि पूर्व के धर्मों खासतौर से हिंदू, बौद्ध कनफ्यूशियस तथा इस्लाम ने इस आर्थिक विवेकशीलता, प्रतिस्पर्धा तथा सांसारिक दृष्टिकोण को जन्म नहीं दिया जो आधुनिक औद्योगिक पूंजीवादी प्रणाली के विकास के आवश्यक तत्त्व हैं।

## धर्म और विधान

विज्ञान, धर्म तथा उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए जुंबार्ट और मैक्सवेबर ने अर्थप्रणाली से संबंधित तर्कों का प्रयोग किया है। पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में ज़हाँ प्रोटेस्टेण्ट अथवा यहूदी धर्म को मानने वाले लोग हैं वहां विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका की तुलना में कापफी पहले और तीव्रता से हुआ।

जिन देशों में धार्मिक कट्टरता अधिक रही और जहाँ पर धर्म तथा राज्य में परस्पर गठजोड़ रहा उन जगहों पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास नहीं हुआ। धर्म के मूल आधार आध्यात्मिकता, आस्था और विश्वास है। विज्ञान का आधार निरीक्षण, परीक्षण, खोज और शंका हैं। इस तरह विज्ञान और धर्म एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी के रूप मे दिखाई पड़ते हैं।

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि धार्मिकता के उपरांत भी औपनिवेशिक शासन के आरंभिक दिनों तक भारत गणित, खगोल विज्ञान, भाषाशास्त्र, वाणिज्य, भवन, निर्माण, पानी के जहाजों के निर्माण के क्षेत्र में पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना में पीछे नहीं था।

## धर्म और राजव्यवस्था

समाजशास्त्रियों ने धर्म और राजनीति के संबंधों पर भी विचार किया है। प्राचीन और मध्ययुगीन राज्यप्रणाली (राजा तथा सम्राट) को धर्म के कारण (वैद्यता) मिली। जापान में सन् 1945 तक सम्राट की पूजा ईश्वर की भाँति होती थी। इंग्लैण्ड और हालैण्ड में जहाँ लोकतंत्र के साथ राजा का भी अस्तित्त्व शेष है, वहाँ राज्याभिषेक मे चर्च की भूमिका आज भी महत्त्वपूर्ण है।

आज भी राज्यप्रणाली पर अनेक देशों में धर्म का प्रभाव है। भूटान एक बौद्ध राज्य है। नेपाल हिंदू राज्य है। ईरान, पाकिस्तान और बांग्लादेश इस्लामी राज्य हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक देशों की राजनीतिक पद्धति पर भी धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। पश्चिमी और दक्षिणी यूरोप के अनेक देशों–जैसे इटली, पश्चिमी जर्मनी, आदि में धर्म पर आधारित अत्यंत शक्तिशाली राजनीतिक दल कार्यरत हैं सन 1947 में मुस्लिम लीग की माँग पर भारत का–भारत एवं पाकिस्तान इन दो राज्यों में विभाजन हुआ। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और नगरीकरण के प्रभाव के कारण सामाजिक संरचना पर धर्म के प्रभाव में कमी आई है और विवेक के कारण धार्मिक कट्टरता भी घटी है। अप्रवास, आवागमन के साधनों की वृद्धि और नई विचाराधाराओं के कारण मानव मात्र की एकता और मानवता के धर्म की भावना भी तीव्र हुई है।

जहाँ तक आस्था, प्रेम, करुणा, पारस्परिक सहयोग और बंधुत्व की दृष्टि से धर्म का महत्त्व आज भी बहुत है। पिछले कुछ वर्षों में एक बार फिर पूरे विश्व में किसी न किसी रूप में धार्मिक कट्टरता की लहर उठ रही है जो दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता, सहधर्म, सामंजस्य भाईचारे के स्थान पर घृणा, आतंक, पफूट तथा हत्या का बीज बो रही है। इस तरह की मनोवृत्ति धार्मिकता कट्टरता तथा संकीर्णता पर आधारित है धर्म का यह नकारात्मक पक्ष है।

## परिवर्तनशील समाज और धर्म

आज की वैज्ञानिक प्रति, प्रौद्योगिकी के विकास और नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हुई है। सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया विचारधारा और संगठन, दोनों स्तरों पर परिलक्षित हो रही है। पुरानी आस्थाएँ, मूल्य और मान्यताएँ बदल रही हैं। धर्म का मूल आधार ही मान्यता और आस्था है। जबकि विज्ञान संवाद, निरीक्षण, परीक्षण और स्रोत पर आधारित है। धर्म के अनुसार इसके संचालन में दैवी शक्ति का हाथ है। विज्ञान इसकी व्याख्या प्राकृतिक तत्त्वों और मानवीय शक्ति एवं बुद्धि के माध्यम से करता है। इस तरह धर्म और विज्ञान के मूलभूत दृष्टिकोण में परस्पर विरोध है।

विज्ञान की महती उपलब्धियों ने धर्म की मान्यताओं के सम्मुख प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। मानवीय समाज के आरंभिक दिनों में संगठित धर्मों की उत्पत्ति हुई उस समय सामाजिक संगठन अत्यंत सरल था। अधिकतर लोग जन–जातीय अथवा ग्रामीण सामाजिक संगठन और अर्थव्यवस्था के अंग थे। सामाजिक जीवन में सजातीयता थी। विज्ञान और प्रविधि भी अपनी आदिम अवस्था में थे। मनुष्य को अपनी शक्ति और बुद्धि पर विश्वास नहीं था और एक प्रकार से यह प्राकृतिक शक्तियों तथा पर्यावरण पर पूर्ण रूप से निर्भर था। सरल, स्थिर, लघु तथा सजातीय समुदायों के स्थान पर जब अत्यंत जटिल, अस्थर, विषयपरक और विजातीय सामाजिक व्यवस्था विकसित हो चुकी है तो धर्म की भूमिका दुर्बल पड़ रही है।

धर्म की समुदायगत, संप्रदायगत बंधुत्व की भावना प्रत्यक्ष, वैयक्तिक एवं अनौपचारिक संबंधों पर आधारित थी लेकिन आज के अप्रत्यक्ष, अवैयक्तिक, औपचारिक, औद्योगिक, नगरीय व्यवस्था के मध्य समुदायगत बंधुत्व की भावना का औचित्य क्या है? इस तरह धार्मिक मान्यता

और संगठन दोनों के सम्मुख प्रश्न चिन्ह हैं। कुछ लोगों का विचार है। कि इस तरह की व्यवस्था में धर्म अपनी उपादेयता खो चुका है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में समाज की वर्ग संघर्ष पर आधारित व्याख्या करते हुए मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी थी जो लोगों की चेतना को कुंठित करता है। इनके अनुसार धर्म सर्वदा शक्तिशाली वर्ग के हाथ में शोषण का हथियार रहा है। दूसरी और ऐसी भी मान्यता है कि बदलती परिस्थिति के अनुसार धर्म की कार्यप्रणाली में भी परिवर्तन हो रहा है।

पश्चिम और पूर्व में शिक्षित तथा प्रबुद्ध लोगों का एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ है जो धर्म एवं ईश्वर में विश्वास नहीं करता है। बदलती परिस्थितियों में एक ऐसा वर्ग भी पैदा हुआ है। जो सभी धर्मों की एकता में विश्वास करता है। ऐसे लोगों के अनुसार सभी धर्मों ने सच्चाई, करुणा, भाईचारे का पाठ पढ़ाया है और इस तरह से एक समान मानवधर्म की भावना भी सशक्त हुई है। इसाई धर्म के अंतर्गत चर्च ने औद्योगिक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अनुरूप अपने संगठन, समय तथा उपदेश की पद्धतियों में परिवर्तन किया है। परिवर्तन की एक अन्य प्रक्रिया जो पूर्व और पश्चिम में समान रूप से दिखाई पड़ रही है, वह बढ़ती धार्मिक कट्टरता है। सभी धर्मों के मानने वाले लोगों के एक छोटे से वर्ग के मध्य पुनः धार्मिक संकीर्णता की लहर तीव्र हुई है और इसने राजनीति तथा अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित किया है। इरान तथा पाकिस्तान इसके उदाहरण है।

## नई प्रवृतियाँ और समस्याएँ

भारत में भी धर्म के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ रहे हैं। मध्ययुगीन और आधुनिक सुधार के आंदोलनों के फलस्वरूप धार्मिक कट्टरता तथा अंधविश्वास में कमी आई है। भारत की सामाजिक संरचना पर विचार किया जाए तो यहाँ प्रायः 85 प्रतिशत हिंदू, 10 प्रतिशत मुसलमान और 5 प्रतिशत में इसाई सिक्ख, बौद्ध जैन, पारसी तथा आदिवासी धर्मों को मानने वाले लोग हैं। हिंदू धर्म उस अर्थ में संस्थागत नहीं है जिस अर्थ में ईसाई तथा इस्लाम धर्म हैं। हिंदू धर्म को भी संस्थागत स्वरूप देने वाले संप्रदायों का जन्म उन्नीसवीं सदी में हुआ। आर्यसमाज की अपनी राष्ट्रीय, प्रादेशिक और स्थानीय समितियाँ हैं। रामकृष्ण मिशन के भी अपने केंद्र और पूजा स्थल सारे विश्व में हैं। इसमें भी इसाई मिशनरियों की भाँति मिशन को समर्पित युवकों का दल महर्षि अरविंद, महर्षि रमण, साईं बाबा के अनुयायियों के अपने संगठन और केंद्र हैं। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि इन सभी संप्रदायों ने शिक्षित, नगरीय मध्यम वर्ग को ज्यादा प्रभावित किया है। और इनके केंद्र भी अधिकतर नगरों में ही सीमित हैं। ये केंद्र समाजकल्याण के अन्य कार्यों में भी लगे हैं।

इसी तरह इसाई इस्लाम, सिक्ख और पारसी धर्म के अनुयायियों ने भी शिक्षा चिकित्सा और समाजकल्याण के क्षेत्र में आधुनिक प्रभाव के अंतर्गत काफी कार्य किया है।

वैज्ञानिक मान्यताओं और नई विचारधाराओं ने एक ओर तो धर्म के प्रभाव को सीमित किया है। दूसरी ओर वैज्ञानिक अन्वेषणों ने मानव के विनाश की जो स्थिति पैदा की है उसके मध्य आध्यात्मिक शांति तथा मानवीय गरिमा की प्राप्ति हेतु लोगों का ध्यान पुनः धर्म की ओर आकर्षित हुआ है। ये दोनों परस्पर विरोधी प्रक्रियाएँ समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए अध्ययन का महत्त्वपूर्ण अवसर प्रदान करती है। धार्मिकता का एक नकारात्मक पक्ष भी है। विश्व के अन्य भागों में जैसे धार्मिक कट्टरता की लहर उठी है उस तरह की प्रवृति भारत में भी कुछ लोगों में दिखाई दे रही है। धार्मिक कट्टरता के कारण घृणा, हिंसा तथा असहिष्णुता फैल रही है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से धर्म के इस नकारात्मक पक्ष के विश्लेषण की भी आवश्यकता है।

# जातिः अवधारणा, उत्पत्ति एवं संरचना (Caste: Concept, Origin and Structure)

## जाति व्यवस्थाः तीन परिप्रेक्ष्य (The Caste System: Three Perspectives)

भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया हैः भारतशास्त्रीय (Indological), समाज–मानवशास्त्रीय (Sociao-anthropological) तथा समाजशास्त्रीय (sociological)। भारतशास्त्रियों ने जाति का अध्ययन धर्म ग्रंथीय (scriptual) दृष्टिकोण से किया है, समाज मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया है तथा समाजशास्त्रियों ने स्तरीकरण के दृष्टिकोण से किया है।

भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतशास्त्रियों ने जाति प्रथा की उत्पत्ति, उद्देश्य एवं इसके भविष्य के विषय में धर्मग्रन्थों का सहारा लिया है। उनका मानना है कि ''वर्ण'' की उत्पत्ति विराट पुरुष–ब्रह्मा–से हुई है तथा जातियाँ इसी वर्ण व्यवस्था के भीतर खण्डित (fissioned) इकाइयाँ हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाह प्रथाओं के परिणामस्वरूप हुआ। इन इकाइयों या जातियों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत एक–दूसरे के सम्बन्ध में अपना–अपना दर्जा (rank) प्राप्त हुआ। चारों वर्णों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कृत्य व संस्कार (rituals) स्तरीकृत (status-bound) हैं जिनका उल्लेख ई.सी. 800 वर्ष पूर्व रचित पुस्तक ''ब्राह्मण'' में मिलता है, जबकि प्रत्येक जाति द्वारा

पालन किए जाने वाले रीति–रिवाजों तथा नियमों का स्पष्ट उल्लेख (200–100 बी.सी. में लिखी गई) ''स्मृतियों'' में मिलता है। कालान्तर में जाति सम्बन्धों को क्षेत्र, भाषा तथा मतों में अन्तर ने भी प्रभावित किया है। भारतशास्त्रियों के अनुसार जाति की उत्पत्ति का उद्देश्य श्रम का विभाजन करना था। जैसे–जैसे लोगों ने समाज में चार समूहों अथवा वर्गों व वर्गों में विभाजन स्वीकार करना प्रारम्भ किया, वे अधिक कठोर होते गए और जाति की सदस्यता तथा व्यवसाय वंशानुगत होते गए। सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मणों को नियमों की व्याख्या करने तथा उन्हें लागू कराने का दैवी–अधिकार (divine right) प्राप्त है। इस प्रकार जाति व्यवस्था में कठोरता का समावेश ''कर्म''/( कृत्य) तथा ''धर्म''/(कर्तव्य व दायित्व) में विश्वास के कारण होता गया जिससे स्पष्ट है कि जाति रुढ़ियों, परम्पराओं व नियमों (dogmas) में विश्वास के पीछे धर्म की निश्चित रूप से प्रेरक शक्ति रहा है। जाति के भविष्य के विषय में भारतशास्त्री मानते हैं कि क्योंकि जातियाँ दैवीय रचना हैं, अतः इनका अस्तित्त्व बना रहेगा। (Verma: 1972, P.159)

हट्टन, रिजले, होबेल, क्रोबर, आदि सामाजिक मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को चार दिशाओं में स्पष्ट किया है: संगठनात्मक (Organisational), संरचनात्मक (Structural), संस्थात्मक (Institutional), तथा सम्बन्धात्मक (Relational) (Verma : 1972)। हट्टन आदि की संगठनात्मक एवं संरचनात्मक विचारधारा के अनुसार जाति प्रथा केवल भारत में ही पाई जाने वाली अद्वितीय व्यवस्था है। दोनों विचारों (संगठनात्मक व संरचनात्मक) में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम विचार जाति व्यवस्था की उत्पत्ति पर केन्द्रित है और दूसरा विचार जाति व्यवस्था के विकास एवं संरचना में आने वाले परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध है। रिजले एवं क्रोबर जैसे विद्वानों का संस्थात्मक दृष्टिकोण जाति को केवल भारत के प्रसंग में ही अनुकूल नहीं मानता, बल्कि प्राचीन मिश्र, मध्यकालीन यूरोप और वर्तमान दक्षिण संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इसे अनुकूल मानता है। सम्बन्धात्मक दृष्टिकोण वाले विद्वानों का मानना है कि जाति जैसी स्थितियां सेना, व्यापार–प्रबंध, फैक्ट्री आदि में भी पाई जाती है तथा समाज में जाति व्यवस्था की उपस्थिति या अनुपस्थिति समूहों में गतिशीलता की उपस्थिति या अनुपस्थिति से सम्बद्ध होती है। यदि गतिशीलता सामान्य होगी तो जाति व्यवस्था नहीं होगी किन्तु यदि इसमें रुकावट हो तो जाति व्यवस्था होती है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति व्यवस्था को समाज में स्तरीकरण के रूप में तथा सामाजिक असमानता की प्रघटना के रूप में देखा गया है। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार समाज के कुछ संरचनात्मक पक्ष होते हैं और समाज अपने सदस्यों को विभिन्न सामाजिक स्थितियों (positions) में बाँट देता है। इन सदस्यों के बीच की अन्तःक्रिया सामाजिक संरचनाओं का आधार होती है और अन्तःक्रिया के प्रकार व सम्बद्ध आदर्श (norms) सामाजिक संरचनाओं को श्रेणीबद्ध करते हैं।

यद्यपि हमने यहाँ तीन विविध परिप्रेक्ष्यों को सन्दर्भित किया है, लेकिन जाति व्यवस्था के अध्ययन में इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजशास्त्री, भारतशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों की भाँति जाति प्रथा की उत्पत्ति और विकास में रुचि नहीं रखते या फिर सामाजिक मानवशास्त्री समाजशास्त्रियों की तरह जाति को सामाजिक स्तरीकरण का परिणाम नहीं मानते हैं। सामाजिक मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री दोनों ही जाति व्यवस्था के बाह्य पहलू (एक जाति के अन्दर सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध) का अध्ययन करते हैं तथा जाति व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई स्थितियों का विश्लेषण करते हैं। जाति व्यवस्था के विभिन्न पक्षों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के पहले जाति की अवधारणों को समझना आवश्यक है।

## जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणाएं (Structural and Cultural Concepts of Caste)

जाति को इकाई (unit) एवं व्यवस्था (system) की दृष्टि से देखा जा सकता है। इसे सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक घटनाओं की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। ''इकाई'' के रूप में जाति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है: ''जाति एक बन्द कोटिवाला स्थिति समूह है'', अथवा एक ऐसा समूह है जिसमें सदस्यों की प्रस्थिति, उनका व्यवसाय, जीवन–साथी को चुनने का क्षेत्र तथा दूसरे सदस्यों के साथ अन्तक्रिया सभी कुछ निश्चित होता है। ''व्यवस्था'' के रूप में जाति का सम्बन्ध अन्तर्सम्बन्ध प्रस्थितियों (interrelated statuses) और जातियों के बीच उस प्रतिमानित (patterned) अन्तःक्रिया से है जो विभिन्न प्रतिबन्धों के संग्रह (collectivity) पर आधारित है; जैसे, सदस्यता, परिवर्तन पर प्रतिबन्ध, व्यवसाय परिवर्तन पर प्रतिबन्ध, विवाह पर प्रतिबन्ध एवं सहभोज सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध। जाति को व्यवस्था के रूप में दृष्टिगत रखने के पीछे एक पूर्व मान्यता (presupposition) यह है कि कोई भी जाति एकाकी रहकर अस्तित्त्व में नहीं रह सकती तथा प्रत्येक जाति दूसरी जातियों से आर्थिक, राजनैतिक एवं संस्कारों के सम्बन्धित जाल में निकट से सम्बद्ध रहती है। जाति व्यवस्थ की ''बन्द कोटि समूह'' (closed rank group) होने की विशेषता इसकी संरचना की भी व्याख्या करती है। एक ''सास्कृतिक घटना'' के रूप में जाति को ''मूल्यों, विश्वासों तथा प्रचलनों के संग्रह (सेट)'' के रूप में देखा जा सकता है।

अधिकतर विद्वानों ने जाति को एक संगठन के रूप में माना है, न कि मूल्यों एवं प्रवृत्तियों के समूहन के रूप में। बूगल (Bougle, 1958: 9) ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जाति वंशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रूप से गठित (hierarchicllay arranged) समूह है। उन्होंने जाति की तीन विशेषताएँ बताई हैं: पैतृक विशिष्टता (hereditary specialisation), श्रेणीबद्धता (hierarchy), तथा तिरस्कार (repulsion)। तिरस्कार की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि विविध जातियाँ एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने की अपेक्षा एक दूसरे का तिरस्कार करती हैं। तिरस्कार की यह भावना अन्तर्विवाह, सहभोग प्रतिबन्धों तथा सम्पर्क में स्पष्ट होती है। परन्तु यह सत्य नहीं है। जातियों में तिरस्कार नहीं मिलता, क्योंकि उन्हें एक दूसरे की जातियों में आवश्यकता पड़ती है।

क्रोबर (Kroeber, 1939:254) ने जाति की परिभाषा करते हुए कहा है: ''जाति नृवंशीय (ethnic) इकाई का एक अन्तर्विवाही, वंशानुगत उप विभाग (sub-division) है जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य ऐसे भागों की तुलना में ऊँची या निम्न होती हैं।'' क्रोबर के अनुसार जातियाँ सामाजिक वर्गों के विशेष स्वरूप हैं जो कम से कम प्रवृत्ति में प्रत्येक समाज में मिलती हैं। अतः क्रोबर की जाति की धारणा वर्तमान समाजशास्त्र में प्रचलित स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त से सम्बद्ध है। कैथलीन गफ (देखें, लीच, 1960:11) के अनुसार, ''जाति जन्म स्थिति के आधार पर उच्च व निम्न पद (rank) वाले समूह होते हैं जो आमतौर पर अन्तर्विवाही होते हैं तथा एक ऐसे पेशे से जुड़े होते हैं।'' सेनार्ट (Senart, 1930) ने कहा है, ''जाति एक वंशानुगत बन्द संगठन (corporation) हैं जो कि दूसरी जातियों से सामान्य पेशों (occupations) से जुड़ा रहता है और जिसमें एक परिषद (council) भी होती है जो अपने सदस्यों पर कुछ दण्ड विधान लागू करके उनके व्यवहार को नियमित करती है।'' यद्यपि जाति का यह वर्णन गलत नहीं है किन्तु ''बन्द संगठन'' शब्द प्रश्नास्पद व शंकनीय है। इसके अतिरिक्त सभी जातियों में परिषदें नहीं पाई जाती हैं।

बेली (Bailey 1960) और श्रीनिवास (1962) ने जाति की परिभाषा की समस्या को दूर ही रखा हैं। उन्होंने जातियों को संरचनाएँ (structures) माना है। केतकर, दत्त, तथा ओपलर ने भी जाति की परिभाषा देने की अपेक्षा जाति व्यवस्था के अनुमानात्मक (inductive) लक्षणों को ही बताया है। केतकर (1909:15) के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं: वंशानुगत सदस्यता और अन्तर्विवाह। हट्टन (Hutton, 1963a:48) ने केतकर द्वारा दिए गए लक्षणों की आलोचना करते हुए कहा है कि दक्षिण भारत में बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जो अन्य जातियों के सदस्यों को भर्ती करती हैं। अपने इस तथ्य के समर्थन में उसने कुछ उदाहरण दिए हैं, जैसे ''अम्बालावासी'' (दक्षिण भारत के मलाबार में पाई जाने वाली मन्दिर सेवकों की जाति), ''शागिर्द पेशा' (घरेलू नौकर), ''चासा'' (खेतिहर) तथा उड़ीसा की ''करन'' (लेखक) जातियां। लेकिन हट्टन के उदाहरण अपवादात्मक एवं दुर्लभ हैं और इन उदाहरणों के प्रकाश में किसी परिभाषा की आलोचना नहीं की जा सकती। तथापि, हट्टन यह अनुभव करते हैं कि एन.के दत्त द्वारा दिया गया जाति के विषय में वर्णन काफी उपयुक्त है और समूचे भारत में लागू माना जा सकता है। मौरिस (1950:284) का भी कथन है कि जाति की छोटी परिभाषा करना उपयुक्त नहीं है; अतः जाति की विशेषताओं के आधार पर बात करना अधिक उचित है। दत्त ने इस सन्दर्भ में जाति की विशेषताएँ बताई है: ''जाति वंशानुगत व अन्तर्विवाही है। यह सामाजिक अन्तःक्रिया को नियंत्रित करती है, अनुक्रम में क्रमबद्ध है तथा इसमें एक सभा व प्रबन्ध–निकाय (governing body) होती है जो इस (जाति) के आन्तरिक मामलों को नियमित करती है।

इस प्रकार सभी विद्वान जाति व्यवस्था को समेकताओं से संरचित (composed of solidarities) व्यवस्था मानते हैं। उनके दृष्टिकोण या तो सभ्यता के दर्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं (जैसा कि केलकर व दत्त के विचारों से पता चलता है) या संस्कृति के मानवशास्त्रीय सिद्धान्तों से (जैसा कि क्रोबर व रिज़ले के विचारों से पता चलता है) या फिर समाज के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों से (जैसा कि बूगल तथा धुर्ये के विचारों से पता चलता है)।

धुर्ये (1957:2–19) ने भी इसी से मिलती जुलती जाती की विशेषताएँ बताई हैं: वंशानुगत सदस्यता, जाति परिषद्, श्रेणीबद्धता, अन्तर्विवाह, भोजन व सामाजिक व्यवहार पर प्रतिबन्ध, पेशे के स्वतन्त्र चुनाव पर प्रतिबन्ध तथा नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ।

## जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति (Caste, Varna, Sub-Caste and Tribe)

अनेक लोग जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति शब्दों में भ्रमित होते हैं। जाति को समाजशास्त्र की दृष्टि से एक संस्था के रूप में विश्लेषण करते समय उपरोक्त शब्दों की अन्तर्परिवर्तनीयता को लेकर भ्रम है। इस अवधारणात्मक भ्रान्ति की चर्चा करते हुए एस.सी. दूबे (1958: VI) ने कहा है कि विश्लेषणात्मक संक्षिप्त उपाय (short-cuts) इनमें (अर्थात् वर्ण, जाति और उप–जाति शब्दों में) अन्तर को बहुधा धुंधला करते हैं और सामाजिक व्यवस्था का परिणामी वर्णन (resulting portrayal) अर्थपूर्ण तुलना के लिए उपयुक्त नहीं रह पाता। जाति के अध्ययनों में सामान्य परिचालित (operational) परिभाषाओं और विश्लेषण के इकाईयों से सम्बन्धित सामान्य सहमति की कमी जाति को हिन्दू भारत की सामाजिक व्यवस्था के एक आवश्यक पहलू के रूप में समझने को धूमिल करती हैं। यद्यपि इन अवधारणाओं में स्पष्टीकरण

की आवश्यकता पर धुर्ये, श्रीनिवास, दूबे, बेली, मेयर आदि विद्वानों ने बल दिया है, फिर भी पूर्ण रूप से स्पष्ट कथन किसी ने भी नहीं दिया है। तर्कपूर्वक आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति, ''वर्ण'' का विकसित रूप है जो प्राचीन भारत में वर्ग के रूप में प्रारम्भ हुए थे और धीरे–धीरे इन्हें धार्मिक मान्यता प्राप्त हो गई। जाति व्यवस्था का समर्थन करते हुए यही धार्मिक सिद्धान्त जाति व्यवस्था और स्तरीकरण में भेद करता है जो कि अमेरिका व अन्य देशों में प्रदत्त प्रस्थिति, अन्तर्विवाह, तथा निम्न स्थिति के रूप में पाया जाता है (जैसे नीग्रो में)।

## जाति और वर्ण (Caste and Varna)

जाति और वर्ण दोनों भिन्न धारणाएँ हैं। सेनार्ट प्रथम व्यक्ति था जिसने यह बताया कि जाति व वर्ण समान नहीं है। हिन्दू सामाजिक संगठन की विशिष्टता यह है कि यह ''वर्णाश्रम'' व्यवस्था पर आधारित है। यद्यपि ''वर्ण'' व्यवस्था तथा ''आश्रम'' व्यवस्था दो अलग–अलग संगठन हैं फिर भी वे एक साथ हैं, क्योंकि वे मनुष्य की प्रकृति व पालन पोषण की समस्याओं के विषय में बताते हैं। आश्रम व्यवस्था मनुष्य के जीवन के विविध अवस्थाओं में व्यक्ति के सांसारिक व्यवहार के विषय में मार्गदर्शक है और वर्ण–व्यवस्था मनुष्य के स्वभाव के अनुसार काम करने की स्थिति का निर्देश देती है। इन दोनों व्यवस्थाओं के अध्ययन की धारणा भिन्न है। आश्रम व्यवस्था में जीवन की चार अवस्थाओं के अन्तर्गत व्यक्ति की शिक्षा–दीक्षा अथवा पालन–पोषण का सम्बन्ध है: ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यास। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की उसके निजी स्वभाव एवं प्रवृत्तियों के संदर्भ में अपने समूह में स्थिति पर विचार किया जाता है।

''वर्ण'' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में (4000 बी.सी. में लिखा गया) सबसे पहले प्रयोग किया गया है और प्रारम्भ में केवल ''आर्य'' और ''दास'' दो वर्णो का ही वर्णन है। इसी वेद में समाज के तीन व्यवस्थाओं (orders) में विभाजन का भी वर्णन है: ब्रह्म (पण्डित), क्षात्र (योद्धा), और विस (सामान्य जन)। चौथी व्यवस्था ''शूद्र'' का वर्णन नहीं है, यद्यपि आर्यों के द्वारा घृणा किए जाने वाले समूहों–''अयोग्य'', ''चाण्डाल'', तथा ''निषाद'' शब्दों–का वर्णन मिलता है।

यही चार व्यवस्थाएँ आगे चलकर चार ''वर्ण'' हो गए। प्रारम्भ में ''शूद्रों'' को अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। श्रीनिवास (1962:63) ने भी माना है कि चौथी व्यवस्था के ''शूद्र'' अस्पृश्य नहीं थे, बल्कि इस समूह में किसान, श्रमिक एवं सेवक थे। ''शूद्रों'' को घरेलू नौकरों के रूप में ही नहीं बल्कि रसोइए के रूप में भी लगाया जाता था। इस प्रकार वैदिक काल में उच्च या निम्न ''वर्ण'' जैसा कुछ भी नहीं था। समाज का इन चार वर्णों या व्यवस्थाओं में विभाजन श्रम विभाजन पर आधारित था। ब्राह्मण पुजारी के रूप में, क्षत्रिय शासक व योद्धा के रूप में, वैश्य व्यापारी के रूप में, तथा शूद्र ''सेवक'' के रूप में कार्य करते थे। प्रत्येक ''वर्ण'' भिन्न देवताओं की पूजा करता था और अलग–अलग संस्कार (rituals) अपनाता था। यह भिन्नता इसलिए थी कि प्रत्येक समूह को अपने पेशों के अनुरूप अपनी भूमिका के द्वारा अलग उद्देश्यों को प्राप्त करना होता था। ब्राह्मण अधिकाधिक पवित्रता प्राप्त करना चाहते थे, अतः वे अग्नि की पूजा करते थे और गायत्री मन्त्र का जप करते थे। क्षत्रिय शारीरिक बल (वीर्यम) चाहते थे, अतः वे इन्द्र की पूजा करते थे और गायत्री मन्त्र का जप करते थे। और ''तृण्तुभ'' मन्त्र का जाप करते थे। वैश्य पशु धन चाहते थे, अतः वे विश्वदेवा की पूजा करते थे और ''जगाति'' मंत्र का जप करते थे। किन्तु (वर्णो में) विवाह सम्बन्धों में प्रतिबन्ध नहीं थे और न ही खानपान में व सामाजिक संबंधों में थे; यहाँ तक कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण में सदस्यता परिवर्तन के लिए भी कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। बाद में जैसे हम वैदिक काल (4000 से 1000 बी.सी.) से ब्राह्म काल (230 बी.सी. से 700 ए.डी.) में आते हैं, इन चारों वर्णो में श्रेणी क्रम प्रारम्भ हो गया और इसमें ब्राह्मण सर्वोच्च स्थिति में तथा ''शूद्र'' निम्नतम स्थिति में हो गए।

एक और विचारधारा के अनुसार ''वर्णो'' में अन्तर व श्रेणीक्रम का सम्बन्ध रंग भेद से था। इसके अनुसार ''वर्ण'' का अर्थ ''रंग'' है और इसी रंग के आधार पर ''आर्य'' और ''दास'' में अन्तर किया गया होगा क्योंकि आर्यो का रंग ''साफ'' (fair) और दासों का रंग काला माना गया है। ''रंग'' की धारणा इतनी बलवती हो गई कि कालान्तर में जब ''वर्गो'' को नियमित रूप से ''वर्ण'' माना गया, चार वर्णो के सदस्यों की चार रंगों से पहचान होने लगी। ब्राह्मणों को गौर या सफेद रंग, क्षत्रियों को लाल रंग, वैश्यों को पीला रंग तथा शूद्रों को काला रंग दिया गया। हट्टन (1963:66) का विश्वास है कि रंगों का यह भेद किसी सीमा तक प्रजाति से सम्बद्ध है। लेकिन होकार्ट (1950:46) के अनुसार रंग का धार्मिक कार्यो में अधिक है, न कि प्रजाति में।

यद्यपि ''वर्ग'' की उत्पत्ति के समान ही, रिजले, धुर्ये, मजूमदार जैसे विद्वानों ने जाति की उत्पत्ति की भी व्याख्या प्रजाति की दृष्टि से की है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जातियां वर्णो के उप–विभाजन हैं। जातियों की उत्पत्ति का सम्बन्ध ''वर्णो'' से नहीं है, यद्यपि जातियों के विकास की प्रतिक्रिया में उन्हें ''वर्णो'' से सम्बद्ध किया गया और जाति श्रेणीक्रम (hierarchy) और जाति गतिशीलता को ''वर्ण'' से जोड़कर बताया गया। इस प्रकार ''वर्ण'' ने एक रूपरेखा प्रस्तुत की जिसने भारतीय विचार और प्रतिक्रिया को प्रभावित किया स्यू (HSU, 1963:96)। श्रीनिवास (1962:69) की भी यह मान्यता है कि ''वर्ण'' ने एक सामान्य सामाजिक भाषा प्रदान की है जो समूचे भारत के लिए एक जैसी है, अर्थात् वर्ण ने सामान्य व्यक्तियों को जाति व्यवस्था को समझने की एक सरल व स्पष्ट योजना दी है जो सारे भारत में

लागू है। उन्होंने यह भी माना कि वर्ण व्यवस्था का इसमें भी है कि यह समूचे भारत के लिए एक ढाँचा प्रस्तुत करती है जिसमें निम्न स्तर की जातियाँ उच्चतर स्तर की जातियों की प्रथाओं व धार्मिक क्रिया–कलापों को अपनाकर अपनी स्थिति ऊँचा करने का प्रयास करती हैं। इससे हिन्दू समाज में समान संस्कृति के विस्तार में सहायता मिली है।

जातियों को ''ब्राह्मण'' व ''शूद्र'' समूह में जोड़ना सरल है, लेकिन उन्हें मध्य समूहों में यानि कि क्षत्रिय व वैश्यों के बीच फिट करना कठिन है क्योंकि एक क्षेत्र में एक जाति को वैश्य के रूप में माना जा सकता है जबकि वही जाति दूसरे क्षेत्र में क्षत्रिय होने का दावा कर सकती है। इस प्रकार जाति व्यवस्था की यथार्थ स्थितियों की गलत व्याख्या का कारण ''वर्ण'' मॉडल ही है (श्रीनिवास, 1962:67)। जाति क्षेत्र तक सीमित है, जबकि ''वर्ण'' का आधार अखिल भारतीय है। अतः जाति प्रणाली को स्पष्ट रूप से तथा वैज्ञानिक ढंग से समझने के लिए समाजशास्त्र के छात्रों के लिए आवश्यक है कि वह स्वयं को ''वर्ण'' मॉडल से मुक्त करें। स्यू (Hsu, 1963:96) की भी मान्यता है कि वर्ण तो समूचे हिन्दू समाज के लिए मात्र विचारात्मक योजना (conceptual scheme) है, जब कि जाति हिन्दू समाज की यथार्थ स्थिति को दर्शाती है।

## जाति और उपजाति (Caste and Subcaste)

जाति एवं उपजाति में स्पष्ट अन्तर बताना असान नहीं है क्योंकि दोनों की प्रवृत्तियाँ समान ही हैं। तथापि उपजाति जाति का उपविभाजन है। उदाहरणार्थ, कायस्थ एक जाति है और इसे अनेक उपजातियों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे, माथुर, सक्सेना, श्रीवास्तव, निगम एवं भटनागरा, आदि। इसी प्रकार अग्रवाल जाति का उप विभाजन ''दसा'' व ''बीसा'' उपजातियों में है। यदि दसा ओसवाल लड़के का विवाह दसा अग्रवाल लड़की से होता है तो यह अन्तर्जातीय विवाह माना जाएगा। ब्राह्मण को सदैव ही भ्रमवश जाति के रूप में इंगित किया गया है, जबकि यह वास्तव में एक ''वर्ण'' है तथा अनेक जातियों का एक मण्डल है। इस प्रकार कान्यकुब्ज, सरयूपारी तथा गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण हैं और भारद्वाज, गौतम, कश्यप, आदि ब्राह्मण गोत्र के उदाहरण हैं। जाति और उपजाति दोनों ही अन्तर्विवाही (endogamous) समूह हैं, किन्तु गोत्र बहिर्विवाही (exogamous) समूह है।

उपजातियों की उत्पत्ति कैसे हुई? इस पर दो दृष्टिकोण हैं: एक तो यह कि इनका उद्‌गम माता–पिता के समूह के विखण्डन (fission) से है; दूसरा यह कि इनकी उत्पत्ति स्वतंत्र समूहों से हुई है (बी.आर. चौहान, 1966:44)। धुर्ये (1957:34) के अनुसार उपजाति जाति से इन कारणों की वजह से भिन्न मानी जाने लगी: (1) अलगाव के कारण (जैसे, गुजराती और मालवी जुलाहे मध्य प्रदेश में, मेवाड़ी और मारवाड़ी नाई राजस्थान में); (2) मिश्रित उत्पत्ति के कारण (जैसे, मध्य प्रदेश के ''मिलाला'' जिनकी उत्पत्ति भील व राजपूत माता–पिता से मानी जाती है); (3) पेशे में अन्तर के कारण (जैसे, कुम्हार जो कि बर्तन बनाने का काम करते हैं ''गधेडे'' कहलाते हैं तथा खेत में काम करने वाले ''खेतड़'' कहलाते हैं; (4) धन्धे के तकनीकी विशिष्टताओं के कारण (जैसे, चमड़े का काम करने वालों में मोची उपजाति जो नये जूते बनाते हैं); (5) रिवाजों की असमानता के कारण (जैसे, विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित हो, और (6) उपनाम (nickname) के कारण।

इरावती कर्वे (1958:125) ने यह दृष्टिकोण स्वीकार किया है कि उपजातियाँ या तो जातियों के विखण्डित भाग हैं या वे स्वतन्त्र उत्पत्ति के हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है (1958:133): ''धार्मिक चलनों व तरीकों से यह प्रदर्शित होता है कि इन इकाइयों का अलग अस्तित्त्व व इतिहास ही इनकी बड़ी इकाइयों से अलग होने का कारण हो सकता है। रिजले (1915), हट्टन (1961:55) व मजूमदार (1958:357) ने कहा है कि उपजातियाँ टूटकर मुख्य जातियों के बराबर अपनी स्थिति को उठाने के प्रयत्नस्वरूप अस्तित्त्व में आई। बी. आर. चौहान (1966:45) ने माना है कि उपजातियों की उत्पत्ति विखण्डन के कारण इसलिए हुई क्योंकि इसमें रिवाजों में परिवर्तन, राजनैतिक निर्णय तथा प्रव्रजन (migration), आदि की घटनाएँ भी सक्रिय रहीं। क्रिकपैट्रिक (1912) ने कहा है कि उपजातियाँ, जो कि जातियों के विखण्डित समूह हैं, पहले प्रव्रजन और सामाजिक व राजनैतिक कारकों के फलस्वरूप बनाई गई थीं, किन्तु आज वे उन प्रयत्नों का प्रतिफल हैं जो कि घृणित जातियों के सम्पन्न लोगों द्वारा अपनी उत्पत्ति को किसी उच्च जाति से सम्बद्ध एवं नये नाम रखकर ऊँचे उठने के लिए किए जा रहे हैं।

दूसरा प्रश्न है कि कौन सी क्रियाएँ जाति व उपजाति के विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं? उपजाति के तीन कार्य हैं: विवाह पर प्रतिबन्ध, खानपान सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध, तथा व्यवहार व सामुदायिक जीवन को बड़े समाज के भीतर निर्वाह के लिए नियंत्रित करना। जातियों द्वारा किए जाने वाले तीन कार्य (functions) हैं: स्थिति प्रदान करना, नागरिक व धार्मिक आधिकारों को सीमित करना, तथा पेशे निश्चित करना। उक्त कार्यों के सम्बन्ध में धुर्ये (1957:19) ने माना हैं : ''हमें उपजातियों को ही वास्तविक जातियों की मान्यता देनी चाहिए।'' ए.सी. मेयर (1960:151) ने भी जाति और उपजाति में अन्तर करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। उसने धुर्ये का जाति के संदर्भ में कथन

समूचे समाज के लिए सार्थक माना है और उपजाति को व्यक्ति के सन्दर्भ में सार्थक माना है। जाति के भीतर सदस्यों के सन्दर्भ में उन्होंने माना है कि उनके सदस्यों के लिए उपजाति अधिक सार्थक है, जबकि दूसरी जाति के सदस्यों के विषय में उन्होंने कहा है कि जाति व्यक्ति की पहचान के लिए प्रमुख बिन्दु है। इस प्रकार उनका विचार है कि जाति व उपजाति साथ–साथ रह सकती हैं तथा किसी को भी दूसरे की अपेक्षा अधिक वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

जाति व्यवस्था की इकाई के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान जाति को (जाति) व्यवस्था की इकाई मानते हैं जबकि अन्य उपजाति को इकाई मानते हैं। श्रीनिवास (1952:24) विश्वास करते हैं कि उपजाति ही जाति व्यवस्था की ''वास्तविक इकाई'' है। लेकिन मैसूर के रामपुरा ग्राम के अपने ही अध्ययन में उन्होंने स्वयं को जाति के अध्ययन तक ही सीमित रखा। मेयर (1960:8) ने भी कहा है कि क्षेत्रीय स्तर पर उप–जाति ही अन्तर्जातीय व अन्तःजातीय सम्बन्धों में अध्ययन की इकाई मानी जा सकती है, परन्तु ग्राम स्तर पर अन्तर्जातीय सम्बन्धों को उप–जातियों के आधार पर नहीं किन्तु जातियों के आधार पर ही समझना होगा। इरावती कर्वे (1938:33) भी उप–जाति को ही विश्लेषण के लिए अन्तिम इकाई मानती है। धुर्ये (1950:20) ने कहा है कि यद्यपि सामान्यतः समाज जाति को ही महत्त्व देता है परन्तु जाति (स्वयं) व व्यक्ति उप–जाति को ही देते हैं। अतः हमें जाति संस्था के सही समाजशास्त्रीय विचार के लिए उपजाति को ही वास्तविक जाति मानना चाहिए। स्टीवेन्सन (1954) के अनुसार जाति तथा उपजाति की धारणाओं के बीच अस्पष्टता होने के कारण सबसे अच्छा तो यह है कि दोनों के बीच अन्तर की अनदेखी कर दी जाए। किन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, हमें दोनों धारणाओं के अन्तर को पूरी तरह से भुलाना नहीं चाहिए, बल्कि एक समूह को समाजशास्त्रीय सन्दर्भ में उपजाति तभी मानना चाहिए जबकि वह अपनी पैतृक जाति से सम्बन्ध बनाए रखे, अन्यथा हमें प्रत्येक अन्तर्विवाही (endogamous) समूह को एक अलग इकाई मानना चाहिए और उसे जाति कहा जाए। मैक्स वेबर (1960:31) ने भी माना है: ''आज एक जाति में कई सौ उपजातियां सम्मिलित हैं और यह उपजातियाँ आपस में ऐसे संबंधित हैं जैसे विभिन्न जातियाँ आपस में संबंधित हैं जैसे विभिन्न जातियां आपस में संबंधित होती है। ऐसी स्थिति में उपजातियां ही वास्तव में जातियाँ हैं; ''जाति'' नाम जो दोनों में सम्मिलित है और उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।''

## जाति और जनजाति (Caste and Tribe)

जाति तथा जनजाति में अन्तर करने का कोई मान्य आधार नहीं है। आन्द्रे बेतेई (Andre Beteille 1967:7) का विचार है कि ''जनजाति'' की धारणा को मौजूदा परिभाषाओं के आधार पर नहीं समझना चाहिए, अपितु भारत में पम्परागत रूप से मानी जाने वाली जनजातियों की विशेषताओं एवं उनके विश्लेषण के द्वारा समझा जाना चाहिए। नाडेल (Nadel) जैसे सामाजिक मानवशास्त्रियों ने जनजाति को ''एक राजनैतिक, भाषाई, एवं सांस्कृतिक सीमाओं वाला समाज'' कहा है। इसका यह अर्थ हुआ कि जनजाति एक ऐसा 'समाज' है जिसके सदस्य सामान्य सरकार चलाते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति, विश्वास एवं प्रथाओं का अनुपालन करते हैं। यद्यपि कई जनजातियों की स्पष्ट सांस्कृतिक एवं भाषा सम्बन्धी सीमाएँ होती हैं, भले ही राजनैतिक न हों, लेकिन ऐसे अनेक जनजातीय समाज हैं जिनमें सरकार नहीं होती और न ही कोई केन्द्रीय अधिकार रखने वाला व्यक्ति समूह ही होता है। इसी प्रकार एक जनजाति में सास्कृतिक समरूपता (homogeneity) भी भ्रामक होती है क्योंकि इस युग में ऐसी कोई सीमा रेखा नहीं है जहाँ एक ''संस्कृति'' समाप्त होती है और दूसरी प्रारम्भ। परन्तु जनजाति की अपनी एक बोली (dialect) अवश्य होती है। अतः जनजाति की मौजूदा परिभाषा अपर्याप्त है। धुर्ये, नाइक, बेली तथा वैरियर एलविन जैसे विद्वानों ने जाति एवं जनजाति में भेद करने के लिए विभिन्न आधार प्रयोग किए हैं। कुछ आधार इस प्रकार हैं: धर्म, भौगोलिक, पृथक्करण, भाषा, आर्थिक पिछड़ापन, तथा राजनैतिक संगठन।

कहा गया है कि जनजातीय लोगों का धर्म आत्मावाद या जीववाद (animism) है तथा जातीय लोगों का धर्म हिन्दुत्व (Hinduism) है। हट्टन (1963) और बेली (1960:263) का विश्वास है कि जनजाति के लोग हिन्दू नहीं हैं, अपितु वे आत्मावादी हैं। आत्मावाद के मूल आधार हैं: शयन स्वप्न देखना तथा मृत्यु जैसी घटनाएँ, और आत्माओं, जादू व भूत प्रेतों में विश्वास। दूसरी ओर हिन्दूवाद की विशेषताएँ हैं: धर्म, भक्ति, तथा पुनर्जन्म। यह कहना गलत होगा कि हिन्दू, विशेष रूप से निम्न जातियों के हिन्दू, आत्माओं, भूत प्रेतों, जादू तथा स्वप्न आदि में विश्वास नहीं करते हैं। इसी तरह अनेक ऐसी जनजातियाँ हैं जिनके सदस्य हिन्दू देवताओं की पूजा करते हैं, हिन्दू त्यौहारों व मेले आदि मनाते हैं, और हिन्दू रीति–रिवाजों एवं परम्पराओं का पालन करते हैं। इसलिए हिन्दूवाद तथा आत्मावाद में अन्तर करना आसान नहीं है। आहूजा (1965), वैरियर एलविन (1943), और रिजले (1908) भी मानते हैं कि आत्मावाद व हिन्दूवाद में भेद करना बनावटी और निरर्थक है। इसका अर्थ यह है कि चूँकि जनजातीय धर्म हिन्दू धार्मिक तत्त्वों व मूल्यों का और हिन्दू धर्म में जनजाति और जाति मूल्यों का मिश्रण है, अतः धर्म को जनजाति और जाति में अन्तर करने का आधार नहीं माना जा सकता। धुर्ये, नाइक तथा बेली ने भी इस (धर्म) आधार को अस्वीकार किया है।

जनजाति और जाति के इस विभेदीकरण की प्रतिक्रिया में भौगोलिक पृथक्करण (geographical isolation) को आधार मानते हुए कहा गया है कि जनजातीय लोग पहाड़ों और पर्वतों के पृथक् क्षेत्रों में रहते हैं, किन्तु हिन्दू लोग मैदानी क्षेत्रों में रहते हैं। सभ्य पड़ोसियों से कम सम्पर्क होने के कारण, जनजातियाँ हिन्दुओं की अपेक्षा कम सभ्य हैं। यह कहना किसी हद तक सही है कि जनजाति के लोग संचार साधनों से दूर पहाड़ों या दुर्गम क्षेत्रों में रहती हैं लेकिन ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कई हिन्दू जातियाँ पृथक् क्षेत्रों, पहाड़ों आदि में रहते है और जनजाति के लोग मैदानों में रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भौगोलिक पृथक्करण के अतिरिक्त हमे जनजाति व जाति में अन्तर करने के लिए अन्य किसी आधार की आवश्कता होगी।

एक तीसरा आधार (जनजाति और जाति में अन्तर का) भाषा हो सकता है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक जनजाति की अलग भाषा होती है लेकिन जाति की नहीं; जैसे गौंड लोग गोण्डी भाषा बोलते हैं, भले लोग भीली या बागड़ी, सन्थाल लोग सन्थाली बोलते हैं। लेकिन क्योंकि कई जनजातियों के पास अपनी भाषा नहीं है, अपितु वे भारत की प्रमुख भाषाओं में से कोई एक बोली (dialect) बोलते हैं, जैसा कि दक्षिण भारत में। अतः भाषा का आधार भी जाति और जनजाति में अन्तर का उचित आधार नहीं है।

आर्थिक पिछड़ापन भी जाति और जनजाति में भेद करने का सही आधार नहीं है। यह मानना गलत है कि जनजातियाँ पिछड़ी, आदिम व असंस्कृत हैं और हिन्दू जातियाँ नहीं। यह सही है कि अनेक जनजातियाँ आज भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं, उनकी आय कम है, खेती में प्राचीन तरीके प्रयोग करते हैं, तथा कहीं–कहीं तो आज भी वस्तु विनिमय (barter) प्रणाली अपनाते हैं, लेकिन ऐसी अनेक जनजातियाँ भी हैं, जैसे ''मीणा'', जो आर्थिक रूप से बहुत प्रगतिशील हैं। इसके साथ ऐसी भी कई जातियाँ हैं जो आर्थिक रूप से पिछड़ी हैं जितनी की जनजातियाँ। बेली (Bailey 1960:9) ने भी इस आधार को समाजशास्त्रीय दृष्टि से असन्तोषजनक माना है, क्योंकि ''आर्थिक पिछड़ापन'' शब्द आर्थिक सम्बन्ध के प्रकार का नहीं अपितु रहन–सहन के स्तर की चर्चा करता है। उसकी मान्यता है कि व्यवहार की पूर्णता (totality) लेने की अपेक्षा हमें (जनजाति और जाति के अन्तर में) समाज के व्यवहार के एक क्षेत्र पर अध्ययन को केन्द्रित करना चाहिए। इसी कारण उन्होंने जनजाति और जाति में अन्तर करने के लिए उड़ीसा के उड़िया (जाति) तथा कोण्ड (जनजाति) के अध्ययन में राजनैतिक–आर्थिक व्यवस्था (जिसे उसने ''आर्थिक संरचना'' कहा है) का प्रयोग किया है।

राजनैतिक–आर्थिक संगठन के विश्लेषण में उन्होंने दो कारकों पर ध्यान केन्द्रित किया: (1) भूमि पर नियंत्रण (2) भूमि साधनों का अधिकार। उनकी मान्यता है कि जाति पर आधारित और जनजाति समाजों दोनों ही में दो प्रकार के लोग हैं: ''भूमि–स्वामी'', जिनकी भूमि पर प्रत्यक्ष कब्जा है, और उन पर निर्भर रहने वाले लोग, ''जो भूमि साधनों में से अपने हिस्से को प्राप्त करने के लिए भूस्वामियों पर निर्भर रहते हैं। लेकिन गांव (जिनमें जातियाँ थीं) और कुल–क्षेत्रा (clan territory) (जिनमें जनजातियाँ थीं) की आर्थिक व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पाया कि गाँव ऐसी आर्थिक रूप से विशिष्ट अन्तर्निर्भरता के आधार पर जातियों में विभाजित हैं जो श्रेणीबद्ध रूप में संगठित हैं, जबकि कुल–क्षेत्रा भी यद्यपि समूहों से मिलकर बनते हैं परन्तु ये श्रेणीबद्धता के आधार पर संगठित नहीं है। और न ही आर्थिक रूप से एक–दूसरे पर निर्भर होते है। दूसरे शब्दों में एक जनजातीय समाज में अधिकतर लोगों के पास जमीन होती है जबकि जाति पर आधारित समाज में अधिकतर लोगों को एक दूसरे पर निर्भर सम्बन्धों द्वारा जमीन पर अधिकार मिलता है। इस प्रकार बेली (1960:264–65) के अनुसार जनजाति ''खण्डात्मक व्यवस्था'' (segmentary system) के आधार पर संगठित होती है, जबकि जाति जैविक प्रणाली (organic system) पर आधारित है। बेली ने आगे कहा है ''जाति तथा जनजाति में भेद करने के लिए एकमात्र यह है कि ऐसी निरन्तरता (continuum) की कल्पना करें जिसके एक ओर तो समाज है जिसकी राजनैतिक व्यवस्था पूरी तरह खण्डात्मक और समानता पर आधारित (egalitarian) प्रकार की है और जिसमें निर्भर रहने वाले लोग नहीं होते, और दूसरी ओर वह समाज है जिसमें खण्डात्मक राजनैतिक सम्बन्ध बहुत कम लोगों में होते हैं और अधिकतर लोग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। ऐसे समाज की राजनैतिक व्यवस्था की तुलना एक जैविकीय व्यवस्था से की जा सकती है।'' लेकिन बेली का कहना है कि निरन्तरता के उस बिन्दु को पहचानना कठिन है जहाँ जनजाति समाप्त होकर जाति प्रारम्भ होती हो।

भारत में यह स्थिति और भी जटिल है क्योंकि ऐसी शायद ही कोई जनजाति हो जो अलग समाज के रूप में अपना अस्तित्त्व रखती हो। किसी भी जनजाति की भारत में अलग से कोई राजनैतिक सीमा नहीं है। बड़ी जनजातियाँ, जैसे भील, सन्थाल, ओराँव, आदि क्षेत्रीय आधार पर बिखरी हुई हैं। फिर लगभग सभी जनजातियाँ विविध सीमाओं तक बड़े समाज में समा भी गई हैं। आर्थिक दृष्टि से भी जनजातीय अर्थव्यवस्था क्षेत्रीय व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वे जनजातियाँ जो मानवशास्त्रियों द्वारा ''आदर्श रूप'' (ideal type) मानी गई हैं, मुश्किल से ही पाई जाती हैं। आन्द्रे बेतेइ (1969) की मान्यता है कि भारत में सभी जनजातियाँ परिवर्तन के दौर से गुजर रही हैं। लेकिन कुछ समुदायों को जनजाति की मान्यता दी गई है और उन्हें अनूसूचित जनजाति की सूची में सम्मिलित किया गया है।

अध्याय-3

# सामाजिक परिवर्तन और विकास

## संस्कृतिकरण Sanskritization

### जाति एवं प्रस्थिति गतिशीलता (Caste and Status Mobility)

'संस्कृतिकरण' एवं 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाएँ 1952 में एम.एन. श्रीनिवास द्वारा दक्षिण भारत में कुर्ग लोगों के सामाजिक व धार्मिक जीवन के विश्लेषण में विकसित की गई थीं। 20वीं शताब्दी के मध्य तक जाति का अध्ययन या तो 'वर्ण' के आधार पर होता था या फिर वंशानुक्रम तथा अशुद्धता और शुद्धता की धारणाओं के आधार पर प्रस्थिति के अर्थों में होता था। श्रीनिवास ने जाति–व्यवस्था का विश्लेषण उर्ध्वमुखी गतिशीलता (upward mobility) के अर्थ में किया। उनकी मान्यता थी कि जाति–व्यवस्था इतनी कठोर व्यवस्था नहीं है कि जसमें प्रत्येक जाति की स्थिति सदैव के लिए एक सी निश्चित हो। गतिशीलता की सम्भावना सदैव रही है। एक निम्न जाति भी एक दो पीढ़ियों के बाद शाकाहारी बनकर तथा मद्यपान व मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहकर संस्तरण (hierachy) में उच्च स्थिति प्राप्त कर सकती थी। वह ब्राह्मण के रीति–रिवाज, संस्कार, एवं विश्वास अपना लेती थी तथा कुछ अपनी रीतियों को जिन्हें वह अपवित्र मानती थी त्याग देती थी। एक निम्न जाति द्वारा ब्राह्मणों की जीवन–विधि धारण करना सम्भव प्रतीत होता था यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका निषेध था।

जातियों द्वारा अपनाए गए व्यवसाय, उनका खान–पान एवं उनकी प्रथाओं व रीति रिवाजों से ही (जाति) संस्तरण में उनकी प्रस्थिति निर्धारित होती है। इस प्रकार व्यवसाय का वरण जैसे चमड़ा कमाना, कसाई का काम करना, ताड़ी बनाना, आदि जाति को निम्न स्तर पर रख देता है। मांस व मछली आदि का सेवन कलुषित व अपवित्र करने वाला defiling माना जाता है। देवताओं को फल फूल चढ़ाने की अपेक्षा पशु बलि निम्न कोटि का प्रचलन माना जाता है। इस प्रकार इन प्रथाओं को मानने वाली तथा इस प्रकार के भोजन करने वाली जातिया ब्राह्मणों के आचरण को धारण कर संस्तरण में उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेती हैं। यह सामाजिक संरचना में एक जाति का उर्ध्वमुखी सचरण (upward moving) है। श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को 'संस्कृतिकरण' कहा है।

### संस्कृतिकरण की अवधारणा (The Concept of Sanskritization)

श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की परिभाषा इस प्रकार की है: ''एक ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा निम्न जातियाँ उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों, के रीति रिवाजों, संस्कारों, विश्वासों, जीवन–विधि, एवं अन्य सांस्कृतिक लक्षणों व प्रणालियों को ग्रहण करती हैं''। वास्तव में श्रीनिवास संस्कृतिकरण की परिभाषा का समय–समय पर विस्तार करते रहे हैं। आरम्भ में उन्होंने संस्कृतिकरण के बारे में यह कहा कि ''यह गतिशीलता की वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जातियाँ शाकाहारी एवं मद्यपान निषेधी बनकर एक दो पीढ़ियों में जाति संस्तरण मे उपर की ओर अग्रसर होती हैं'' (1962 : 42)। बाद में उन्होंने इसे पुन: परिभाषित करते हुए कहा कि ''यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न जाति, जनजाति या अन्य समूह अपनी प्रथाओं, कर्मकाण्डों (rituals), विचारधाराओं (ideology) एवं जीवन–विधि (way of life) को बदलकर द्विज जाति (twoce-born caste) की दिशा में अग्रसर होती है'' (1966:6)। संस्कृतिकरण का यह दूसरा विचार अधिक विस्तृत है क्योंकि श्रीनिवास ने प्रथम परिभाषा में भोजन की आदतों, संस्कारों, तथा धार्मिक प्रथाओं के नकल की बात की है, लेकिन बाद में उन्होंने विचारों के नकल की भी बात की है (जिसमें कर्म, धर्म, पाप, पुण्य व मोक्ष आदि के विचार भी सम्मिलित है)।

निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों तथा ब्राह्मणों की प्रथाओं और आदतों की नकल की प्रक्रिया में जब कभी निम्न जातियो के लोग कुछ ऐसे आचरणों को अपनाते हैं जो वर्तमान विवेकी मानदण्डों के अनुसार अच्छे व प्रकार्यात्मक (functional) समझे जाते हैं, तब वे उन रिवाजों/प्रथाओं को अमान्य मानकर उनके स्थान पर ब्राह्मणों के उन मूल्यों एवं विचारों को ग्रहण करते हैं जो कि वर्तमान स्तर के अनुसार अपमानजनक (degrading) एवं विकार्यात्मक (dysfunctional) समझे जाते हैं। श्रीनिवास ने मैसूर के अपने अध्ययन से कुछ उदाहरण दिए हैं निम्न जातियाँ स्त्रियों के प्रति अभिवृत्तियों, और विवाह, यौन, आदि मामलों में उदार होती हैं। वे तलाक, विधवा–विवाह, तथा यौन परिपक्वता के पश्चात् विवाह की अनुमति देती है। किन्तु ब्राह्मण यौन परिपक्वता पूर्व (pre-puberty) विवाह को व्यवहार में लाते हैं, विवाह को अविच्छिन्न (indissoluble) मानते हैं, विधवा पुनर्विवाह को रोकते हैं, और विधवा को आभूषण व साज शृंगार व अच्छे वस्त्र पहनने से रोकते हैं तथा सिर मुंडवाने की सिफारिश करते हैं। वे वधुओं में कुंवारापन (viginity) पत्नियों में सुचिता/विशुद्धता (chastity), तथा

विधवाओं में संयम और आत्म–नियंत्रण के पक्षधर हैं लेकिन निम्नजाति जैसे–जैसे संस्तरण में होती है और इसके तरीके अधिक संस्कृतिकरण का परिणाम स्त्रियों के प्रति कठोरता का व्यवहार होता है। अयुक्तिसंगत (irrational) आचरण अपनाने का एक और उदाहरण यह है कि एक ब्राह्मण और उच्च जातीय हिन्दू पत्नी को आदिष्ट (enjoined) किया जाता है कि वह अपने पति को देवता माने। पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पति के भोजन करने के बाद भोजन करे, अपने पति की लम्बी आयु के लिए अनेक व्रत धारण करे, पुत्र प्राप्ति को धार्मिक आवश्यकता माने, इत्यादि। संस्कृतिकरण में निम्न जातियों द्वारा इन्हीं विश्वासों व आचरणों/रीतियों को अपनाना आता है। अतः ये उदाहरण इंगित करते हैं कि संस्कृतिकरण केवल उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों की प्रथाओं, रीतियों, आदतों मूल्यों का अंधा व अविवेकी नकल करना है।

क्या यह कहा जा सकता है कि असंस्कृतिकरण (de-sanskritization) की प्रक्रिया भी संभव है? श्रीनिवास का मानना है कि "यह अकल्पनीय नहीं है कि नकल करनेवाली जातियों का असंस्कृतीकरण भी कभी–कभी हो सकता है" 91985 : 62)।

## संस्कृतिकरण और ब्राह्मणीकरण (Sanskritization and Brahmanization)

श्रीनिवास (1985: 42–43) ने 'संस्कृतिकरण' शब्द को 'ब्राह्मणीकरण' से अधिक प्राथमिकता दी है। उन्होंने इसके कुछ कारण दिए हैं: (1) संस्कृतीकरण शब्द विस्तृत है, जबकि ब्राह्मणीकरण शब्द संकीर्ण व सीमित है। वास्तव में ब्राह्मणीकरण संस्कृतिकरण की व्यापक प्रक्रिया में शामिल है। उदाहरणार्थ, वैदिक काल में ब्राह्मण सोमरस का पान करते थे, मांस खाते थे और पशु बलि चढ़ाते थे। लेकिन उन्होंने यह आचरण उत्तर वैदिक काल में त्याग दिया; शायद ऐसा उन्होंने जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर किया। आज अधिकतर ब्राह्मण शाकाहार एवं मद्यनिषेधी हैं; केवल कश्मीरी बंगाली और सारस्वत ब्राह्मण मांसाहारी (non-vegetarian) भोजन करते हैं। यदि 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो यह बताने की आवश्यकता भी पड़ती है कि कौन से ब्राह्मण के विषय में कहा जा रहा है। (2) संदर्भ समूह या संस्कृतिकरण के एजेन्ट सदैव ही ब्राह्मण नहीं होते हैं। वास्तव में ब्राह्मणों ने ही, जिन्हें नियमों की घोषण का अधिकार सौंपा गया था, दूसरी जाति के सदस्यों को ब्राह्मणों के रीति–रिवाजों और संस्कारों को मानने का निषेध किया था। लेकिन इस प्रकार के निषेधों ने निम्न जातियों को अपने रीतिरिवाजों के संस्कृतिकरण से नहीं रोका। श्रीनिवास ने मैसूर की निम्नजातियों का उदाहरण दिया है जिन्होंने लिंगायतों (जो ब्राह्मण नहीं है लेकिन दावा करते हैं कि ब्राह्मण के बराबर हैं) की जीवन–शैली अपना ली है। दक्षिण भारत के लोहार स्वयं को विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, जनेऊ धारण करते हैं, और उन्होंने अपने संस्कारों का संस्कृतिकरण भी कर लिया है। फिर भी उनमें से कुछ अब भी मांस खाते हैं और मदिरा सेवन करते हैं जिसके कारण बहुत सी जातियाँ, यहाँ तक कि अस्पृश्य जातियां भी उनके हाथ का पानी तक नहीं पीती हैं (1985 : 43)। इस प्रकार क्योंकि निम्नजातियों ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्षत्रिय, वैश्यों और जाटों की नकल की, इसलिए 'ब्राह्मणीकरण' शब्द को सांस्कृतिक व सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया।

## संस्कृतिकरण कीं विशेषताएँ (Features of Sanskritization)

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में कुछ तथ्य उल्लेखनीय हैं:

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा को आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व से जोड़ दिया गया है अर्थात् स्थानीय प्रबल जाति (dominant caste) की भूमिका को परिवर्तन की सांस्कृतिक संचरण में विशेष महत्त्व दिया गया है। यद्यपि कुछ समय तक निम्न जातियों ने ब्राह्मणों की नकल की, लेकिन शीघ्र ही स्थानीय प्रबल जाति की नकल की जाने लगी और यह जाति गैर–ब्राह्मण होती थी।

2. संस्कृतिकरण उन जातियों में कभी न कभी अवश्य होता था जिनको आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त थी लेकिन संस्कारों की दृष्टि से उनकी स्थिति ऊँची नहीं थी अर्थात् उनकी राजनैतिक व आर्थिक स्थिति व कर्मकाण्डी (ritual) स्थिति में बड़ा अन्तर था। ऐसा इसलिए था क्योंकि संस्कृतीकरण के बिना उच्च स्थिति का दावा प्रभावहीन था। जाति–व्यवस्था में सत्ता के तीन प्रमुख केन्द्र हैं : संस्कार, राजनैतिक व आर्थिक। एक क्षेत्रा में सत्ता हथियाना दूसरे दो क्षेत्रों में भी सत्ता प्राप्ति में वृद्धि कर देती है। लेकिन श्रीनिवास कहते हैं कि असंगतियाँ होती ही रहती हैं।

3. आर्थिक उन्नति संस्कृतिकरण की आवश्यक शर्त नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि आर्थिक उन्नति के साथ संस्कृतिकरण होना आवश्यक है। तथापि हो सकता है कि कोई समूह (जाति, जनजाति) राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर ले और इससे उसकी आर्थिक उन्नति हो और संस्कृतिकरण भी हो। श्रीनिवास (1985 : 57) ने मैसूर के एक गाँव रामपुरा के अस्पृश्यों का उदाहरण दिया है

जिनका अत्यधिक संस्कृतिकरण हो गया है यद्यपि उनकी आर्थिक दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आर्थिक विकास, राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना, शिक्षा, नेतृत्व, तथा संस्तरण में ऊँचे उठने की इच्छा, आदि संस्कृतिकरण के सारगर्भित तत्त्व हैं और संस्कृतिकरण का हर प्रकरण इन सभी या कुछ तत्त्वों को प्रदर्शित कर सकता है।

4. संस्कृतिकरण दुहरी प्रक्रिया (two-way process) है। ऐसा नहीं है कि निम्न जाति उच्च जाति से कुछ 'प्राप्त' ही करती है, बल्कि उसे कुछ 'प्रदान' भी करती है। हम देखते हैं कि पूरे भारत के हिन्दुत्व के बड़े देवताओं के अलावा ब्राह्मण कुछ स्थानीय देवताओं की भी पूजा करते हैं जो महामारी से रक्षा करते हैं तथा पशुधन, बच्चों के जीवन व अन्न आदि को भी संरक्षण देते हैं। ऐसे प्रकरणों की भी जानकारी है जहाँ कहीं–कहीं ब्राह्मण अपने किसी गैर ब्राह्मण मित्र के माध्यम से रक्त बलि भी देता है (श्रीनिवास १९८५: 60)। यद्यपि स्थानीय संस्कृतियाँ 'देने' की अपेक्षा 'लेती' अधिक है फिर भी संस्कृतिकरण हिन्दुत्व ने स्थानीय तथा लोक तत्त्वों को आत्मसात (absorb) कर लिया है। आत्मसात करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है कि लोक परम्पराओं और बड़ी परम्पराओं के बीच निरंतरता (continuity) बनी रहती है।

5. गतिशीलता की इकाई समूह होती है न कि व्यक्ति या परिवार।

6. ब्रिटिश शासन ने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया जब कि राजनीतिक स्वतंत्रता ने इस परिवर्तन की ओर बढ़ने वाली प्रवृत्ति को कमजोर बनाया। अब समस्तर क्षैतिजीय (horizontal) गतिशीलता की अपेक्षा ऊर्ध्वाधर (vertical) गतिशीलता पर बल दिया जा रहा है।

7. भारत में सामाजिक परिवर्तन की बात संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण के सन्दर्भ में करने का अर्थ है, उसकी व्याख्या प्रमुखत सांस्कृतिक अर्थों में करना न कि संरचना के अर्थ में। श्रीनिवास (१९८९: 55) ने भी माना है कि संस्कृतिकरण में जाति–व्यवस्था के अन्तर्गत स्थितीय (positional) परिवर्तन संरचना सम्बन्धी परिवर्तन के बिना ही होता है।

8. संस्कृतिकरण में समूह की उच्च स्थिति की उपलब्धि स्वत: नहीं होती। समूह को अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होती है और इस अवधि में उसे अपने दावे के लिए निरन्तर दबाव बनाए रखना पड़ता है। इस दावे को स्वीकार करने की शुरूआत करने मे एक या दो पीढ़ी का समय भी लग सकता है। कई मामलों में जाति का दावा लम्बे अन्तराल के बाद भी स्वीकृत नहीं होता। कई बार ऐसा भी होता है कि यह दावा एक समय या स्थान में सफल न हो, पर दूसरे स्थान व अन्य समय में स्वीकार कर लिया जाए।

संस्कृतिकरण निम्न जाति को उच्च पद प्राप्ति में सहायक न भी हो, तब भी यह उसे मांस खाने, अशुद्ध व्यवसायों को बदलने, मद्यपान बन्द करने, और कुछ सांस्कृतिक परम्पराओं, विश्वासों व देवताओं को अपनाने से तो नहीं रोकता। इस प्रकार गतिशीलता के लक्ष्य को प्राप्त किए बिना भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया लोकप्रिय बनी रह सकती है।

## संस्कृतिकरण के प्रोत्साहन के कारक (Factors Promoting Sanskritization)

संस्कृतिकरण को सम्भव बनाने वाले कारक हैं : औद्योगिकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, विकसित संचार व्यवस्था साक्षरता का प्रसार तथा पश्चिमी प्राद्योगिकी इसमें आश्चर्य नहीं कि संस्कृत धार्मिक विचारों का विस्तार ब्रिटिश शासन काल में हुआ। संचार साधनों के विकास के साथ संस्कृतिकरण उन क्षेत्रों में चला गया जो पहले अगम्य (inaccessible) थे और साक्षरता के विस्तार ने इस प्रक्रिया को जाति ससतरण में निम्न जातियों तक को आभास करा दिया। श्रीनिवास ने एक विशिष्ट कारक का उल्लेख किया है जिस ने निम्न जातियों में संस्कृतिकरण को फैलाने में सहायता की है। यह (कारक) है कर्मकाण्डी (ritual) क्रियाओं से मंत्रोच्चारण की पृथक्ता जिसके कारण ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों और अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गए। ब्राह्मणों द्वारा जो गैर–द्विज (non twice-born) जातियों पर प्रतिबन्ध लगाए गए थे, उन्होंने केवल वैदिक मंत्रोच्चारण पर पाबन्दी (ban) लगायी थी। इस प्रकार निम्न जाति के लोग भी ब्राह्मणों के सामाजिक आचार विचार को सरलता से अपना सके। इससे संस्कृतिकरण और भी व्यावहारिक बन गया। श्रीनिवास के अनुसार संसदीय प्रजातन्त्र की राजनीतिक संस्था ने भी संस्कृतिकरण की वृद्धि को बढ़ावा दिया है (१९८५ : 49)। भारत के संविधान में मद्यनिषेध, जो कि एक सांस्कृतिक मूल्य है, वर्णित है। कुछ राज्यों ने इसे पूर्ण या आंशिक रूप से लागू भी किया है।

## पश्चिमीकरण की अवधारणा (The Concept of Westernization)

इस अवधारणा का सन्दर्भ गैर–पश्चिमी समाज की प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधाराओं व मूल्यों में परिवर्तन से है जो लम्बे समय तक पश्चिमी समाज के सांस्कृतिक सम्पर्कों का फल है (श्रीनिवास, 1962: 55)। भारतीय समाज का उदाहरण देते हुए, तकनीकी परिवर्तन, शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय, एवं नई राजनीतिक संस्कृति आदि का पश्चिमीकरण भारत में दो सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

पश्चिमीकरण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं: (1) तकनीकीकरण तथा युक्तिवाद (rationalism) पर बल (2) इस (पश्चिमीकरण) प्रक्रिया पर संस्कृतिकरण का प्रतिकूल प्रभाव नहीं है बल्कि कुछ सीमा तक यह इसको प्रोत्साहित करती है। श्रीनिवास ने पहले कहा था कि संस्कृतिकरण पश्चिमीकरण की भूमिका है। परन्तु बाद में उन्होंने अपना यह विचार बदला और कहा कि यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिमीकरण के पूर्व संस्कृतिकरण आए 91985:60)। लेकिन दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। एक को दूसरे के बिना समझना सम्भव नहीं है। हैरोल्ड गूलड (Harold Gould) ने भी कहा है कि ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियों के लिए संस्कृतिकरण संस्कृत हो रही निम्न जातियों से दूरी बनाए रखने का एक प्रयत्न है। इस प्रकार एक अर्थ में ब्राह्मण निम्न समूहों से दूर भाग रहे हैं जो उन्हें पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।

भारत में पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति अलग–अलग क्षेत्रों में तथा जनसंख्या के विविध भागों में अलग–अलग पाई गई है (श्रीनिवास, 1985: 51)। उदाहरणार्थ, जनसंख्या का एक समूह अपने वस्त्रों, भोजन, व्यवहार, खेलकूद तथा छोटे बिजली मशीनों के उपयोग में पश्चिमीकृत हो गया, जबकि दूसरे समूह ने पश्चिमीकरण के बाह्य प्रभावों से अछूते रहकर भी पश्चिम के विज्ञान, ज्ञान, साहित्य आदि को आत्मसात किया। जैसे, ब्राह्मणों ने वेष–भूषा तथा बाह्य रूप (चोटी हटाकर बाल कटवाना) स्वीकार करके, अपने बच्चों को पश्चिमी स्कूलों में भेजकर, सुख–सुविधाओं का उपभोग करके पश्चिमीकरण को स्वीकार किया लेकिन उन्होंने भोजन, नृत्य, शिकार करना तथा अशुद्धता से मुक्ति, आदि को स्वीकार नहीं किया। परन्तु यह अन्तर केवल सापेक्षिक रूप में बदलने का है। यह स्पष्ट अन्तर नहीं है।

श्रीनिवास ने 'पश्चिमीकरण' शब्द को 'आधुनिकीकरण' शब्द की अपेक्षा अच्छा माना है जब कि डेनियल लर्नर, हैरोल्ड गूल्ड, मिल्टन सिंगर और योगेन्द्र सिंह ने 'आधुनिकीकरण' शब्द को उचित माना है वह 'आधुनिकीकरण' को व्यक्तिपरक तथा पश्चिमीकरण को वस्तुपरक मानता है (सेमीनार, 88, 1986: 2)। आधुनिकीकरण में तथाकथित 'लक्ष्यों की तर्क संगतता' (retionality of goals) को निश्चित नहीं माना जा सकता क्योंकि मानव लक्ष्य मूल्य वरीयताओं (preferences) पर आधारित हैं। अतः तर्कसंगतता (rationality) को सामाजिक क्रिया के लक्ष्यों (ends) के आधार पर मानकर केवल साधनों (means) के आधार पर पूर्वानुमानित (predict) किया जा सकता है।

## विद्वानों द्वारा अवधारणाओं का समर्थन (Scholars Support to the Concept)

बर्नार्ड कोहन (Bernard Cohn) और मिल्टन सिंगर (Milton Singer) जैसे विद्वानों ने संस्कृतिकरण की अवधारणा का आनुभाविक (empirical) अध्ययनों के आधार पर उसकी वैधता (validity) का समर्थन किया है। कोहन ने 1950 के दशक में पूर्वी उत्तरप्रदेश के एक गाँव का अध्ययन किया था। इस गाँव में दो जातियाँ प्रमुख थीं–प्रबल जाति ठाकुर तथा बड़ी संख्या में अस्पृश्य जाति के चमार। भूमिहीन चमारों ने तो स्थानीय स्कूलों में शिक्षित होकर तथा आय में वृद्धि करके ठाकुर जमींदारों के विवाह और जन्म के समय के संस्कारों को धारण करके संस्कृतिकरण प्रारम्भ कर दिया। दूसरी और अनेक ठाकुर जो शहरों में प्रवजन (migrate) करके औद्योगिक मजदूर क्लर्क, या अध्यापक हो गए थे, उन्होंने अपने धार्मिक दृष्किोण, वेशभूषा व आचार व्यवहार में पश्चिमीकरण धारण कर लिया। इस प्रकार जब उच्च जाति जीवन–शैली तथा धार्मिक विश्वासों में पश्चिमीकृत हो रही थी, तब निम्न जाति संस्कृत हो रही थी तथा संस्कारों, विश्वासों, और आचारों के पारम्परिक स्वरूप को धारण कर रही थी।

सिंगर (1967 : 66) ने मद्रास नगर के प्रमुख उद्योगपतियों के अध्ययन के आधार पर उच्च और निम्न जातियों की जीवन शैली तथा धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन की भिन्न प्रक्रिया पाई जिसे उन्होंने, 'विभागीकरण' (compartmentalisation) कहा। यह प्रक्रिया श्रीनिवास के संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं से भिन्न है। उन्होंने पाया कि सांस्कारिक अपवित्रता (ritual pollution) का डर दफतरों और फैक्ट्रियों दोनों में ही कम हो रहा है। उदाहरणार्थ, फैक्ट्रियों में विविध जाति के लोग आपस में मुख्य रूप से मिलते–जुलते थे, वे एक ही जलपान गृह में भोजन लेते थे, एक ही बस में यात्रा करते थे, व राजनैतिक प्रदर्शनों में एक दूसरे के साथ मुक्त रूप से भाग लेते थे। ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च जातियों ने ऐसे व्यवसाय अपना लिए थे जो 'अपवित्र' समझे जाते थे जैसे चमड़ा कमाने का काम। सिंगर ने इस प्रक्रिया को 'विभागीकरण' कहा है उच्च जातियों में फैक्ट्री में उनके रम व अच्छे हिन्दू के कर्त्तव्यों के बीच कोई संघर्ष नहीं था। दोनों (फैक्ट्री और घर की परिस्थितियाँ) के अलग–अलग क्षेत्र थे और उनके आचार व्यवहार के स्तर भी अलग थे। उदाहरणार्थ, फैक्ट्री में वे पश्चिमी वेशभूषा पहनते, अंग्रेजी बोलते तथा पश्चिमी तौर तरीके अपनाते थे, लेकिन घर में वे भारतीय वेष धारण करते, स्थानीय भाषा बोलते, और अच्छे हिन्दू जैसा आचरण करते थे। सिंगर ने इसी को 'विभागीकरण' कहा है।

लेकिन सिंगर का दृष्टिकोण नई व्याख्या नहीं देता। व्यक्ति का व्यवहार स्थिति के अनुसार बदलता रहता है, यह एक सर्वविदित तथ्य है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह 'विभागीकरण' है। वास्तव में यह एक निरन्तरता (continuity) है। कोहन भी अनुभव करते हैं कि भारतीय समाज में विभागीकरण निरन्तरता से भिन्न नहीं है। परन्तु यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस निरन्तरता में परम्पराओं की रूढ़िवादिता विद्यमान है। यह सक्रिय और गतिशील निरन्तरता है. और सिंगर इस तथ्य को स्वीकार करते हैं (1967 : 68)। लोग नई परिस्थितियों से अनुकूल कर लेते हैं।

## अवधारणा की अनुभूति (Preception of the Concept)

***संस्कृतिकरण की प्रक्रिया यह संकेत देती है:***

(अ) परिवर्तन की एक प्रक्रिया;

*(ब) उर्ध्वगतिशीलता, अर्थात् जाति संस्तरण में निम्न जातियों की ऊपर उठने की आकांक्षा;*

(स) संस्तरण पर आघात (attack) तथा संस्कृति का समान स्तर बनाना।

*जहाँ तक संस्तरण पर आघात का प्रश्न है, न केवल निम्न जातियाँ बल्कि जनजातियाँ और संस्तरण के मध्य क्षेत्रों की जातियां भी उच्च* जातियों की प्रथाओं, रीति–रिवाजों, तथा जीवन शैली को अपनाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार ब्राह्मणों की जीवन–शैली और रिवाज् सभी हिन्दुओं में फैलते हैं। क्या इसको संस्तरण पर आक्रमण और संस्कृति का समानीकरण (levelling) कहा जा सकता है? हैरोल्ड गूल्ड ने (1961 : 965) इसे सांस्कृतिक नकल करना नहीं बताया है, बल्कि सामाजिक आर्थिक वंचन (deprivations) के प्रति विद्रोह एवं चुनौती की अभिव्यक्ति कहा है। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह संस्तरण पर आक्रमण है, लेकिन इसे संस्कृति के समानीकरण में सफलता नहीं मिली।

*जहाँ तक 'उर्ध्व गतिशीलता' का सम्बन्ध है, योगेन्द्र सिंह ने इसे संस्कृतिकरण का 'संदर्भित विशिष्ट लक्षण' (contextual specific* connotation) कहा है। यह इस कारण कि यह निम्न जाति द्वारा उच्च जाति की सांस्कृतिक नकल करने की प्रक्रिया है जो राजपूत, जाट, ब्राह्मण, बनिया भी हो सकती है। कुछ स्थानों में जनजातियाँ भी हिन्दू जातियों की प्रथाओं की नकल करने लगी हैं।

अन्त में, जहाँ तक केवल 'परिवर्तन की प्रक्रिया' का प्रश्न है, संस्कृतिकरण को एक 'ऐतिहासिक विशिष्ट' लक्षण कहा है। इस अर्थ मे इसका सन्दर्भ भारतीय इतिहास में उस प्रक्रिया से है जिसके कारण इतिहास की विभिन्न अवधियों में अनेक जातियों की स्थिति में तथा उसके (भारत के) सांस्कृतिक स्वरूपों में परिवर्तन आए। यह सामाजिक परिवर्तन के आन्तरिक स्रोत की ओर भी संकेत करता है।

## सामाजिक परिवर्तन में इन अवधारणाओं की उपयोगिता
## (Usefulness of the Concepts in understanding Social Change)

भारतीय समाज में विश्लेषण में संस्कृतिकरण की अवधारणा को एक उपकरण के रूप में इसकी उपयोगिता को स्वयं श्रीनिवास ने अत्यधिक सीमित बताया है क्योंकि 'अवधारणा जटिल एवं अयथार्थ है' (वही, 1985:440। हम भी इस अवधारणा की कुछ कमियों को इंगित कर सकते हैं:

1. संदर्भ समूह (reference group) सदैव ब्राह्मण जाति नहीं होता, अपितु कई मामलों में वह स्थानीय प्रबल जाति (राजपूत बनिया, जाट आदि) होता है, इसलिए संस्कृतिकरण का संदर्भ न केवल हर मॉडल से भिन्न मिलता है (जैसे ब्राह्मण मॉडल, राजपूत मॉडल, बनिया मॉडल, आदि) परन्तु एक ही मॉडल मे अलग–अलग क्षेत्रों में भी भिन्नता मिलती है। योगेन्द्र सिंह (1973 : 8) के अनुसार यह (भिन्नता का लक्षण) संस्कृतिकरण के विभिन्न 'संदर्भित विशिष्ट' लक्षण में विरोधाभास पैदा करता है।

2. श्रीनिवास ने शक्ति (power) व प्रभुत्व (dominance) को संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड़ दिया है। इससे सामाजिक परिवर्तन के संस्कृतिकरण मॉडल में संरचनात्मक इकाई भी शामिल हो जाती है। श्रीनिवास ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। उनका कहना है कि अनेक निम्न जातियाँ अतीत में उच्च स्थितियों तक पहुंची है और या वे राजकीय आदेश से या शक्ति हड़प कर प्रबल जातियाँ बन गई हैं।

3. 'संस्कृतिकरण' तथा 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाएँ सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण मुख्यतः संस्कृति के सन्दर्भ में करती हैं न कि संरचना के संदर्भ में। संस्कृतिकरण जाति व्यवस्था में केवल 'स्थिति परिवर्तन' प्रकट है तथा वह संरचनात्मक परिवर्तन इंगित नहीं करता।

4. जेटरबर्ग (Zeterberg, 1965) इस विचार के हैं कि श्रीनिवास की दोनों अवधारणाएं 'सत्य की दावा करने वाली' (truth asserting) हैं। श्रीनिवास ने स्वयं कहा है कि संस्कृतिकरण एक अत्यन्त जटिल तथा विषमरूपी (heterogeneous) अवधारणा है। *इसको एक अवधारणा के रूप में समझने की अपेक्षा अवधारणाओं के एक बन्डल के रूप में समझना लाभदायक होगा। यह विस्तृत* सांस्कृतिक प्रक्रिया का केवल एक नाम है।

5. श्रीनिवास का मॉडल केवल भारत में सामाजिक परिवर्तन को समझाता है जो कि जाति व्यवस्था पर आधारित है। अन्य समाजों के लिए यह उपयोगी नहीं है।

6. ये अवधारणाएँ सांस्कृतिक परिवर्तन के किसी सिद्धान्तहीन है। जेटरबर्ग (1965 : 40) का कहना है कि ये दोनों अवधारणाएं उपयुक्त या अनुपयुक्त, प्रभावशाली या मूल्यहीन तो हो सकती है, परन्तु सही या गलत कभी नहीं हो सकती।

7. हार्पर भी इस अवधारणा को एक प्रकार्यात्मक अवधारणा मानता है जो कि परिवर्तन की ऐतिहासिक अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है।

8. योगेन्द्र सिंह (1973 : 11) की मान्यता है कि संस्कृतिकरण अतीत तथा वर्तमान में हुए भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन के अनेक पक्षों का विवरण नहीं देता, क्योंकि यह गैर–सांस्कृतिक परम्पराओं की उपेक्षा करता है जो कि सांस्कृतिक परम्पराओं का स्थानीय स्वरूप है। मेकिम मेरियट (1955 : 196–9) ने भी भारत के एक ग्रामीण समुदाय के अपने अध्ययन में यही पाया।

9. देश के कुछ भागों में (जैसे पंजाब तथा देश विभाजन से पहले का सिन्ध) जातियों द्वारा जो कुछ भी नकल किया जाता था वह सांस्कृतिक परम्पराएँ नहीं थीं बल्कि इस्लामी परम्पराएँ थीं। पंजाब में सिख धर्म का उदय हिन्दू परम्पराओं और सूफीवाद व रहस्यवाद के आन्दोलनों के संश्लेषण का प्रतिफल है।

उपरोक्त विवेचन प्रकट करता है कि श्रीनिवास के द्वारा विकसित की गई दोनों अवधारणाएँ भारत के संपूर्ण परिवर्तन का नहीं अपितु मात्रा समिति परिवर्तन का संकेत देती हैं।

## आधुनिकीकरण एवं विश्वीकरण (Modernization)

आधुनिकीकरण के विविध आयाम (dimension) है। इसको समाज समूह या व्यक्ति के स्तर पर समझा जा सकता है। इसको आर्थिक आधुनिकीकरण, राजनैतिक आधुनिकीकरण, सामाजिक आधुनिकीकरण, तकनीकी आधुनिकीकरण, सैन्य आधुनिकीकरण, पुलिस आधुनिकीकरण, शैक्षिक आधुनिकीकरण, प्रशासनिक आधुनिकीकरण, आदि के रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार अवधारणा का प्रयोग विस्तृत रूप में किया गया है।

अर्थशास्त्री आधुनिकीकरण को समाज में प्रति व्यक्ति उत्पादन (output) में उल्लेखनीय वृद्धि लाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों के नियंत्रण की तकनीक के प्रयोग में आने वाले मानव प्रयत्नों के अर्थ में समझते है। समाजशास्त्री इसका विवेचन जीवन की गुणवत्ता में आए अन्तर के अर्थ में करते हैं। जो कि आधुनिक समाज की विशेषता है। वे नये कार्यो को करने के लिए नई संरचनाओं को खोजते हैं या पुरानी संरचनाओं को नए कार्य सौंपते हैं। वे आधुनिकीकरण प्रक्रिया के विकार्यात्मक (dysfunctional) परिणामों का भी अध्ययन करते हैं, जैसे मानसिक बीमारी, हिंसा, सामाजिक अशांति व असन्तोष, क्षेत्रावाद और प्रदेशवाद, तथा जाति और वर्ग संघर्ष, आदि। राजनीतिक वैज्ञानिक जैसे–जैसे आधुनिकीकरण होता जाता है। राष्ट्र की समस्याओं तथा सरकार बनाने की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे इस विषय में भी चिन्तित रहते हैं कि सत्ता की भागीदारी के लिए राजनीति में नवागन्तुकों के प्रयत्नों के प्रति राजनैतिक अभिजन किस प्रकार प्रतिक्रिया करते हैं तथा सत्ता पर एकाधिकार करने वालों पर नजर रखना कि वे क्या कर रहे हैं। (Myron Weiner, 1966: 33)।

ईजेन्टाड (Eisenstadt, 1969: 1) के अनुसार आधुनिकीकरण समकालीन दर्शय की सबसे प्रभावी विशेषता है, क्योंकि अधिकतर राष्ट्र आजकल इसकी पकड़ में है। विविध देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएँ एवं विशेषताएँ कुछ अर्थो में सामान्य और कुछ अर्थों में भिन्न है। ऐतिहासिक दृष्टि से (सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में) आधुनिकीकरण का विकास विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न परम्परागत समाजों की विविधता से हुआ है। पश्चिमी यूरोप में समाजों का विकास सामन्ती (feudal) राज्यों से हुआ, पूर्वी यूरोप में निरंकुश राज्यों से, अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में उपनिवेशवाद, तथा आवसन (immigration) से लेटिन अमेरिका में अल्पतन्त्रीय (oligarchic) विजित उपनिवेशवादी समाजों से, जापान में केन्द्रीय सामन्ती राज्य से, चीन में निरन्तर चलने वाली साम्राज्यवादी व्यवस्था के टूटने से, एशिया और अफ्रीका के अधिकतर देशों में औपनिवेशिक संरचना से, कुछ समाजों में (विशेषकर एशिया) केन्द्रिय राजतंत्रीय (monarchical) समाजों से, और कुछ में जनजातीय संरचना और परम्पराओं से (समाज का) विकास हुआ। ईजेन्टाड का कहना है कि इन समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के विविध प्रारम्भिक बिन्दुओं ने उनके विकास क्रम से विशिष्ट बाह्य रूपों तथा रास्ते में आने वाली समस्याओं को प्रभावित किया है।

आधुनिकीकरण की अवधारणा की संदिग्धता, तथा प्रसार का फल यह हुआ है कि आधुनिकीकरण को विविध प्रकार व स्वरूपों से सामाजिक परिवर्तन से पहचाना जाने लगा है। जैसे पश्मिीकरण, औद्योगिकीकरण, प्रगति, विकास आदि। इसके अतिरिक्त विशेष पक्षों पर बल दिया जाना भी आधुनिकीकरण के आवश्यक तत्त्वों में से रहा है। अतः यह आवश्यक है कि 'आधुनिकीकरण' शब्द की परिभाषा सूक्ष्म रूप में तथा वस्तुपरक अर्थ में की जाये।

## अवधारणा (The Concept)

आधुनिकीकरण कोई दर्शन या आन्दोलन नहीं है। जिसमें स्पष्ट मूल्य व्यवस्था हो। यह तो परिवर्तन की एक प्रक्रिया है (Gore, 1982: 7)। प्रारम्भ में आधुनिकीकरण शब्द का प्रयोग ''अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सामाजिक मूल्यों एवं प्रथाओं पर इसके प्रभाव'' के संदर्भ में किया जाता था। इसका वर्णन ऐसी प्रक्रिया के रूप में किया जाता था। जिसने समाज को प्रमुख रूप से कृषि प्रधान समाज से, प्रमुख रूप से औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले समाज में परिवर्तित कर दिया है। अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन के परिणामस्वरूप समाज में मूल्यों, विश्वासों एवं मानदण्डों में भी परिवर्तन आने लगा। (गोरे, वही: 7)। आजकल आधुनिकीकरण शब्द को वृहत् अर्थ दिया जाता है। इसको एक ऐसा सामाजिक परिवर्तन माना जाता है। जिसमें विज्ञान और तकनीकी (technology) के तत्त्व शामिल होते है।

इसमें युक्तिपूर्णता (rationality) निहित है। एलाटास (Alatas, 1972: 22) के अनुसार आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा स्वीकृत विस्तृत अर्थों में अधिक अच्छे व सन्तोषजनक जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से आधुनिकीकरण वैज्ञानिक ज्ञान को समाज में पहुँचाया जाता है। इस परिभाषा में 'आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान' में निम्न बातें सम्मिलित हैं: (प) प्रस्तावित व्याख्याओं (suggested explanations) की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रयोगों की सहायता लेना, (ii) उन नियमों की कल्पना करना जिनको तार्किक व प्रयोगात्मक (experimental) आधार पर समझाया जा सकता है, जो (व्याख्या) कि धार्मिक मत व दार्शनिक व्याख्या से भिन्न हो, (iii) तथ्यों की विश्वसनीयता को निश्चित करने के लिए निश्चित विधियों का प्रयोग, (iv) अवधारणाओं एवं चिन्हों का प्रयोग और (अ) सत्य के लिए सत्य की खोज करना।

ईजेन्टाड (Eisenstadt, 1969: 2) के अनुसार आधुनिकीकरण सामाजिक संगठन के संरचनात्मक पक्ष और समाजों के सामाजिक जनसंख्यात्मक, दोनों पक्षों की व्याख्या करता है। कार्ल ड्यूश (Karl Deutsh American Political Science Review, September 1961: 494-95) ने आधुनिकीकरण के अधिकतर सामाजिक जनसंख्यात्मक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए, 'सामाजिक गतिमानता' (social mobilazation) शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा इस प्रकार की है: ''ऐसी प्रक्रिया जिसमें पुरानी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धताओं के समूह मिटा दिए जाते हैं व तोड़ दिए जाते हैं और लोग नवीन प्रकार के सामाजिक और व्यवहार प्रतिमानों के लिए तैयार रहते हैं।''

रस्टोव और वार्ड (Rustow And Ward, 1964) की मान्यता है कि आधुनिकीकरण में मूल प्रक्रिया मानवीय मामलों में आधुनिक विज्ञान प्रयोग है। पाई (Pye, 1969: 329) के अनुसार आधुनिकीकरण व्यक्तिकरण व्यक्ति व समाज के अनुसन्धानात्मक व आविष्कारशील दृष्टिकोण का विकास है जो तकनीकी तथा मशीनों के प्रयोग में निहित होता है तथा जो नये प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को प्रेरित करता है। टायनवी (Toynbee, 1962: 24) जैसे विद्वानों का मानना है कि आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण में कोई अन्तर नहीं है वे लिखते हैं कि मान्य 'आधुनिक' शब्द कम-मान्य शब्द 'पश्चिमी' का प्रतिस्थापन है। विज्ञान और जनतंत्र के परिचय के लिए 'पश्चिमी' के स्थान पर 'आधुनिक' शब्द के प्रयोग का उद्देश्य बाह्य स्वरूप को बचाना मात्र है, क्योंकि यह तथ्य व्यक्तियों के लिए स्वीकार करने योग्य नहीं है कि उनकी अपनी पैतृक जीवनशैली उस वर्तमान स्थिति के अनुकूल नहीं है जिसमें वे अपने को पाते हैं लेकिन ऐसे विचारों को पूर्णरूपेण अनुचित एवं पक्षपातपूर्ण बताया गया है।

'आधुनिकीकरण' को 'औद्योगीकरण' से भी संभ्रमित (confused) नहीं मानना है। औद्योगीकरण का सन्दर्भ उन परिवर्तनों से है जो कि उत्पादन की विधियों, शक्तिचलित (power driven) मशीनों के प्रवेश के फलस्वरूप आर्थिक व सामाजिक संगठनों, तथा परिणामस्वरूप फैक्ट्री व्यवस्था के उदय से है। थियोडरसन (Theodorson, 1960: 201) के अनुसार औद्योगिकीकरण के निम्न लक्षण हैं: (i) कारीगर या शिल्पी के घर या दुकान में हस्त उत्पादन के स्थान फैक्ट्री केन्द्रित मशीनों उत्पादों की प्रतिस्थापना, (ii) प्रमाणिकी वस्तुओं (standardized goods) का बदले जाने वाले भागों (interchangeable parts) से उत्पादन (iii) फैक्ट्री मजदूरों के एक वर्ग का उदय जो मजदूरी के लिए कार्य करते हैं और जो न तो उत्पादन किए गए माल और न ही उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं। (iv) गैर-- कृषि धन्धों मे लगे लोगों के अनुपात में वृद्धि और (अ) असंख्य बड़े नगरों का विकास। औद्योगिकीकरण लोगों को वे भौतिक वस्तुएँ उपलब्ध कराता है जो पहले कभी उपलब्ध नहीं थीं। आधुनिकीकरण, दूसरी ओर, एक लम्बी प्रक्रिया है जिससे मस्तिष्क का वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा होता है।

जेम्स ओ कोनेल (James O' Connell, 1965% 554) ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के विश्लेषण में इसको तीन पहलुओं में विभाजित किया है (i) आविष्कारात्मक (inventive) दृष्टिकोण, अर्थात् वैज्ञानिक भावना जिससे निरन्तर व्यवस्थित तथा आविष्कारात्मक ज्ञान प्राप्त होता हो, जो कि घटना के कारण और परिणाम से संबंधित हो (ii) नए तरीकों और उपकरणों का आविष्कार, अर्थात उन विभिनन विधियों की खोज जो अनुसन्धान को आसान बनाए, और उन नई मशीनों का आविष्कार जो जीवन के नये प्रतिमान को आवश्यक बनाते हों। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत व्याख्या धार्मिक संस्कारों को अनावश्यक बनाती है, और (iii) सामाजिक संरचनाओं का लचीलापन और

पहचान की निरन्तरता अर्थात, व्यक्तिगत और सामाजिक संरचनात्मक दोनों स्तरों पर निरन्तर परिवर्तन को स्वीकारने की इच्छा और साथ ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक पहचान सुरक्षित रखने की योग्यता। उदाहरणार्थ बहुपत्नी परम्परागत समाज में वैवाहिक रीति–रिवाज बुजुर्गों के चारों ओर केन्द्रित थे, किन्तु मजदूरी प्रथा के प्रचलन और श्रमिकों की गतिशीलता से युवा पीढ़ी को आर्थिक उपलब्धियों ने पत्नियों के लिए प्रतिस्पर्द्धा को बाध्य कर दिया।

जेम्स ओ कोनेल (1965 : 549) के अनुसार परम्परागत समाज में जो परिवर्तन होते हैं, वे इस प्रकार हैं:

1. आर्थिक विकास में वृद्धि होती है और वह आत्मनिर्भर हो जाता है।
2. धन्धे अधिक विशिष्ट और कुशल (skilled) हो जाते हैं।
3. प्रारंभिक धन्धों में लगे लोगों की संख्या कम होती जाती है, जबकि द्वैतीयक तथा तृतीयक धन्धों में लगे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है।
4. पुराने कृषि यन्त्रों तथा विधियों के स्थान पर ट्रेक्टरों और रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग बढ़ता है।
5. वस्तु विनिमय (barter system) के स्थान मुद्रा व्यवस्था ले लेती है।
6. उन समुदायों के बीच जो पहले एक दूसरे से अलग होते थे और स्वतंत्र होते थे, अन्तः निर्भरता (inter-dependence) आ जाती है।
7. नगरीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि होती है।
8. प्रदत्त प्रस्थिति अर्जित प्रस्थिति को स्थान देती है।
9. समानता धीरे–धीरे संस्तरण का स्थान लेती है।
10. स्वास्थ्य सुधार तथा अच्छी मेडिकल देखभाल के कारण जीवन की अवधि लम्बी होती जाती है।
11. यातायात तथा संचार की नवीन विधियों द्वारा भौगोलिक दूरियाँ कम होती जाती हैं।
12. वंशानुगत नेतृत्व का स्थान चुनाव द्वारा नेतृत्व ले लेता है।

इस सम्बन्ध में 'परम्परा', 'परम्परावाद' तथा 'परम्परागत समाज' शब्दों को समझना आवश्यक है। 'परम्परा' शब्द का अर्थ अतीत में चले आ रहे विश्वासों एवं प्रथाओं से है। 'परम्परावाद' मानसिक दृष्टिकोण (psychic attitude) है जो प्राचीन विश्वासों और प्रथाओं के अपरिवर्तनीय मानकर उनको शोभायुक्त व गौरवान्वित करता है। यह परिवर्तन और विकास के विपरीत है। परम्परावादी लोग परम्परा को स्थायी मानते हैं। उनका कहना है कि परम्परात्मक मूल्यों ओर प्रथाओं को मानना और सुरक्षित रखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि अतीत में उन्हें उपयोगी पाया गया था अतः वे उन नवीनताओं के दुश्मन हैं जो पुरानी प्रथाओं का उल्लंघन करती हैं।

एडवर्ड शिल्स (Edward Shils, Tradition and Liberty in Ethics, 1965: 160-61) के अनुसार परम्परा या परम्परापरक अभिमुख क्रिया (tradition-alistically-oriented action) ''परम्परात्मक मानदण्डों का उनकी परम्परात्मक प्रकृति के प्रति जागरूक रहते हुए स्वेच्छा से उनकी निश्चयपूर्वक अभिपुष्टि करना (deliberate affirmation) है।'' परम्परात्मक मानदण्ड पवित्र भाव से पुण्य रूप से उदित होते हैं। यदि यह मानदण्ड अतीत की किसी पवित्र वस्तु से जुड़े हों तो उनके परिवर्तन का अधिक विरोध होगा, अपेक्षाकृत उन मानदण्डों के जिनका आधार पवित्र वस्तु से सम्बन्धित न हो।

परम्परात्मक ढंग से संप्रेषित (transmitted) मानदण्ड इस कारण स्वीकार किए जाते हैं क्योंकि:
(i) उनके न मानने में मान्यता व अनुशास्ति (sanctions) का प्रश्न उठता है, (ii) दी गई स्थिति में नियमों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और इस प्रकार समाज में स्थिरीकरण (stabilization) का कार्य करते हैं (iii) उनमें पवित्रोन्मुखता होती है (iv) उनका संप्रेषण अतीत से होता रहा है, और (अ) भय और अज्ञानता के कारण भी लोग अतीत के प्रति श्रद्धावान रहते हैं और परिवर्तन का विरोध करते हैं।

आर.एन.बेल्लाह (R.N. bellah, Values and Social Change in Modern Japan, 1961:15) के अनुसार परम्परागत समाज की विशेषताएँ हैं: मौखिक परम्पराओं की प्रधानता, नातेदारी पर आधारित संगठन, प्रदत्त प्रस्थिति, तथा संस्तरित सामाजिक व्यवस्था। इसके विपरीत 'आधुनिक समाज' की विशेषताएँ हैं: मशीनी तकनीक, राष्ट्रीय व धर्म निरपेक्षता के विचार तथा अत्यन्त उच्चता की विविधता पूर्ण संरचनाएँ। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ परम्परागत समाज रीति–रिवाज व प्रथाओं से बँधा होता है और संस्तरित (hierachical), प्रदत्त प्रस्थिति वाला, तथा अनुत्पादक (unproductive) होता है, वहीं आधुनिक समाज समानतावादी (egalitarian), उपलब्ध परक (achievement oriented), तथा उत्पादन परक (production-oriented) अर्थ–व्यवस्था पर आधारित होता है।

परम्परागत समाज गतिहीन होता है। उच्च गतिशीलता वाले समाज में जिसे मुक्त समाज भी कहा जाता है, व्यक्ति मार्ग में आने वाले अवसरों तथा योग्यता व संभावनाओं का लाभ उठाते हुए अपनी प्रस्थिति में परिवर्तन कर सकता है। दूसरी ओर, बन्द या गतिहीन समाज में व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक एक ही प्रस्थिति में रहता है। आधुनिकता से हमारा तात्पर्य मुक्त समाज की रचना से या नई संस्थाओं की रचना की सीमा से, और उस परिवर्तन को स्वीकारने से है जो संस्थाओं, विचारों तथा समाज की सामाजिक संरचना से सम्बद्ध है। शिल्स (Shils) की मान्यता है कि परम्परागत समाज किसी भी अर्थ में पूर्णतः परम्परागत नहीं होता और आधुनिक समाज किसी भी प्रकार परम्पराओं से मुक्त नहीं होता।

## विशेषताएँ (The Characteristics)

कार्ल ड्यूश (Karl Deutsh, 494 : 95) ने आधुनिकता के एक पक्ष (अर्थात् सामाजिक–जनसंख्यात्मक या जिसे यह सामाजिक गतिशीलता भी कहते हैं) का संदर्भ देते हुए इंगित किया है कि इसके कुछ सूचक (indices) इस प्रकार है : यंत्रों के माध्यम से आधुनिक जीवन के प्रति विगोपन या अनावृत्ति (exposure), शहरीकरण, कृषि धन्धों में परिवर्तन, साक्षरता तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि।

इजेन्टाड (Eisentadt, 1969 :3) के अनुसार सामाजिक संगठन (या आधुनिकीकरण) के संरचनात्मक पक्षों के मुख्यसूचक (indices) हैं. विशिष्ट भूमिकाएँ (specialized roles) उन्मुक्त विचरण वाली (free floating) होती हैं (अर्थात, उनमें प्रवेश व्यक्ति के प्रदत्त लक्षणों से निर्धारित नहीं होता है) तथा धन व शक्ति जन्म से आधार पर निश्चित नहीं होते (जैसा कि परम्परागत समाजों में होता है)। यह मार्केट जैसी संस्थाओं से (आर्थिक जीवन में) मतदान से, और राजनीतिक जीवन में पार्टी कार्यों से सम्बद्ध होते हैं।

करने और परम्परात्मक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

## विकल्पयुक्त अनुक्रिया (Disjunctive Response)

प्राचीन और नवीन के बीच सन्धि (conjuction) अनुक्रिया अथवा आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मकता के बीच सह–अस्तित्व (co-existence) तब होता है जब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परागत जीवन को प्रभावित किये बिना ही निस्पृह (detached) विकास के रूप में चलता रहता है। इस प्रकार आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मक व्यवस्था में कोई संघर्ष नहीं होता क्योंकि प्राचीन व्यवस्था को कोई खतरा नहीं होता। आधुनिकीकरण के लक्षण परम्परागत जीवन के साथ–साथ रहते हैं।

## आत्मसाती अनुक्रिया (Assimilutive Response)

इस अनुक्रिया में परम्परागत व्यवस्था द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का आत्मसातीकरण निहित है जो कि जीवन के स्वरूप और संगठनात्मक पक्ष पर कोई प्रभाव नहीं डालता। इसका उदाहरण बैंकिंग व्यवस्था में बैंक कर्मचारियों द्वारा कम्प्यूटर विचारधारा को स्वीकार करना है, अथवा गाँवों में किसानों द्वारा कृत्रिम उर्वरकों और ट्रैक्टरों का प्रयोग करना है। दोनों ही उदाहरणों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परात्मक व्यवस्था या उसके मूलभूत ढांचे को प्रभावित किए बिना आती है।

## समर्थक अनुक्रिया (Supportive Response)

इसके अन्तर्गत नवीन व आधुनिक बातें स्वीकार की जाती हैं क्योंकि उनसे परम्परात्मक व्यवस्था को बल मिलता है। उदाहरणार्थ पुलिस या सेना में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पुलिस की कार्य क्षमता तथा सेना की शक्ति में वृद्धि करती है। विविध परम्परात्मक समूह और संस्थाएँ परम्परागत हितों को जारी रखने के लिए आधुनिकीकरण द्वारा प्रदत्त अवसरों का प्रयोग करते हैं तथा परम्परागत स्थिति की दृढ़ता से बनाए रखते हैं। आधुनिकीकरण परम्परात्मक हितों को आगे बढ़ाए रखने के लिए संसाधन और सुविधाएँ उपलब्ध करा सकता है।

## विघटनकारी अनुक्रिया (Disruptive Response)

इस अनुक्रिया में परम्परात्मक व्यवस्था को कई बिन्दुओं पर समायोजन द्वारा खोखला बनाया जाता है जो कि आधुनिकीकरण द्वारा उत्पन्न स्थितियों के कारण किया जाता है।

साधारणतया ये पाँचों अनुक्रियाएँ विविध संयोजनों (combinations) द्वारा परम्परागत व्यवस्था विविध बिन्दुओं पर होती रहती है। अनुक्रियाएं वरीयताओं (preferences), रुचियों (interests) तथा मूल्यों (values) से प्रभावित होती रहती हैं।

माइरन वीनर (Myron Weiner, 1966:8) के अनुसार आधुनिकीकरण को सम्भव बनाने वाले प्रमुख साधन (instruments) इस प्रकार हैं:

### शिक्षा (Education)

शिक्षा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करती है तथा तकनीकी नवीनताओं के लिए आवश्यक दक्षता और अभिरूचियाँ पैदा करती है। एडवर्ड शिल्स ने भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका पर बल दिया है। परन्तु आर्नोल्ड एण्डरसन (Arnold Anderson) की मान्यता है कि औपचारिक (formal) शिक्षा ही केवल अध्यापन कुशलता के लिए पर्याप्त नहीं है। कभी–कभी विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा व्यर्थ हो सकती है, क्योंकि यह डिग्रीधारियों की संख्या में वृद्धि कर देती है, किन्तु आधुनिक दक्षता तथा अभिरुचियों से पूर्ण लोगों की संख्या में वृद्धि नहीं करती।

### संचार (संप्रेषण) (Communication)

जनसंचार के साधनों का विकास (टेलिफोन, टी.वी., रेडियो तथा फिल्म आदि) आधुनिक विचारों को प्रसारित करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। केवल खतरा यह है कि यदि इन पर सरकारी नियंत्रण हो तो यह एक ही प्रकार की विचारधारा को प्रसारित करेंगे। प्रजातंत्र में प्रेस अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र होता है।

### राष्ट्रीयता पर आधारित विचारधारा (Ideology Based on nationalism)

बहुल (plural) समाजों में राष्ट्रवादी विचारधाराएँ सामाजिक दरारों (social cleavages) के एकीकरण के लिए अच्छा साधन होती हैं। वे लोगों के व्यवहार परिवर्तन हेतु राजनैतिक अभिजन की भी सहायता करती हैं। परन्तु बाइन्डर (Binder) की मान्यता है कि अभिजनों की विचारधारा आधुनिक हो सकती है, लेकिन यह आवश्यक है कि इससे विकास को भी सुविधा प्राप्त हो।

### करिश्माई (चमत्कारी) नेतृत्व (Charismatic Leadership)

एक करिश्माई (चमत्कारी) नेता लोगों को आधुनिक विचार, विश्वास, रीति–रिवाज तथा व्यवहार अपनाने के लिए प्रेरित करने में अच्छी स्थिति में होता है क्योंकि लोग उसे श्रद्धा व निष्ठा से देखते हैं। भय यही रहता हे कि ऐसा नेता कहीं राष्ट्रीय विकास के स्थान पर व्यक्तिगत यश के लिए आधुनिक मूल्यों एवं अभिरुचियों का प्रयोग न करने लगे।

### अवपीड़क सरकारी सत्ता (Corecive Government Authority)

यदि सरकारी सत्ता कमजोर है तो यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बनी नीतियों को क्रियान्वयन (implementation) में सफलता प्राप्त न कर सके, किन्तु यदि सरकार मजबूत है तो यह लोगों को विकास के उद्देश्य से व्यवहार एवं अभिरुचियों को अपनाने के लिए बाध्य कर सकती है और इसके लिए अवपीड़न (coercion) का सहारा भी ले सकती है। परन्तु माइरन वीनर का मत है कि एक तानाशाही शासन की ढाल के नीचे राष्ट्रीयता देश को विकास की ओर ले जाने के स्थान पर देश के बाहर आत्महत्या का विस्तार स्वरूप (suicidal expansion) सिद्ध हो सकती है। इस सन्दर्भ में बुश प्रशासन (अमेरिका में) के राजनैतिक अभिजनों की नीतियों का उदाहरण देना गलत नहीं होगा जो कि उन्होंने ईराक आदि के लिए बनाई थीं। रूस की श्रेष्ठता समाप्त हो जाने के बाद अमेरिका की सरकारी सत्ता ने अविकसित एवं विकासशील देशों को आधुनिकीकरण के नाम पर पीड़ित करने की नीति अपनानी प्रारम्भ कर दी।

माइरन वीनर (1966 : 9–10) ने समाज के आधुनिकीकरण के लिए मूल्यों, अवसरों एवं अभिरुचियों में परिवर्तन की बात भी कही है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया में उन संस्थात्मक रुकावटों की ओर संकेत किया है जो विनियोजन (investment) की दर में कमी करती है। इस प्रकार की संस्थात्मक रुकावटों के उदाहरण हैः भूस्वामित्व (land tenure) व्यवस्था जो कि किसानों को बढ़ते हुए उत्पादन के लाभ से वंचित करती है, ऐसे कर जो देश के एक भाग से दूसरे भाग में वस्तुओं की आने–जाने की गति कम करते हैं तथा नौकरशाही नियम।

### भारत में पश्चिम का और आधुनिकीकरण का प्रभाव (The Impact of the West and Modernization in India)

अलाटास (Alatas, 1972 : 121) के अुनसार भारत पर पश्चिमी प्रभाव का पाँच चरणों में विवेचन किया जा सकता है। प्रथम चरण सिकन्दर की विजय के साथ प्रतिरोधी सम्पर्क है जो कि बाद की शताब्दियों से वाणिज्य व व्यापार से शक्तिपूर्ण आदान–प्रदान के रूप में सदियों तक चलता रहा। दूसरा चरण पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ जब वास्कोडिगामा कालीकट में अपने जहाजों के साथ 1498 ई.पू. में आया। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन पश्चिमी लोगों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा। तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ और बाद में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया। भारत में पश्चिमी संस्कृति के विस्तार का यह प्रथम कदम था। चतुर्थ चरण प्रारम्भ हुआ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तथा औद्योगिक क्रान्ति के आगमन से। अंग्रेजों द्वारा कच्चे माल के रूप में आर्थिक शोषण से प्रारम्भ हुआ और तभी से सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी पश्चिमी संस्कृति का वर्चस्व प्रारम्भ हुआ।

पाँचवाँ और अंतिम चरण प्रारम्भ हुआ 1947 में भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ।

हमारी सामाजिक व्यवस्था तथा हमारी संस्कृति पर प्रभाव के अर्थ में पश्चिमी संस्कृति की क्या छाप पड़ी है? इसको संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है:

1. बैंक व्यवस्था, लोक प्रशासन, सैन्य संगठन, आधुनिक औषधियाँ, कानून आदि जैसी पश्चिमी संस्थाओं को देश में प्रारम्भ किया गया।
2. पश्चिमी शिक्षा ने उन लोगों के दृष्टिकोण को विस्तृत किया जिन्होंने आजादी व अधिकारों की बात शुरू की। नवीन मूल्यों, धर्म निरपेक्ष व न्यायसंगत भावना तथा व्यक्तिवाद, समानता व न्याय के विचारों के समावेश ने बड़े महत्त्व का स्थान ले लिया।
3. वैज्ञानिक नवीनताओं की स्वीकृति ने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की आकांक्षाओं को ऊँचा उठाया और लोगों के लिए भौतिक कल्याण उपलब्ध कराया।
4. कई सुधार आन्दोलन हुए। अनेक परम्परागत विश्वास तथा व्यर्थ की प्रथाएँ त्याग दी गई, तथा अनेक नए व्यवहार स्वरूप अपनाए गए।
5. हमारी तकनीकी, कृषि, व्यवसाय और उद्योग आधुनिक किए गए जिससे देश का आर्थिक विकास एवं कल्याण हुआ।
6. राजनैतिक मूल्यों के संस्तरण की पुनर्रचना की गई। प्रजातंत्र स्वीकार करने के बाद सभी रियासतें भारतीय राज्य में सम्मिलित कर ली गई तथा सामन्तों और जमींदारों के अधिकार और शक्ति समाप्त हो गई।
7. विवाह, परिवार और जाति जैसी संस्थाओं में संरचनात्मक परिवर्तन आए और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में नए सम्बन्ध बनने लगे।
8. रेलवे, बस यात्रा, डाक सेवा, हवाई एवं समुद्री यात्रा, प्रेस, रेडियो और दूरदर्शन आदि संचार माध्यमों के आने से मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा है।
9. राष्ट्रीय भावना में वृद्धि हुई है।
10. मध्यम वर्ग के उदय ने समाज के प्रमुख मूल्यों में परिवर्तन कर दिया है।

अलाटास (Alatas) ने भी पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव को हमारी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में चार प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर समझाया है: निरस्नात्मक (eliminative) परिवर्तन, योगात्मक (addictive) परिवर्तन, समर्थन (supportive) परिवर्तन, तथा संश्लेषात्मक (synthetic) परिवर्तन। निरस्नात्मक परिवर्तन वे हैं जिनसे सांस्कृतिक विशेषताएं, व्यवहार के स्वरूप, मूल्य, विश्वास और संस्थाएं लुप्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, हम युद्ध में प्रयोग आने वाले शस्त्रों में पूर्ण परिवर्तन, सती प्रथा का उन्मूलन आदि ले सकते हैं। योगात्मक परिवर्तनो में जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित नयी सांस्कृतिक विशेषताओं, संस्थाओं, व्यवहार स्वरूपों तथा विश्वासों को अपनाना सम्मिलित है। इस प्रकार के जोड़ लोगों की संस्कृति में पहले विद्यमान नहीं थे। हिन्दू समाज में विवाह–विच्छेद की व्यवस्था, पिता की सम्पत्ति में पुत्री को भाग देना, पंचायतों में चुनाव प्रथा आदि इस प्रकार के परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं। समर्थक परिवर्तन वे हैं जो पश्चिमी सम्पर्क में आने से पूर्व समाज में विद्यमान विश्वास, मूल्य या व्यवहार स्वरूपों को अधिक मजबूत करते हैं। इसका एक मात्र उदाहरण उस परिवार की रचना है जो आवास की दृष्टि से तो एकाकी है परन्तु कार्य (function) की दृष्टि से अब भी संयुक्त है जो माता–पिता तथा सहोदरो के प्रति सामाजिक दायित्वों को पूरा करता है। दहेज प्रथा की निरन्तरता बनाए रखना, किन्तु दहेज की धन राशि लेने देने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना तथा बच्चों का माता–पिता के साथ जीवनसाथी के चयन में सहयोग करना संश्लेषनात्मक परिवर्तन के दो अच्छे उदाहरण हैं।

पश्चिमी प्रभाव के कारण परिवर्तन का उपरोक्त विभाजन केवल विश्लेषण के उद्देश्य से है लेकिन एक दूसरे से उनको अलग करना सम्भव नहीं है। एक ही प्रकार के परिवर्तन के भीतर हम दूसरे प्रकार के परिवर्तनों के तत्त्व भी देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, वस्त्र उद्योग के प्रारम्भ करने में समर्थक तत्त्व देखे जा सकते हैं क्योंकि यह कपड़े के उत्पादन को सुविधा प्रदान करता है। परन्तु साथ ही क्योंकि इससे हाथकरघा (handloom) उद्योग को आघात लगा है, तो यह कहा जा सकता है कि इसमें हटाने योग्य अथवा निरस्नात्मक परिवर्तन के तत्त्व भी काम करते हैं। खुले कारागृहों (wall-less prisons) का आरम्भ भी एक और उदाहरण है जिसमें तीन विविध प्रकार के परिवर्तन कार्य करते हैं। इसी प्रकार, शिक्षा व्यवस्था, बैंकिंग व्यवस्था, विवाह व्यवस्था आदि में परिवर्तन मिलते हैं।

अब प्रमुख प्रश्न है कि पश्चिम के सम्पर्क के बाद भारत कहाँ पहुँच गया है? आधुनिकीकरण, आदि के रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार अवधारणा का प्रयोग विशिष्ट रूप में किया गया है। क्या भारत ने प्रगति की है? क्या इसने लोक कल्याण में योगदान किया है? क्या इस प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर सम्भव है? क्या ऐसे विश्लेषण में आत्मपरकता (subjectivism) तथा दार्शनिक पक्षपात (philosophical partiality) को हटाया जाना सम्भव है? कुछ विद्वान मानते हैं कि भारत को द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अनेक समस्याओं का सामना करना

पड़ा, जैसे आर्थिक पिछड़ापन, बड़ी संख्या में लोगों का गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करना, बेरोजगारी, जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रभुत्व, ग्रामीण ऋण, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक दुर्भावना, पूँजी की कमी, तकनीकी दक्षता वाले दक्ष कार्मिकों की कमी, आदि। इन समस्याओं का समाधान भी पश्चिमी प्रभाव ने दिया है। लेकिन अन्य विद्वानों की मान्यता है कि पश्चिमी प्रभाव ने भारत को इन समस्याओं के समाधान में कोई सहायता नहीं की। यदि कुछ समस्याओं का समाधान हुआ है तो कई दूसरी समस्याएँ खड़ी हुई हैं, और भारत उन्हें पश्चिम के नमूने पर सुलझाने का प्रयत्न नहीं कर रहा है। भारत स्वदेशी ढंग से उन्हें सुलझाने का प्रयास कर रहा है। देश की स्वतंत्रता के बाद ही औद्योगिक विकास में वृद्धि, शिक्षा का विस्तार, ग्रामीण विकास, जनसंख्या पर नियंत्राण आदि पाया गया है। इस प्रकार पश्चिमी शासन की मुक्ति से और न कि पश्चिमी सम्पर्क से भारत में आधुनिकीकरण सम्भव हुआ है।

वास्तविकता यह है कि जीवन के कुछ क्षेत्रों में पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करके हम सही हो सकते हैं। आधुनिक मेडिकल साइंस, आधुनिक तकनीकी, प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने के आधुनिक उपाय, देश को बाहरी खतरों से सुरक्षा प्रदान करने के आधुनिक तरीके, आदि भारत के इतिहास में पश्चिमी के अद्वितीय योगदान के रूप में गिने जाएँगे। लेकिन, भारत इनके साथ–साथ लोगों के उत्थान के लिए अपनी परम्परागत संस्थाओं, प्रथाओं और विश्वासों का भी प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार पश्चिमी प्रभाव के बाद भी तथा विविध व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण के बाद भी भारत, भारत ही रहेगा। भारतीय संस्कृति आने वाले कई दशकों तक सुरक्षित रहेगी।

## भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया (Process of Modernization in India)

पूर्व पृष्ठों में किया गया विश्लेषण दर्शाता है कि परम्परा और आधुनिकता में एक अटूट क्रम पाया जाता है जिसमें एक ओर परम्परा और दूसरी ओर आधुनिकीकरण है। निरन्तरता की इस रेखा पर किसी भी समाज को किसी बिन्दु पर रखा जा सकता है। अधिकतर समाज किसी–न–किसी प्रकार की संक्रमण की स्थिति में रहते हैं।

स्वतंत्रता के समय भारतीय समाज में भी गहरी परम्पराएँ थीं, किन्तु यह आधुनिक भी होना चाहता था। ऐसे लोग व ऐसे नेता थे जो कि परम्परागत जीवनशैली ही पसन्द करते थे, लेकिन दूसरी ओर ऐसे लोग भी थे जो भारत का आधुनिक उदय देखना चाहते थे जिसमें अतीत का लगाव न हो। लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो परम्परा एवं आधुनिकता के बीच सामंजस्य के पक्षधर थे। उनका कहना था कि परम्परागत व्यवस्था एक सीमा तक आधुनिकीकरण को स्वीकार कर सकती है व अपना सकती है। इस प्रकार एक आधुनिकीकृत व्यवस्था एक निश्चित सीमा तक ही परम्परात्मक विचारों को सहन कर सकती है। इस प्रकार वे सह–अस्तित्व चाहते थे। लेकिन प्रथम दो विचारधाराओं के प्रतिपादकों ने माना कि सह अस्तित्व बहुत लम्बी अवधि तक नहीं चल सकता। एक ऐसा बिन्दु अवश्य आता है जबकि परम्परा असह्य हो जाती है। आखिर में परिवर्तन की कौन सी प्रक्रिया हमने अपनाई?

हमने अपने समाज को विविध स्तरों पर आधुनिक बनाने का निश्चय किया। जीवन के कौन से पक्ष आधुनिकीकरण के लिए चुने गए और किस तरीके से सामाजिक स्तर पर हम सामाजिक सम्बन्धों को समानता तथा मानवीय गौरव के आधार पर बनाना चाहते थे, ऐसे सामाजिक मूल्य चाहते थे जो सामाजिक गतिशीलता को सुनिश्चित करें, जाति निर्योग्यताओं को दूर करें, स्त्रियों की दशा में सुधार करें, आदि। आर्थिक तौर पर हम तकनीकी विकास तथा न्याय वितरण (distributive justice) चाहते थे। सांस्कृतिक स्तर पर हम धर्मनिरपेक्षता, तर्कवाद और उदारवाद चाहते थे। राजनैतिक स्तर पर हम प्रतिनिधि सरकार, जनतांत्रिक संस्थाएं, उपलब्धि–परक शक्ति संरचना (achievement-oriented power structure), तथा देश की सरकार में भारतीय जन की अधिक आवाज व भागीदारी चाहते थे। समाज को आधुनिक बनाए जाने के लिए जो माध्यम चुने गए (तर्कवाद और वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित) वे थे: नियोजन, शिक्षा, (जो अज्ञानता के अंधकार को दूर कर सके), विधान, विदेशों से सहायता, उदारवाद की नीति अपनाना, आदि।

जहाँ तक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, विस्तृत रूप में कहा जा सकता है कि गुणात्मक दृष्टिकोण से भारत में आधुनिकीकरण इन प्रक्रियाओं से गुजर रहा है :–

आर्थिक संरचनात्मक स्तर पर, पुरानी पारिवारिक एवं सामुदायिक उपकरणीय अर्थव्यवस्था (tool economy) के स्थान पर यांत्रिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह जमानी प्रथा जैसी परम्परागत व्यवस्था को तोड़ने के लिए भी उत्तरदायी है।

राजनैतिक संरचनात्मक स्तर पर, शक्ति संरचना में परिवर्तन लाया जा रहा है। अर्द्ध सामन्ती समूह–परक (group-oriented) शक्ति संरचना का उन्मूलन करके और उसके स्थान पर जनतांत्रिक शक्ति संरचना की स्थापना करके जो कि आवश्यक रूप से व्यक्ति–परक (individual-oriented) होती है।

सांस्कृतिक स्तर पर मूल्यों के क्षेत्र में परिवर्तन पवित्र मूल्य व्यवस्था से धर्मनिरपेक्ष मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन के द्वारा लाया जा रहा है।

सामाजिक सरचनात्मक स्तर पर अर्जित प्रस्थिति भूमिका की अपेक्षा परम्परागत प्रदत्त भूमिका व प्रस्थिति में कमी आई है।

योगेन्द्र सिंह (1973 : X) का मत है कि भारत में आधुनिकीकरण की एक अनोखी विशेषता यह है कि परम्परागत संरचना में परिवर्तन अपनाकर परिवर्तन लाया जा रहा है, न कि संरचना में विखण्डन के द्वारा।

जबकि यह सत्य है कि परम्परागत समाज की अधिकतर विशेषताएँ आधुनिक समाज में उपयुक्त नहीं बैठती, फिर भी आधुनिकता अपनाने पर थोपी नहीं जा सकती। आधुनिकीकरण पेशे में अनुसार निदेर्शित (professionally directed) होनी चाहिए। परम्परागत संस्थाओं के विशेषताओं को विकास की प्रक्रिया में उपयुक्त समायोजन के साथ रोका जा सकता है। कोई भी समाज तनाव मुक्त तभी रह सकता जबकि यह बन्द हो तथा गतिशील समाज न हो। विकासशील समाज तनाव और प्रतिरोधों के भीतर होने के आधार पर कार्य करता है। तनाव आधुनिकता व परम्परा के बीच निहितों संघर्षों के कारण बना रहता है। तनाव अतीत की धरोहर होते हैं जो कि आर्थिक विकास के दाब के कारण बने रहते हैं। बहुधा विकास की प्रक्रिया में कुछ तनाव सुलझ जाते हैं। स्थायित्व और संरक्षण की शक्तियों तथा परिवर्तन और आधुनिकीकरण की शक्तियों के बीच दोहरा सम्बन्ध होता है। विकासशील समाज इन समस्याओं का सामना चतुरता से करता है। अत: परिवर्तन और आधुनिकीकरण की चुनौतियों का जैसे, क्षेत्रवाद, प्रान्तीयता, अशिक्षा, प्रव्रजन (migration), मुद्रा स्पफीति, पूँजी की कमी, रक्षा खर्च में कमी के उद्देश्य से पड़ोसी राष्ट्रों से सामंजस्य, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नौकरशाही की अकुशलता, और अप्रतिबद्धता आदि का सामना धैर्यपूर्वक एवं विधिपूर्वक तरीके से तर्कशील अभिस्वीकरण (adoptive) प्रक्रियाओं द्वारा करता है। परम्परागत समाज के टूटने से व्यक्तिगत स्वतंत्रता में वृद्धि, सत्ता का समतलीकरण, व निर्णय लेने में जन समूहों का योगदान अधिक होने लगता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक संरचना के प्रतिरोधों को हटाना सम्मिलित है। साथ–ही–साथ केवल सभी स्तरों पर आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास का नियोजन ही लोगों को आधुनिक विचारों एवं मानदण्डों में भागीदारी के लिए प्रेरित करेगा और महत्त्वपूर्ण सामाजिक समूहों–बुद्धिजीवियों, राजनैतिक अभिजनों, नौकरशाही एवं तकनीकी विशेषज्ञों को नियोजित परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करेगा।

## आधुनिकीकरण की समस्याएँ (Problems of Modernization)

**आधुनिकीकरण की कुछ समस्याएँ निम्नवत् हैं :**

1. आधुनिकीकरण का प्रथम विरोधाभास यह है कि एक आधुनिक समाज को तुरन्त हर प्रकार से बदल जाना चाहिए, लेकिन ऐसे नियमित एवं विकास का समन्वित स्वरूप का अनुमानित नियोजन नहीं हो सकता। अत: एक प्रकार की सामाजिक हलचल पैदा हो ही जाती है। उदाहरणार्थ, जन शिक्षा व्यवस्था की माँग है कि दक्ष (trained) व्यक्तियों को उनकी ट्रेनिंग तथा उनके ज्ञान के अनुकूल व्यावसायिक भूमिका में लगा देना चाहिए। लेकिन सभी शिक्षित लोगों को काम दिलाना सदैव सम्भव नहीं होता हैं इससे शिक्षित लोगों में निराशा एवं असंतोष पैदा होती है।

2. दूसरी समस्या यह है कि आधुनिकीकरण की अवधि में संरचनात्मक परिवर्तन असमान होता है। उदाहरणार्थ, उद्योग आधुनिक बनाए जा सकते हैं लेकिन परिवार व्यवस्था, धर्म व्यवस्था आदि रूढ़िवादी ही बने रहते हैं। इस प्रकार की निवृत्तियाँ व अविच्छिन्नाएँ और परिवर्तन के स्वरूप, स्थापित सामाजिक और अन्य संरचनाओं को प्रभावित करते हैं और अन्तराल (lags) व गत्यावरोध (bottle-necks) पैदा करते हैं इसका दूसरा उदाहरण है भारत में मताधिकार की आयु 21 से कम करके 18 वर्ष कर देना। यह आधुनिकता में प्रवेश का एक कदम हो सकता है, किन्तु इसने एक संकट पैदा कर दिया है क्योंकि निर्वाचक समूह इस अनुमान पर निर्भर करता है कि उनमें नागरिकता की परिपक्व भावना होगी तथा नीतियों में भागीदारी की योग्यता होगी।

3. तीसरी समस्या है कि सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण परम्परागत जीवन शैली के साथ संघर्ष पैदा करता है। उदाहरणार्थ, प्रशिक्षित डॉक्टर परम्परागत वैद्यों के लिए खतरा हो जाते हैं। इसी प्रकार मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुएँ घरेलू श्रमिकों को रोजी रोटी से वंचित कर देती हैं। इसी तरह बहुत से परम्परावादी लोग उन लोगों के विरोधी हो जाते हैं जो आधुनिकता स्वीकार करते हैं। फलत: परम्परावादी और आधुनिक तरीकों में संघर्ष असंतोष का कारण हो जाता है।

4. चौथी समस्या यह है कि अकसर लोग जो भूमिकाएँ धारण करते हैं, वे आधुनिक तो होती हैं, किन्तु मूल्य परम्परात्मक रूप में जारी रहते हैं। उदाहरणार्थ, मेडिसिन और सर्जरी में ट्रेनिंग लेने के बाद भी एक डॉक्टर अपने मरीज से यही कहता है ''मैं इलाज करता हूँ, ईश्वर ठीक करता है।'' यह दर्शाता है कि उसे अपने पर विश्वास नहीं है वह बीमारी का सही निदान कर सके बल्कि स्वय पर आरोप लगाने की बजाय वह उन तरीकों की निन्दा करता है जिनमें उसका जीवन–मूल्यों को विकसित करने के लिए समाजीकरण किया गया है।

5. पाँचवीं समस्या यह है कि उन साधनों के बीच जो आधुनिक बातें हैं और उन संस्थाओं व व्यवस्थाओं में जिनको आधुनिक होना है सहयोग की कमी है। कई बार इससे सांस्कृतिक विलम्बना (cultural lag) की स्थिति पैदा हो जाती है तथा संस्थात्मक सघर्ष होते हैं।

6. अंतिम समस्या यह है कि आधुनिकीकरण लोगों की आकांक्षाओं को बढ़ाता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्थाएँ उन्हें आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अवसर प्रदान करने मे असफल रहती हैं। ये कुण्ठा वंचना और सामाजिक असंतोष पैदा करती है।

## व्यक्ति का आधुनिकीकरण (Modernization of Man)

आधुनिकीकरण का उद्देश्य समाज के सभी लोगों के लिए सभ्य व उचित जीवन स्तर प्राप्त कराना है। इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिपक्वता का विचार भी सम्मिलित हैं। इससे अधिक, इसमें मनुष्य के स्वभाव का पूर्णपरिवर्तन वांछित है ऐसा परिवर्तन जो कि एलेक्स इकिल्स (Alex Inkelex, 1966: 158) के अनुसार साध्य के लिए साधन नहीं हैं, बल्कि विकास प्रक्रिया का साध्य स्वयं है।

किन्तु, 'आधुनिक व्यक्ति' कौन है? उसकी पहचान कैसे हो? आधुनिक व्यक्ति वह है जो विचार और सहानुभूति के परम्परागत तरीके त्याग दें, जिसका मस्तिष्क नए विचारों को स्वीकार करने के लिए खुला हो, जो विवेकशील तथा धर्मनिरपेक्ष हो और जो समानता न्याय व स्वतंत्रता में विश्वास रखता हो।

आधुनिक मनुष्य की बाह्य विशेषताओं का आन्तरिक विशेषताओं से भिन्न होने के संदर्भ में एलेक्स इकिल्स की मान्यता है कि आधुनिक व्यक्ति के एककृषक के रूप में कार्य करने की सम्भावना कम है और उसके द्वारा रोजगार ढूँढने की सम्भावना अधिक है– ऐसे जटिल उत्पादक व्यवसाय व रोजगार को जो आधुनिक तकनीकी व ऊर्जा के प्रयोग पर आधारित हो या फिर बड़े निजी या सार्वजनिक उपक्रमों को जो उसको समाज में उच्च पद व प्रस्थिति प्रदान कर सके। वह ऐसे नगर में रहना अधिक पसन्द करता है जहाँ उसको निकट में ही सभी साधन उपलब्ध हो सकें, जैसे यातायात, बाजार, बच्चों के स्कूल, मेडिकल एवं डाक सुविधाएँ, जो उसकी पहुँच के भीतर हों और ऐसे घर में रहना पसन्द करता है जो उसे आधुनिक भौतिक सुख साधन उपलब्ध कराता हो। वह क्लब तथा अन्य संगठनों का सदस्य होना पसन्द कर सकता है जो उसके लिए अभिव्यक्ति, पहचान तथा गतिशीलता के अवसर प्रदान कर सके। संवाद एवं संप्रेषण के लिए अधिक खुला होने के कारण वह सामाजिक विकास एवं राजनीति में अधिक रूचि ले सकता है। अपने प्राथमिक नातेदारों के जाल में फंसे रहने की अपेक्षा अव्यक्तिगत वातावरण की ओर अधिक आकर्षित होता है जहाँ वह ऐसे लोगों के सम्पर्क में आए जो उसके व्यवसाय या अन्य संकट के समय उसकी सहायता कर सकें। ऐसे गुण यद्यपि 'आधुनिकता' नहीं है, लेकिन यह मनुष्य के जीवन क्षेत्र के साथ हैं जो आधुनिक मनुष्य से टकराते हैं। यद्यपि आधुनिक वातावरण के लिए मनुष्य का 'खुला' होना निश्चित ही परम्परागत मनुष्य में परिवर्तन करने में योगदान कर सकता है, और फिर उस वातावरण में नवीन मूल्यों, व्यवहार स्वरूपों की उससे अपेक्षा की जाएगी, लेकिन आधुनिक व्यक्ति की आन्तरिक विशेषताएँ उसके सोचने, काम करने व अनुभूति के तरीके आदि, उसे वास्तविक आधुनिक बनाने में महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक मनुष्य की आन्तरिक विशेषताएँ क्या हैं? एलेक्स इकिल्स (वही, 161–165) ने इनमें से कुछ विशेषताओं को इस प्रकार पहचाना है : (1) आधुनिक व्यक्ति को नवीन अनुभवों के लिए तैयार रहना चाहिए और नवीनताओं तथा परिवर्तन के लिए खुला होना चाहिए। (2) उसमें बड़ी संख्या में आने वाले मामलों में तथा समस्याओं के विषय में अपनी धारणा बनाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए जो उसके भीतरी व बाहरी पर्यावरण में उदय होती हों। व्यक्ति जितना अधिक शिक्षित होता है उतनी ही अधिक इन चुनौतियों का प्रत्युत्तर देने की तत्परता उसमें होती है। इसके विपरीत एक परम्परागत व्यक्ति अपने चारों ओर के विषयों में कोई रूचि नहीं लेता जो उसे घेरे रहते हैं और प्रभावित भी करते हैं। (3) एक आधुनिक व्यक्ति अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर अधिक उन्मुख होता है। वह अपने मामलों के संगठन में अधिक व्यवस्थित और नियमित होता है। (4) एक आधुनिक व्यक्ति अधिक नियोजन–उन्मुख होता है और जीवन का सामना करने के लिए एक साधन के रूप में इसमें विश्वास रखता है। (5) एक आधुनिक व्यक्ति प्रभावकारी शक्ति में विश्वास करता है और सीखने के लिए तैयार रहता है ताकि पर्यावरण से प्रभावित होने की अपेक्षा वह पर्यावरण पर अधिकार करे ओर अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों की ओर अग्रसर हो सके। (6) आधुनिक व्यक्ति महान गुणक (calculator) होता है और मनुष्य के नियंत्रण के भीतर तर्कसंगत एवं नियमानुकूल चलाने वाले विश्व में विश्वास करता है। (7) आधुनिक व्यक्ति दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में अधिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करता है। (8) एक आधुनिक व्यक्ति को विज्ञान व तकनीकी में अधिक आस्था होती है। (9) एक आधुनिक व्यक्ति जनतंत्र व न्याय के समान वितरण के प्रति अधिक आस्थावान होता है।

आधुनिक व्यक्ति की विशेषताओं की इस सूची को बढ़ाया जा सकता था, किन्तु यह इस विचार को समझने के लिए काफी है कि आधुनिकीकरण को व्यक्तिगत स्तर के साथ–साथ सामूहिक व सामाजिक स्तर पर किस प्रकार समझा जाए।

अध्याय-4

# भारत में सामाजिक समस्याएँ और विभिन्न सन्दर्भ

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण समाज में समस्याएँ उत्पन्न होती है। सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है प्रतिमानित भूमिकाओं (patterned roles) में परिवर्तन, या सामाजिक संबंधों के जाल में परिवर्तन, या समाज की संरचनाओं और संगठन में परिवर्तन। सामाजिक परिवर्तन कभी संपूर्ण नहीं होता, वह सदैव अपूर्ण होता है। वह छोटा अथवा मूलभूत हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह स्वतःस्फूर्त या नियोजित हो सकता है। नियोजित परिवर्तन कुछ सामूहिक ध्येय प्राप्त करने के लिए किया जाता है। स्वाधीन होने के बाद भारत ने भी कुछ सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का निश्चय किया था।

हमारे समाज में पिछले चार–पाँच दशकों में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं वे इस प्रकार हैं: कुछ निश्चित मूल्यों और संस्थाओं में परम्परा के स्थान पर आधुनिकता, प्रदत्त, (ascribed) प्रस्थिति के स्थान पर अर्जित (achieved) प्रस्थिति का महत्त्व, प्राथमिक समूहों की प्रमुखता के स्थान पर द्वितीयक समूहों की प्रमुखता, नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों के स्थान पर औपचारिक साधन, समूहवाद के स्थान पर व्यक्तिवाद, धार्मिक मूल्यों के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष मूल्य, लोककथाओं के स्थान पर विज्ञान और युक्तिकरण, एकरूपता के स्थान पर विषमता, और औद्योगिकीकरण और नगरीकरण की बढ़ती हुई प्रक्रियाएँ, समाज के विभिन्न खण्डों में शिक्षा के विस्तार से हुई अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता, जाति व्यवस्था में शिथिलता, सुरक्षा के पारम्परिक स्रोतों में शिथिलता, अल्पसंख्यक समूहों में बढ़ती हुई आकाँक्षाएँ, व्यावसायिक गतिशीलता कई सामाजिक कानूनों का निर्माण, और धर्म को राजनीति से जोड़ना।

इस प्रकार हमने यद्यपि निश्चित सामूहिक लक्ष्यों में से कई लक्ष्य प्राप्त कर लिए हैं फिर भी हमारी व्यवस्था में कई अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गए हैं। उदाहरण के लिए, व्यक्तियों की आकाँक्षाएँ तो उँची हो गई हैं परन्तु इनको पूरा करने के लिए न्यायसंगत साधन या तो उपलब्ध नहीं है या उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। हम राष्ट्रीयता का उपदेश तो देते हैं परन्तु जातिवाद, भाषावाद और संकीर्णता को अपनाते हैं; कई कानून बनाए गए हैं परन्तु इन कानूनों में या तो बचाव के कई रास्ते हैं या फिर इन्हें ठीक से लागू नहीं किया जाता; हम समानतावाद की बात करते हैं परन्तु पक्षपात का प्रयोग करते हैं; हम आदर्शात्मक संस्कृति की अभिलाषा करते हैं परन्तु वास्तव में जिसका उद्‌भव हो रहा है, वह है–एन्द्रियिक (sensate) संस्कृति। इन सब अन्तर्विरोधों से व्यक्तियों में असन्तोष और निराशा की भावनाएँ बढ़ी हैं और इनके कारण कई सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। युवा अशान्ति, जनजाति अशान्ति, कृषकों में अशान्ति, औद्योगिक अशान्ति, विद्यार्थियों में अशान्ति स्त्रियों के विरूद्ध हिंसा, इन सबने आंदोलनों, दंगों, विद्रोहों और आतंकवाद को पनपाया है।

## समाजशास्त्रा, समाजशास्त्री और सामाजिक समस्याएँ (Sociology, Sociologists and Social Problems)

समाजशास्त्र और सामाजिक समस्याओं के संबंध के बारे में तीन समस्याएँ हैं जिनका विश्लेषण होना चाहिए। ये समस्याएँ हैं (1) समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं को किस परिप्रेक्ष्य में देखता है? (2) समाजिक समस्याओं के लिए समाजशास्त्र कौन से समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है? और (3) सामाजिक समस्याओं के बारे में समाजशास्त्रियों की जानकारी किस सीमा तक निष्पक्ष, प्रामाणिक, एवं ठोस होती है?

जहाँ तक समाजशास्त्रियों के संदर्भ के परिप्रेक्ष्य का प्रश्न है, वे सामाजिक समस्याओं को ऐसी समस्याएँ मानते हैं जो समाज में व्यवस्थाओं और संरचनाओं की कार्यप्रणाली से उत्पन्न होती हैं या जो समूह के प्रभावों का परिणाम हैं। वे उन सामाजिक संबंधों से भी संबधित हैं जो सामाजिक समस्याओं के कारण प्रकट होते हैं या जीवित रहते हैं। इस प्रकार मद्यपान का विश्लेषण करते समय जहाँ डॉक्टर की रुचि व चिन्ता उसके शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों में होगी, एक मनोवैज्ञानिक की उसकी मनोवृत्तियों और व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों में, एक समाजशास्त्री का सरोकार उसके सामाजिक संबंधों और भूमिकाओं पर पड़ने वाले प्रभावों में, अर्थात् परिवार के सदस्यों के साथ, दफतर में सहयोगियों के साथ, और पड़ोसियों और मित्रों के साथ संबंधों में होगा। उसकी दिलचस्पी उसके काम में निपुणता और पद आदि पर पड़ने वाले प्रभावों में भी होगी।

समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं का अध्ययन ऐसे नियमों को ढूँढने की प्रबल इच्छा रखता है जो वैध और तर्कसगत हों तथा जिनसे कुछ समस्याओं में एक क्रमबद्ध सिद्धान्त का निर्माण भी हो सके (आरनोल्ड रॉस, 1957: 189–99)। सामाजिक समस्याओं की समाजशास्त्रीय जानकारी पूर्ण नहीं होती। अपराध और मादक पदार्थों के सेवन जैसी समस्याओं के बारे में हमारे पास बहुत जानकारी है

रन्तु दूसरी समस्याओं, जैसे आत्महत्या, युद्ध और मानसिक रोग के बारे में हमारी जानकारी अपर्याप्त है। वैनबर्ग (1960–64) के नुसार सामाजिक समस्याओं की जानकारी की यह असमानता इसलिए है कि हमारा सामाजिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण 'सिद्धान्त–केन्द्रित' ने की अपेक्षा अधिकतर 'समस्या–केन्द्रित' होता है। अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक समस्याओं का अध्ययन समाज की व्यावहारिक भिरुचि के कारण करते हैं, ना कि सिद्धान्त विकसित करने या सैद्धान्तिक कमियों को भरने के दृष्टिकोण से। जहां तक समाजशास्त्रियों ी जानकारी में पक्षपात या अभिनति (bias) का प्रश्न है, यद्यपि वह सम्भव है कि उनका अभिमुखीकरण (orientation) और उनके मूल्य नके सामाजिक समस्याओं के अध्ययन को प्रभावित कर सकते हैं फिर भी वे तथ्यों की व्याख्या बिना तोड़–मरोड़कर करने का प्रयास करते (कोल्ब, 1954: 66–67)। उदाहरण के लिए, एक निम्न या मध्यमवर्ग के समाजशास्त्री का रवैया अपने वर्ग के प्रति पक्षपातपूर्ण हो कता है फिर भी वह उच्चवर्ग में विद्यमान भ्रष्टाचार का विश्लेषण अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के आधार पर नहीं करता। वह निष्पक्ष रहता और उस पर दबाव का कोई प्रभाव नहीं होता। फिर भी यह एक संभावना रहती है कि वे लोग जो कई सामाजिक समस्याओं से जुड़े होते ं नई जानकारी प्राप्त होने पर उसको प्रभावित कर सकते हैं। वास्तव में अवश्य ऐसा करते हैं। उदाहरणतया, भारत जैसे समाज में पत्नी को ीटने का समाजशास्त्रीय अध्ययन 'हिमकंदुक पद्धति' (snowball method) से ही हो सकता है क्योंकि इस मामले की शिकायत पुलिस में कभी भी दर्ज नहीं कराई जाती। अध्ययन सामान्यतया यह संकेत देता है कि इसमें निम्न आय वर्ग की स्त्रियाँ अधिक कष्टभोगी होती हैं। सलिए उच्च–मध्यम और उच्च आय वर्गों की पिटने वाली स्त्रियों की हमें अधिक जानकारी नहीं है। सभी वर्गों की पिटने वाली स्त्रियों के आँकड़े उपलब्ध नहीं होने के कारण सामाजिक निष्कर्षों और परिकल्पनाओं पर इसका निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार वेतनभोगी स्त्रियों की भूमिका–समायोजन (role adjustment) का अध्ययन यदि निम्नवर्ग तक ही सीमित रहता है तो वह बिरले ही पति और पत्नी का अलग होने, परित्याग या तलाक की स्थितियों की ओर संकेत करता है, परन्तु मध्यम और ऊँचे वर्ग की वेतनभोगी स्त्रियों को अध्ययन ऐसी समस्याओं (अर्थात अलग होने, परित्याग व तलाक) की संभावनाओं को अधिक व्यक्त करेगा।

समाजशास्त्रियों द्वारा सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने में एक और तथ्य सामने आया है कि समाजशास्त्री सोचते हैं कि उनकी भूमिका केवल एक विश्लेषक की है, अर्थात् कि उन्हें सामाजिक समस्याओं को जानना है परन्तु उनके समाधान में उनकी कोई रूचि नहीं है। दूसरे लोग सोचते हैं कि समाजशास्त्री को समाजिक समस्याओं के अध्ययन के साथ–साथ उनको समाधान के लिए तरीके और उपाय भी सोचने हैं। जानकारी को पूर्णरूप से सुनियोजित आधार पर किए गए दोषनिवारक कार्य से अलग नहीं किया जा सकता बलिक इनको (यानि कि जानकारी को) सामाजिक समस्याओं को कम करने के लिए प्रयोग में लाना चाहिए। परन्तु इस बात को भी याद रखना चाहिए कि समाजशास्त्री स्वयं ही किसी सामाजिक समस्या को नहीं सुलझा सकता। इसमें अफसरों, राजनीतिज्ञों, एजेन्सियों और जनसाधारण की भी एक बड़ी भूमिका होती है।

समाजशास्त्री का कार्य क्या है? अब समय आ गया है जब कि व्यापार के प्रबंध और प्रशासन के प्रबंध की भाँति 'समाज में परिवर्तन के प्रबंध' (management of change in society) को समाजशास्त्री को अपने हाथ में लेना है। समाजशास्त्रा का प्रमुख संबंध व्यवस्था और परिवर्तन में दिलचस्पी के साथ परिवर्तन की दिशात्मकता (directionality of change) भी जुड़ी है और समाजशास्त्रीयों को भारत–ज्ञान (Indology) और प्राचीन इतिहास के माध्यम से पुरातन अतीत का गहन अध्ययन करने और भारतीय सामाजिक वास्तविकता के अध्ययन के लिए उपयुक्त अवधारणाओं और सिद्धान्तों के आधार तत्व बनाने के स्थान पर भविष्य के लिए योजनाएँ बनानी चाहिए और समाज में संकट–स्थितियों को पहचाना और उनसे निबटना चाहिए।

क प्रश्न किया जा सकता है कि क्या समाजशास्त्रियों को सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अनुप्रयुक्त तथा व्यावहारिक कार्यक्रमों Applied programmes) और ऐसे मूलभूत शोध (basic research) की गतिविधियों में, जो उन कार्यक्रमों में सहायक सिद्ध हों, लचस्पी दिखानी चाहिए? मेरा उत्तर सकारात्मक होगा। समाज की समस्याओं की गहनता इसमें भी और अधिक गहन संरचनात्मक और ांस्कृतिक परिवर्तनों पर बल दे सकती है। अब तक समाजशास्त्री संस्थापित प्रथाओं या व्यवहारों के विश्लेषणों एवं व्याख्याओं में जुटे रहते , इन्हें चाहिए कि वे नई संरचनाओं और प्रथाओं के विषय में अपने सुझाव दें। ऐसा करने से यह प्रश्न उठता है कि परिवर्तनों संबंधी सुझाव ने के लिए समाजशास्त्रियों के पास कौन से उपयुक्त तरीके हैं? इससे संबंधित पहला प्रश्न है कि जन नीति में परिवर्तन लाने के लिए ाजशास्त्री को प्रत्यक्ष रूप से कैसे अपने आपको जोड़ना चाहिए? क्या समाजशास्त्री को निष्पक्ष वैज्ञानिकों की तरह रहना चाहिए और रों को प्रयोग के लिए केवल आँकड़े उपलब्ध करा देने चाहिए या क्या उन्हें परिवर्तन के जोशीले समर्थक के रूप में दिलचस्पी लेनी हिए। एक मतानुसार समाजशास्त्रियों को जन नीतियों में प्रत्यक्ष रूप से दिलचस्पी लेनी चाहिए। हमें इसी मत का समर्थन करना है। ाजशास्त्र एक वैज्ञान है जिसका अध्ययन उसके फल प्राप्ति के लिए या उसके लिए किया क्रियाको करने में वह सक्षम है। प्रारम्भिक

चरणों में भले ही समाजशास्त्र ने कोई बड़े कार्य नहीं किए हों, परन्तु पिछले पाँच से छह दशकों की अवधि में इस विज्ञान को विकसित करने में जो परिश्रम किया गया है, उसके परिणामस्वरूप इसके फल सुन्दर भले ही ना हो परन्तु उपयोगी बहुत है। पूर्व में भले ही हम विभिन्न अवधारणाओं की व्याख्या करने या विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और समुदायों के विकास और कार्यप्रणाली का ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पता लाने में फंस गए हों, परन्तु अब हमारे विषय को वर्तमान और भविष्य दोनों के असंतुलनों के प्रश्नों पर गंभीरता से विचार करना है। इसमें शोधों की प्रासंगिकता और प्राथमिकताओं के प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। भारत के शीर्षस्थ समाजशास्त्री क्यों उत्तर–पूर्व में विद्रोह, पंजाब में आतंकवाद, असम में भाषाई संगठन, मिजोरम में सांस्कृतिक ध्रुवीकरण गुजरात, मध्यप्रदेश, आंध्रप्रदेश, देहली, उत्तरप्रदेश और बिहार में पुलिस यातना और राजनीति के अपराधीकरण जैसी समस्याओं और नाजुक विषयों के अध्ययन के प्रति उदासीन रहे हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे सरकार को अपने निष्पक्ष और आलोचनात्मक मूल्यांकन से नाराज करने से डरते हैं और परिषदों, समितियों, और आयोगों में अपने स्थान खोना नहीं चाहते या इसका कारण यह है कि उनके विचार में ये विषय (issue) उनके विशुद्ध दायरे में नहीं आते? इस कथन का तात्पर्य विद्वानों की आलोचना करना नहीं है, केवल इतना कहना है कि वह आवश्यक है कि समाजशास्त्री समाज में परिवर्तन के प्रबंध में रूचि दिखाएँ। यदि समाजशास्त्र और समाजशास्त्री हमारे समाज के तात्कालिक विवाद–विषयों और समस्याओं से विमुख हो जाते हैं तो हमारा विषय और हमारे विद्वान राष्ट्र और मानववाद के लिए अप्रासंगिक हो जाऐंगे। अब समय आ गया है जब कि समाजशास्त्रियों को अपनी भविष्यवाची क्षमताओं को विकसित करना चाहिए और एक व्यापक रूप से विकल्पों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। केवल यही समाज की सामाजिक समस्याओं को प्रभावी रूप से समाधान करने में सहायक सिद्ध होगा।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याओं में समाजशास्त्रियों की यही भूमिका है कि समस्याओं के प्रति जागरूकता पैदा करें, सामाजिक समस्याओं के कारणों का विश्लेषण करें, सामाजिक समस्याओं के विषय में सिद्धान्तों को विकसित करें, सामाजिक समस्याओं का व्यक्तियों, समूहों और समाज पर प्रभावों के बारे में विचार–विमर्श करें और समस्याओं के समाधान के लिए सुझाई गई वैकल्पिक योजनाओं के परिणामों का परीक्षण करें।

## साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा (Communalism and Communal Violence)

साम्प्रदायिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और उसके साथ जुड़ी हुई हिंसा ने धार्मिक अल्पसंख्यकों और नृजातीय (Ethnic) समूहों में असुरक्षा की भावना जागृत कर दी है। विशेषरूप से मुसलमान और सिख आने वाले समय में भेदभाव और झगड़े की संभावना से डरते हैं। यह केवल उनका भय ही हो, परन्तु राष्ट्र अपने देश की छठी (one-sixth) जनसंख्या को आतंक, संदेह और असुरक्षा का शिकार बनने नहीं दे सकता। 1960 और 1999 के मध्य कश्मीर, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, गुजरात, असम, और आंध्रप्रदेश में हुई घटनाएँ साम्प्रदायिक विष के विविध रूपों का प्रचुर प्रमाण देती हैं और उसके विनाशकारी परिणाम का अनुभव करता है। मुसलमानों, सिखों और दूसरे धार्मिक अल्पसंख्यो को भारत का संविधान संरक्षण प्रदान करता है और उसमें पूर्ण न्याय, सहिष्णुता, समानता और स्वतंत्रता का प्रावधान है। परन्तु इस काल में जब धार्मिक रूढ़िवाद, धर्मान्धता, असहिष्णुता और संकीर्णता की चरम सीमा पर पहुँचने वाला है, तब मुसलमानो द्वारा 'रामराज्य' की परिकल्पना की गलत व्याख्या करके यह अर्थ लगाया जाता है कि यह भगवान राम का राज्य है, अर्थात्, हिन्दू राज्य। आतंकवादियों पर नज़र रखने और उन्हें धार्मिक स्थलों में रहने से रोकने के लिए पुलिस की गुरूद्वारों, दरगाहों, मस्जिदों, या अन्य पुण्य स्थानों (जैसे अमृतसर में 1984 में या श्रीनगर (कश्मीर) में नवम्बर 1993 में) के पास उपस्थिति को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप माना जाता है। इसलिए राष्ट्र की शांति एवं एकता की क्षति को रोकने के लिए साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या का विश्लेषण करना और उस पर विचार करना आवश्यक है। 'साम्प्रदायवाद' की परिभाषा करना आज नितान्त जरूरी है। और यह मालूम करना भी इतना ही संगत है कि 'साम्प्रदायिक' कौन है।

यदि एक हिन्दू अभिमान से कहता है कि वह हिन्दू है तो क्या यह साम्प्रदायिकता है? यदि एक मुसलमान कहता है कि उसे मुसलमान होने का गर्व है और एक अच्छे मुसलमान बने रहने के लिए वह जान भी गवां देगा तो क्या वह साम्प्रदायिकता मानी जाएगी? जब एक अल्पसंख्यक समुदाय को लगता है (सही या गलत) कि उसका अर्थ दशकों से अन्याय से दमन हुआ है और उसका शोषण और वंचना हो रहा है और वह प्रतिक्रिया दिखाता है और तीखा विरोध करता है, कभी हिंसात्मक रूप से भी, तो क्या यह साम्प्रदायिकता कही जा सकती है? यदि ईसाई, बौद्ध, और पारसी अपने व्यक्तिगत और निजी जीवन अपना इच्छा के अनुसार व्यतीत करते हैं, अपने विश्वासों और धर्म मता के अनुसार व्यतीत करते हैं तो क्या वे साम्प्रदायिक हैं? क्या उन हिन्दुओं को सार्वजनिक–उत्तरदायित्व से परे रखा जाए जो मुसलमानों पर यह आरोप लगाते हैं कि वे अपने अनाचरण और आचरण के कार्यों द्वारा उनकी धार्मिक भावनाओं और संवेदनशीलताओं को चोट पहुँचाते हैं? क्या उन्हें यह सोचने की अनुमति दे दी जाए कि वे केवल संख्या में अधिक होने के कारण सामाजिक नियंत्रण से परे हैं जबकि वे स्वय

योजनाबद्ध तरीके से मुसलमानों की भावनाओं को ठेस पहुंचाते रहते हैं? क्या उन व्यक्तियों को जो एक विशिष्ट पूजा–स्थल को लेकर लड़ते हैं और हज़ारों मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों और इसी प्रकार के स्थानों की ओर ध्यान नहीं देते जो मरम्मत और रख–रखाव के अभाव में जीर्णशीर्ण अवस्था में हो रहे हैं, धार्मिक नेता कहकर पुकारा जा सकता है? क्या एक धार्मिक नेता राष्ट्र से बड़ा है? क्या धार्मिक नेताओं को साम्प्रदायिकता की परिभाषा से मुक्त कर दिया जाना चाहिए? ये सब कारक हमें 'साम्प्रदायिक' और 'साम्प्रदायिकता' की सुस्पष्ट परिभाषा को ढूंढने के लिए विवश करते हैं।

## साम्प्रदायिकता की अवधारणा (Concept of Communalism)

साम्प्रदायिकता को एक विचारधारा माना जा सकता है कि जो कि यह बताती है कि समाज धार्मिक समुदायों में बँटा हुआ है, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं और कभी–कभी उनमें पारस्परिक विरोध भी होता है। एक समुदाय के सदस्य जो दूसरे समुदाय के सदस्यों और धर्म के विरूद्ध प्रतिरोध करते हैं उन्हें 'साम्प्रदायिक' कहा जा सकता है। यह विरोध किसी विशेष समुदाय पर झूठे आरोप लगाना, क्षति पहुंचाना और जान–बूझकर अपमानित करने का रूप लेता है। इससे भी अधिक यह (विरोध) लूटना, असहाय और निर्बल व्यक्तियों के घरों और दुकानों को आग लगाना, उनकी स्त्रियों को अपमानित करना और आदमी–औरतों को जान से मार देने तक का वीभत्स रूप भी धारण कर लेता है।

'साम्प्रदायिक व्यक्ति' वे हैं जो राजनीति को धर्म के माध्यम से चलाते हैं। नेताओं में वे धार्मिक नेता 'साम्प्रदायिक' हैं जो अपने धार्मिक समुदायों को व्यापारिक उद्यम और संस्थाएँ मानते हैं। जैसे ही उन्हें लगता है कि उनके पवित्र 'निगम' में चन्दा आना कम हो गया है या उनके नेतृत्व को चुनौती मिलने लगी है या उनकी विचारधारा पर संदेह प्रकट किया जाने लगा है तो वे 'हिन्दुत्व, इस्लाम या ईसाई धर्म खतरे में है, के नारे लगवाते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक व्यक्ति एक 'धार्मिक व्यक्ति' नहीं होता अपितु वह ऐसा व्यक्ति होता है जो राजनीति खेलता है, राजनीति को धर्म से जोड़कर। ये सत्ताधारी राजनीतिज्ञ अच्छे हिन्दू या अच्छे मुसलमान या अच्छे सिख या अच्छे ईसाई या अच्छे पारसी या अच्छे बौद्ध नहीं होते। उन्हें खतरनाक राजनीतिक कहना कहा जा सकता है। उनके लिए भगवान और धर्म उपकरण मात्र हैं जिनका उपयोग वे समाज के 'शाही पराश्रयी' (king parasites) के रूप में विलासमय जीवन बिताने और अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं। (डे आफटर, जून 1990:35–36)

साम्प्रदायिकता का आचरण कई प्रकार से किया जाता है; उदाहरण के लिए, राजनीतिक साम्प्रदायिकता, धार्मिक साम्प्रदायिकता और आर्थिक साम्प्रदायिकता। राजनीतिक साम्प्रदायिकता चिरस्थायी या टिकाऊ राजनीतिक स्वार्थपरायणता की उपज है और इसको इस प्रकार विकसित और सुरक्षित (conserve) किया जाता है कि जिससे अपने कुकर्म छुप जाएं और दूसरे व्यक्तियों को ध्यान इस ओर से हट जाए। इस राजनीतिक खेल योजना के अन्तर्गत कई मनगढ़न्त घटनाओं का 'पर्दाफाश' करने का नाटक रचा जाता है जिससे ऐसा लगे कि साम्प्रदायिक अपराध के लिए प्रतिद्वन्द्वी ही दोषी है। इस राजनीतिक खेल--योजना में सदैव नेता वह कहते हैं जो कहना नहीं चाहते और वह नहीं कहते जो कहना चाहते हैं।

टी.के. उम्मन (1989) ने साम्प्रदायिकता के छह आयाम (dimensions) बतलाए हैं: आत्मसातीकरणवादी (assimilationist), कल्याणकारी (welfarist), पलायनवादी (retreatist), प्रतिशोधवादी (retaliatory), अलगाववादी (separatist) और पार्थक्यवादी (secessionist)। आत्मसातीकरणवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें छोटे धार्मिक समूहों का बड़े धार्मिक समूह में समावेश/एकीकरण (assimilateèkintegrate) कर लिया जाता है। इस प्रकार की साम्प्रदायिकता का लक्ष्य किसी विशेष समुदाय का कल्याण होता है, जैसे जीवन–स्तर को सुधारना और शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना; उदाहरणार्थ, ईसाई संस्थाएँ इसाइयों की उन्नति के लिए काम करती हैं, या पारसी संस्थाएं पारसियों के उत्थान में कार्यरत रहती हैं। इस तरह के सामुदायिक संगठन का उद्देश्य केवल अपने समुदाय के सदस्यों के हित में कार्य करना होता है। पलायनवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक छोटा धार्मिक समुदाय अपने को राजनीति से अलग रखता है; उदाहरण के लिए, बहाई समुदाय जिसने अपने सदस्यों के लिए राजनीति में भाग लेना अवैध घोषित किया हुआ है। प्रतिशोधपूर्ण साम्प्रदायिकता दूसरे धार्मिक समुदायों के सदस्यों को हानि और चोट पहुँचाने का प्रयत्न करती है; पृथक्वादी या अलगाववादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी संस्कृति की विशेषता बनाए रखना चाहता है और देश में एक अलग राज्य की माँग करता है; उदाहरणार्थ, उत्तरपूर्वी भारत में कुछ मिज़ो और नागाओं की माँग, असम में बोडों की माँग और बिहार में झारखण्ड की जनजातियों की माँग। अन्त में, पार्थक्यवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी अलग राजनीतिक पहचान चाहता है और एक स्वतंत्र देश की माँग करता है। खालिस्तान की माँग कर रहा सिखों का एक बहुत ही छोटा उग्रवादी (militant) भाग इस प्रकार तीन रूप समस्याएं खड़ी करते हैं और जिनके कारण आन्दोलन, साम्प्रदायिक झगड़े, आतंकवाद और बगावत उत्पन्न होते हैं।

## भारत में साम्प्रदायिकता (Communalism in India)

भारत में अनेकवादी (pluralistic) समाज में केवल धार्मिक समुदाय ही नहीं हैं जैसे, हिन्दू (82.63%), मुसलमान (11.36%), ईसाई (2.43%), सिख (1.96%), बौद्ध (o.71%), जैन (0.48), आदि। हिन्दू कई संप्रदायों में बँटे हुए हैं, जैसे आर्यसमाजी, शैव, सनातनी, और वैष्णव। इसी प्रकार जहाँ एक ओर मुसलमान शिया और सुन्नी में बँटे हुए हैं वहाँ दूसरी ओर उनमें अशरफ (कुलीन aristocrats), अज़लफ (जुलाहे, कसाई, खाती, तेली) और अरज़ल भी सम्मिलित हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक संबंध एक लंबे अंतराल से तनावपूर्ण रहे हैं--जबकि हिन्दुओं और सिखों ने एक दूसरों को कुछ वर्षों के लिए (विशेषकर 1984 से 1990 के बीच) संदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया था। यद्यपि दक्षिण भारत के एक राज्य में हिन्दुओं और इसाइयों, और मुसलमानों और इसाईयों में और अब गुजरात और दक्षिण में दो राज्यों में ईसाई यह नहीं सोचते कि दूसरे समुदाय उनका वंचना (deprivation) या शोषण करते हैं। मुसलमानों में शिया और सुन्नी अवश्य एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना रखते हैं। यहाँ हम मुख्यतः मुसलमान संबंधों और संक्षेप में हिन्दू–सिख संबधों का विश्लेषण करेंगे।

## हिन्दू–मुसलमान साम्प्रदायिकता (Hindu-Muslim Communalism)

भारत पर मुसलमानों के आक्रमण दसवीं शताब्दी से आरम्भ हो गए थे, परन्तु मोहम्मद गज़नवी और मोहम्मद गोरी जैसे प्रारंभिक मुसलमान विजेता धार्मिक आधिपत्य जमाने की अपेक्षा लूटने में अधिक दिलचस्पी रखते थे। उस समय जब कुतुबुद्दीन देहली का पहला सुल्तान बना तब इस्लाम ने भारत में पैर जमाए। इसके पश्चात् मुग़लों ने अपने साम्राज्य को संगठित किया और इस प्रक्रिया में इस्लाम को भी। मुग़ल शासकों द्वारा अपनाई गई नीतियों में से कुछ ने धर्म–परिवर्तन के प्रयत्न और हिन्दू मंदिरों को तोड़कर उन पर मस्जिद बनाने जैसे कार्यों द्वारा हिन्दू और मुसलमान समुदायों के बीच साम्प्रदायिक झगड़ों को भड़काया। जब अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से भारत पर अपना आधिपत्य जमाया, तो उन्होंने प्रारम्भ में हिन्दुओं को संरक्षण देने की नीति अपनाई, परन्तु 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात जिसमें हिन्दू और मुसलमान कंधे–से–कंधा मिलाकर लड़े, अंग्रेजों ने 'फूट डालो ओर राज करो' (डिवाइड और रूल) की नीति अपनाई जिसके पफलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहन मिला और उनका आधिपत्य कायम रहा। हिन्दुओं और मुसलमानों के संबंध तब और अधिक तनावपूर्ण हो गए जब स्वतंत्रता संग्राम के दौरान शक्ति–राजनीति (power politics) का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार यद्यपि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पारस्परिक विरोध एक पुराना मामला है परन्तु भारत में हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता स्वतंत्रता संग्राम के दौरान शासन की विरासत है। साम्प्रदायिकता आज महत्त्वपूर्ण तरीके से परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में चलती है। अब एक ऐसी समस्या समझी जाती है जो देश के विकास के प्रक्रिया में बाधा और विकार उत्पन्न करती है। हमारे धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के लिए जिन पर हमारा संविधान बल देता है, यह अकेला सबसे बड़ा खतरा है। साम्प्रदायिक स्वार्थ साम्प्रदायिक द्वेष की आग को भड़काते हैं।

हम हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और ऐतिहासिक मूल कारणों का परीक्षण करेंगे जिससे समकालीन संदर्भ में इस तथ्य के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके। राजनीतिक दलों, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया, के क्या धार्मिक और राजनीतिक विचार और आकाँक्षाएँ थीं? भारतीय समाज की विविधता को देखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के सभी समूहों के स्वार्थों को समायोजित करना था जैसे आर्थिक, भाषाई और धार्मिक। राष्ट्रीय अपवील को विविध समूहों की एकता के लिए दो महत्त्वपूर्ण कारकों पर कार्य करना था प्रथम उपनिवेशी शासकों के शोषण से मुक्ति, और द्वितीय, समस्त नागरिकों के लिए प्रजातान्त्रिक अधिकार। क्या प्रमुख राजनीतिक दल जैसे कांग्रेस, मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी और हिन्दू महासभा इन विचारों से सहमत थे? कदाचित् नहीं। कांग्रेस दल की साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दलों के प्रति क्या नीति थी? इतिहासकार बिपनचन्द्र के अनुसार (कम्युनेलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया) कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही 'चोटी से एकता' (unit from the top) की नीति अपनाई जिसके अन्तर्गत मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के मुसलमानों, जिन्हें मुसलमान समुदाय का नेता माना जाता था, को अपनी ओर करने का प्रयत्न किया गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों की जनता की साम्राज्य विरोधी भावनाओं से सीधी अपील करने के बजाय यह उन (मध्यम और उच्च वर्ग के मुसलमान) पर छोड़ दिया गया कि वे मुसलमान जनता को आन्दालन मे सम्मिलित करें। यह 'चोटी से एकता' उपागम साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए हिन्दू–मुस्लिम सकता तो प्रोत्साहित नहीं कर पाया। टर्की मे साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए हिन्दू–मुस्लिम एकता को प्रोत्साहित नहीं कर पाया। टर्की में अंग्रेजों के हस्तक्षेप के विरूद्ध मुस्लिम लीग द्वारा चलाया हुआ खिलाफत आन्दोलन एक धार्मिक मामले से जुड़ा हुआ था। कांग्रेस ने तो इस आन्दोलन को केवल समर्थन दिया था। जितने गंभीर प्रयत्न हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए 1918 और 1922 के मध्य हुए, वे हिन्दू, मुसलमान और सिख समुदायों और कांग्रेस ने तो इस आन्दोलन को केवल समर्थन दिया था। जितने गंभीर प्रयत्न हिन्दू–मस्लिम एकता को प्रोत्साहित नहीं कर पाया। टर्की में अंग्रेजों के हस्तक्षेप के विरुद्ध मुस्लिम लीग द्वारा चलाया हुआ खिलाफत आन्दोलन एक धार्मिक मामले से जुड़ा हुआ था। कांग्रेस ने तो इस आन्दोलन

को केवल समर्थन दिया। इतने गंभीर प्रयत्न हिन्दू–मुसिलम एकता के लिए 1918 और 1922 के मध्य हुए, वे हिन्दू, मुसलमान और [illegible] समुदायों और [illegible] के शीर्षस्थ नेताओं के वार्तालाप के रूप में हुए। कई बार कांग्रेस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की शक्तियों के एक सक्रिय संगठनकर्त्ता के [illegible] में कार्य करने के बजाय विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओं में बिचौलिए के रूप में कार्य करती थी (फ्रन्टलाइन, 2–15 अप्रैल 1988.99–104)। इस प्रकार प्रारम्भ में राष्ट्रीय नेतृत्व में यह अप्रत्यक्ष सहमति थी कि हिन्दू मुसलमान और सिख पृथक् सम्प्रदाय हैं जिनमें केवल राजनीतिक और आर्थिक मामलों में एकता है, परन्तु धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं में नहीं। साम्प्रदायिकता के बीज इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में बोए गए। फिर भी, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा, संगठन के रूप में 1636 तक काफी कमजोर रहे। 1937 के चुनावों में मुस्लिम लीग ने प्रान्तीय विधान सभाओं में मुसलमानों के लिए कुछ आरक्षित सीटों 9482) में से केवल 22.6 प्रतिशत सीटें जीतीं। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में भी उसकी स्थिति ठीक नहीं रही। 1942 के बाद ही मुस्लिम लीग एक सशक्त राजनीतिक दल की तरह उभरी और उसने समस्त मुसलमानों की तरफ से बोलने का दावा किया। एम.ए. जिन्ना ने कांग्रेस को एक 'हिन्दू' संगठन कहा और अंग्रेजों ने इस दावे का अनुमोदन किया। कांग्रेस के अन्दर भी मदन मोहन मालवीय, के.एम. मुन्शी, और सरदार पटेल जैसे कुछ नेताओं ने हिन्दू–समर्थक दृष्टिकोण अपनाया। इस प्रकार कांग्रेस अपने में से साम्प्रदायिक तत्त्वों को निकाल नहीं पाई। पाकिस्तान का नारा मुस्लिम लीग ने लाहौर में सर्वप्रथम 1940 में दिया। मुस्लिम जनता के विभिन्न समूहों में पाकिस्तान के बारे में विभिन्न मत थे। मुसलमान कृषकों के लिए पाकिस्तान का अर्थ था हिन्दू जमींदार के शोषण से मुक्ति; मुसलमान व्यापारी वर्ग के लिए उसका मतलब था सुव्यवस्थित हिन्दू व्यापारिक तंत्र से छुटकारा; मुसलमान बुद्धिजीवी वर्ग के लिए उसका अर्थ था बेहतर रोजगार के अवसर। बाद में जब कांग्रेस नेताओं ने 1946 में विभाजन की स्वीकृति दे दी, तो उससे 1947 में लाखों की संख्या में हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों की रक्तपात और हत्याकाण्ड की वीभत्सता में उनका विस्थापन (displacement) हुआ। लगभग 60 लाख मुसलमान और साढ़े चार लाख हिन्दू और सिख शरणार्थी हो गए। विभाजन के बाद भी कांग्रेस साम्प्रदायिकता पर काबू नहीं पा सकी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारत में हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता के राजनीतिक–सामाजिक स्रोत थे और उनमें झगड़े के लिए केवल धर्म ही कारण नहीं था। आर्थिक स्वार्थ और सांस्कृतिक और सामाजिक रीति–रिवाज (जैसे त्यौहार, सामाजिक प्रथाएँ, और जीवन शैलियां) भी कारक थे जिन्होंने दोनों समुदायों को और विभाजित किया।

आज भारत में मुसलमान दूसरा सबसे बड़ा धार्मिक समुदाय है और विश्व में दूसरे सबसे बड़े मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं। लगभग 12 करोड़ मुसलमान हमारे देश के सब भागों में फैले हुए हैं। जम्मू और कश्मीर, असम और पश्चिम बंगाल जैसे कुछ राज्यों में हिन्दू जनसंख्या की तुलना में मस्लिम अनुपात अधिक हैं (7.3:1)। मुसलमान भी भाषा, संस्कृति और सामाजिक–आर्थिक स्थितियों में इतने ही भिन्न हैं जितने कि हिन्दू। उत्तरप्रदेश के मुसलमानों और केरल या जम्मू और कश्मीर के मुसलमानों में कोई समानता नहीं है। उनको मिलाने वाला कारक केवल धर्म है, यहाँ तक कि उनकी भाषा भी एक नहीं है। यद्यपि 11.4 प्रतिशत भारतीय मुसलमान हैं, उनमें से केवल 5.0: उर्दू बोलते हैं और सब उर्दू बोलने वाले मुसलमान नहीं हैं। सूक्ष्म अवलोकन (closer look) से यह स्पष्ट है कि 16 शहर जो हिन्दू–मुस्लिम दंगों के लिए अति संवेदनशील (susceptible) हैं वे हैं: उत्तरप्रदेश में मुरादाबाद, मेरठ, अलीगढ़, आगरा और वाराणसी; महाराष्ट्र में औरंगाबाद; गुजरात में अहमदाबाद; आन्ध्र प्रदेश में हैदराबाद; बिहार में जमशेदपुर और पटना; असम में सिलचर और गौहाटी, पश्चिम बंगाल में कलकता; मध्यप्रदेश में भोपाल; जम्मू और कश्मीर में श्रीनगर; और उड़ीसा में कटक। इन शहरों में 11 भारत के उत्तरी क्षेत्र में आते हैं, तीन पूर्वी क्षेत्र में और दक्षिण के क्षेत्र में। जम्मू और कश्मीर और लक्षद्वीप को छोड़कर जहाँ मुसलमान नागरिकों की जनसंख्या सर्वाधिक है, दूसरे राज्यों में इनका केन्द्रीयकरण 20 प्रतिशत से 50 प्रतिशत के बीच घटता–बढ़ता रहता है। क्या यह माना जा सकता है कि भारत में दक्षिण में मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक मिलेजुले हैं क्योंकि उनकी व्यापार और वाणिज्य में भागीदारी हैं जिससे सब समुदायों के साथ सद्भाव आवश्यक हो जाता है? परन्तु ऐसा तो उत्तरप्रदेश के पाँच नगरों में भी है। इसलिए हमें इस तथ्य के लिए कोई दूसरा कारण ढूंढना पड़ेगा।

हिन्दू–मुस्लिम विद्वेष (antagonims) अनेक पेचीदा कारकों के घालमेल (complex set of factors) के कारण हो सकता है। ये कारक हैं: (1) मुस्लिम आक्रमण जिनमें आक्रमणकारी धन लूटते थे और हिन्दू मंदिरों पर/के समीप मस्जिदें बनाते थे। (2) अंग्रेजों का अपने शाही शासन के दौरान अपने स्वार्थों के लिए मुस्लिम अलगाववाद को प्रोत्साहन। (3) विभाजन के पश्चात् भारत में कुछ मुसलमानों का व्यवहार जिन्होंने क्रिकेट मैच में पाकिस्तान टीम की जीत के बाद पाकिस्तानी झंडा फहराया और कुछ मुसलमानों के आह्वान पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता दिवस को –काले दिन' के रूप में मनाया गया जिसके परिणामस्वरूप बहुसंख्यक समुदाय में यह भावना उत्पन्न हुई कि मुसलमान देशभक्त नहीं है। मुसलमान की एक रूढ़िबद्ध छवि जो भारतीय मानस में घर किए हुए है, वह एक धर्मान्ध, अंतर्मुखी बाह्य समुदाय की है। इसी प्रकार मुसलमान एक हिन्दू को चालाक और शक्तिशाली अवसरवादी समझता है जो उसे उत्पीड़ित (victimise) करता है और अपने को

मुख्यधारा (main stream) से विमुख समझता है। (4) देश में अपना स्थान बनाने के लिए मुस्लिम राजनीतिक दलों में नई आक्रामकता। इसकी कई चर्चाएँ हैं कि कुछ मुसलमान उग्रवादी 'विदेशी पैसा' प्राप्त कर रहे हैं, विदेशी एजेन्ट बने हुए हैं, एक सुव्यवस्थित योजना के द्वारा देश के धर्मनिरपेक्ष आदर्श को कलंकित करने में लगे हुए हैं और मुसलमानों को भड़काने की कोशिश कर रहे हैं। (5) मुसलमानों में एकता लाने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में मुस्लिम नेता कदाचित् इस कारण असफल हुए हैं क्योंकि पश्चिम एशिया और पाकिस्तान मे व्याप्त मुस्लिम कट्टरवादिता ने उन्हें प्रभावित किया है और इस कारण उनमें कुण्ठाएँ उत्पन्न हो गई हैं। मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों की संख्या (numberical strength) का अनुचित लाभ उठाया है (विशेषरूप से केरल और यू.पी. में), अदला–बदली के सौदे किए हैं जिससे कि उन्हें लोकसभा और विधानसभा में कुछ सीटें मिल जाएँ, और उनके मित्रों को शक्ति और धन की प्राप्ति हो जाए। (6) सरकार भी मुसलमानों की उपेक्षा करने की जिम्मेदार है। इनका बहुत बड़ा भाग अपने को अलग–थलग मानता है और इस कारण वे मतलबी नेताओं के तत्पर शिकार हो जाते हैं। सत्ता प्राप्त अभिजन (elite) केवल धार्मिक मैत्री का पाठ पढ़ाते हैं और उन्हें मुसलमानों की समस्याओं की कोई जानकारी नहीं है। हिन्दू नेतृत्व केवल उन मुसलमान नेताओं से सम्पर्क रखता है जो कि उनकी बात मानते हैं।

कोई आश्चर्य नहीं कि मुसलमान अपने भविष्य को 'हम' बनाम 'वे (uus' versus 'they') का प्रश्न मानते हैं। जब कभी भी अपनी माँगे सामने रखते हैं, जैसा कि समाज का कोई भी खण्ड अपनी शिकायतों को व्यक्त करने के लिए करेगा तो वह अधिकतर हिन्दू–मुस्लिम हिंसा की ज्यादती के रूप में फट पड़ता है और इसके पश्चात् यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें विदेशी हाथ है। मुस्लिम समस्या को क्या केवल सांप्रदायिक समस्या ही समझा जाए? क्या यह सच नहीं है कि हिन्दू–मुस्लिम मामला तमिलनाडु के ब्राह्मण–विरोधी आंदोलन का, यू.पी, बिहार और कुछ अन्य राज्यों में अन्तर्जातीय झगड़ों, या असम में बंगाली–असमियों के झगड़ों या महाराष्ट्र में मराठी बनाम गैर–मराठी झगड़ों से भिन्न नहीं है? समस्या वास्तव में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की है।

हिन्दू उग्रवादी यह कहते हैं कि इस देश में मुसलमानों की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। 1992–93 के राम जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद के मसले ने साम्प्रदायिक सद्भाव के संतुलन को और भी गड़बड़ा दिया है। कांग्रेस से उम्मीदें छोड़ने के उपरान्त मुसलमानों का जनता दल में विश्वास हो गया था (1990)। परन्तु जनता दल के टूटने से और जनता दल (एस) के सत्ता में आने से (नवम्बर 1990) और उसके पश्चात् राजीव गांधी की हत्या (मई 1991) से और नवम्बर 1993 के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी का चार राज्यों (राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश व हिमालचल प्रदेश) में और 1999 में केन्द्र में पुनः सत्ता में आने से भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। मुसलमान अपनी सुरक्षा और बचाव के लिए आज कहीं अधिक चिन्तित हैं।

## हिन्दू–सिख साम्प्रदायिकता (Hindu-Sikh Communalism)

सिख भारत की जनसंख्या के 2% से भी कम (1.3 करोड़) हैं, यद्यपि ये पूरे देश में दूर–दूर तक फैले हुए हैं। उनका सबसे बड़ा केन्द्रीयकरण पंजाब में है जहाँ वे बहुमत में हैं। सिख धर्म का आरम्भ हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के विरूद्ध एक सुधार आन्दोलन के रूप में हुआ था। दसवें गुरू के बाद सिखों में गुरूओं की परंपरा समाप्त हो गई और ग्रंथ साहब को सर्वाधिक आदर दिया जाने लगा। सिखों के पूजास्थल सिख महन्तों के नियन्त्रण में रहे हैं, जिनमें से कुछ ने अपने पद का दुरूपयोग किया और निजी सम्पत्ति जोड़ी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में कुछ युवा सिखों ने सिख महन्तों के आधिपत्य (monopoly) के विरूद्ध एक आन्दोलन शुरू किया। ये व्यक्ति–जिन्हें अकाली कहा जाता है–चाहते थे कि पूजस्थलों का प्रबन्ध लोकतांत्रिक ढंग से चुने गए प्रतिनिधियों की संस्था के हाथ में हो। जब सिखों ने गुरुद्वारों को भ्रष्टाचारी महंतों के चंगुल से छुड़ाने के लिए एक कड़ा संघर्ष किया तो 1925 में एस.जी.पी.सी. (सिख गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी) का जन्म हुआ। प्रारम्भ से ही एस.जी.पी.सी. अत्यन्त शक्तिशाली रही है। उसके अध्यक्ष श्री तोहड़ा 1986 में केवल छह महीने छोड़कर 18 वर्षों तक इसके अध्यक्ष रहे ने नवंबर 1990 में अध्यक्षता का पद त्याग दिया था परन्तु पुनः नवम्बर, 1991 और फिर नवम्बर 1993 में अध्यक्ष का कार्यभाल संभालकर 1999 तक सत्ता में रहे। उन्होंने सिखों के मामलों में सदैव एक प्रमुख भूमिका निभाई है। उन्हें पंजाब का मुख्यमंत्री बनाने वाला और हटाने वाला तक कहा जाता था। 1991 तक कोई भी अकाली उनकी मदद के बिना नहीं ठहर सकता था। 1992–93 में मुख्यमंत्री द्वारा पंजाब में उग्रवादियों व आतंकवाद की समस्या का समाधान करने के पश्चात् तोहड़ा की शक्ति अब कम हो गयी है।

एक दूसरे सिख समूह ने, जो निरंकारी कहलाता है, सिख धर्म में घुस आए मतान्धों (dogmas), कर्मकाण्डों (rituals) और परपराओं के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। इस प्रकार निरंकारी आन्दोलन एक सुधार आन्दोलन था (विशुद्ध रूप से धार्मिक) जो सिखों की पूजा पद्धति में हिन्दू धर्म की प्रथाओं के प्रवेश के विरूद्ध था। उसने कई देवताओं की पूजा बंद करने पर बल दिया और कर्मकाण्डों और सस्कारों में सादगी, आडंबरहीनता और पवित्रता को पुनः चालू किया। निरंकारी सिख धर्म में 1943 तक रहे, उसके बाद तनाव पैदा हो गया।

अविभाजित अकाली दल ने मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में 1973 में सिखों द्वारा शासित स्वायत्तशासी (autonomous) पंजाब की माँग की। अक्टूबर 1973 में अकालियों ने एक प्रस्ताव पारित किया जो अब आनन्दपुर प्रस्ताव के नाम से लोकप्रिय है। उसमें उन्होंने 45 माँगें रखीं। तत्पश्चात अकाली उग्रवादियों और नरमपंथियों में बँट गए। एक उग्रवादी समूह के रूप में उभरा। प्रारम्भ में उसने सिख धर्म को पवित्र करने के उद्देश्य से निरंकारियों के विरूद्ध आन्दोलन चलाया, परन्तु अन्त में उसने सिखों के अलगाववाद का आन्दोलन शुरू किया और खालिस्तान की माँग रखी। यद्यपि सिखों का एक छोटा भाग अभी भी इस माँग के लिए काम कर रहा है, किन्तु अकालियों का बहुमत एक ऐसे राज्य के पक्ष में है जिसमें केन्द्र का अधिकार केवल सुरक्षा, विदेशों से संबंध, संचार, रेलवे और मुद्रा तक ही सीमित हो।

सिख आंदोलन जो अस्सी के दशक के प्रारम्भ में हुआ और जब तक स्थानीय संपादक की हत्या हुई, श्रीनगर की उड़ानों पर एक वायुयान का अपहरण हुआ और एक कल्पित राष्ट्र, खालिस्तान के लिए पासपोर्ट जारी किए गए, तब से यह आन्दोलन तेजी पकड़ने लगा। हत्याओं और गोलियों की संख्या बढ़ने लगी और सिखों का विरोध संगठित उग्रवादी एवं अधिकाधिक हिंसक हो गया। 1984 में जब अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में उग्रवादी सिखों द्वारा इकट्ठे किए गए हथियारों को जब्त करने और आतंकवादियों को निकालने के लिए पुलिस ने गुरुद्वारे में 'आप्रेशन ब्लूस्टार' योजना के अन्तर्गत प्रवेश किया तो यह सिखों से सहा नहीं गया और अनेक सिख सरकार (और कुछ हिन्दुओं) के विरुद्ध हो गए। फिर अक्टूबर 1984 में जब इन्दिरा गांधी की हत्या के उपरान्त दिल्ली आदि शहरों में हजारों सिखों की हत्या की गई व उनके मकान व दुकान आदि जलाए गए तो उनमें इतना आक्रोश पैदा हो गया कि कुछ आतंकवादी सिखों ने ट्रेन और बसों में यात्रा करने वाले हिन्दुओं को चुन–चुन कर मार डाला। मई 1988 में जब अमृतसर में स्वर्ण मन्दिर में पुनः ''आपरेशन ब्लैक थन्डर'' योजना द्वारा अनेक उग्रवादियों को दस दिन के घेरे के उपरान्त समर्पण करने के लिए मजबूर किया गया, तब सिख उग्रवादियों ने बहुत से शहरों में बम विस्फोट किए। कनाडा से भारत आने वाले एक जहाज को बम–विस्फोट के द्वारा उड़ाकर सैकड़ों हिन्दुओं को मार डाला गया। बहुत से हिन्दू पंजाब से भाग कर अन्य राज्यों में बस गए।

अतः लगभग नौ–दस वर्ष हिन्दू–सिख समुदायों के सम्बन्धों में अविश्वास/विरोध/वैमनस्य बना रहा। पर पंजाब में आतंकवाद की समस्या के लगभग समाप्त होने के उपरान्त अब दोनों समुदायों के सम्बन्ध पहले जैसे सामान्य और सौहार्दपूर्ण हो गए हैं।

## साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence)

### अवधारणा (Concept)

साम्प्रदायिक हिंसा की समस्याएँ और विशेषताएँ विद्यार्थी आंदोलनों, श्रमिकों की हड़तालों, और किसानों के आंदोलन में हिंसा की समस्याओं और विशेषताओं से भिन्न हैं। अवधारणा के स्तर पर हमें साम्प्रदायिक हिंसा और आंदोलनों (agitations) और आतंकवाद (terrorism) और राज्य प्रतिरोध और विद्रोह (insurgency) में अन्तर करना चाहिए। यह अन्तर छः स्तरों पर देखा गया हैः जन संग्रहण (mass mobilization) और हिंसा की मात्रा, सम्बद्धता की मात्रा, आक्रमण का लक्ष्य, दंगों का यकायक भड़क उठना (flare-ups), नेतृत्व और दंगों से पीड़ित व्यक्ति और उसके परिणामों के अनुभव (सिंह, वी.वी. 1990)।

आंदोलनों में जनसंग्रह (mass mobilization) जुलूसों, प्रदर्शनों और घेरावों के रूप में विरोध प्रकट करने और शिकायतों एवं माँगों को प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा में व्यक्तियों का संग्रहण दूसरे समुदाय के विरुद्ध किया जाता है। इसमें आन्दोलनों के बारे में पहले से जानकारी नहीं मिलती (unpredictable), वे अनियंत्रित होते हैं और इनमें एक भावनात्मक रोष और हिंसात्मक अभिव्यक्ति होती है जो दंगों का रूप धारण कर लेती हैं।

हिंसा की मात्रा (degree of violence) और हिंसा करने के तरीके भी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में भिन्न होते हैं। आतंकवाद में जनसमर्थन निष्क्रिय, अप्रकट और गुप्त होता है। यह मानकर कि राज्य विद्रोह असभव है, कुछ ही ऐसे सक्रिय, सशस्त्र उग्रवादी गुट होते हैं जो योजनाबद्ध तरीके से हिंसा का प्रयोग करते हैं। राज्य विद्रोह में जनसमर्थन राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए संगठित किया जाता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिक हिंसा में जन समर्थन सामाजिक व्यवस्था के प्रति रोष व्यक्त करने के लिए संगठित किया जाता है। राज्य विद्रोह में प्रशिक्षित गुट भाग लेते हैं जब कि साम्प्रदायिक दंगों में अप्रशिक्षित लोग लिप्त होते हैं। राज्य विद्रोह में जनता में प्रचार शासन के विरुद्ध होता है जबकि साम्प्रदायिक दंगों में वह सामाजिक पक्षपात, सामाजिक उपेक्षा और सामाजिक एवं धार्मिक के विरूद्ध होता है।

सम्बद्धता की मात्रा (degree of cohesion) भी साम्प्रदायिक हिंसा, आन्दोलन, आतकंवाद और राज्य विद्रोह में भिन्न–भिन्न होती है। साम्प्रदायिक दंगे की स्थिति में सम्बद्धता की ऊँची मात्रा शत्रुता, तनाव और जनसंख्या के ध्रुवीकरण के कारण होती है जबकि आन्दोलनों

में वह स्वार्थ के युक्तिकरण पर आधारित है। आतंकवाद और राज्य विद्रोह में संबद्धता सक्रिय कार्यकर्त्ताओं और उनके नेता के बीच होती है, जनता में यह उसकी तुलना में कम होती है।

राज्य विद्रोह और आतंकवाद में आक्रमण का लक्ष्य सरकार होती है। आंदोलनों में वह सत्ताधारी समूह होती है और साम्प्रदायिक दगो में हिंसा का प्रयोग सरकारी सम्पत्ति को लूटने और जलाने में किया जाता है। असामाजिक तत्त्वों को आन्दोलनों और साम्प्रदापियक दंगों में खुली छूट मिल जाती है, परन्तु आतंकवाद और राज्य विद्रोह में ऐसा नहीं होता। राज्य विद्रोह और आतंकवाद में जिन शस्त्रों का उपयोग किया जाता है, वे आंदोलनों और साम्प्रदायिक झगड़ों में किए जाने वाले शस्त्रों से अधिक आधुनिक और परिष्कृत (sophisticated) होते हैं।

साम्प्रदायिक दंगों का अचानक भड़क उठना (flare-up) विशेष सामाजिक ढाँचे तक सीमित रहता है, जबकि राज्य विद्रोह और आतंकवाद में यह और अनिश्चित होता है। आंदोलनों में उपद्रव किन्हीं विशेष ढाँचों को लेकर नहीं होते, अपितु विदित वंचनों और व्यक्तियों के संगठन पर आधारित होते हैं।

आतंकवादी राज्य विद्रोह और आंदोलनों में नेतृत्व आसानी से पहचाना जा सकता है परन्तु साम्प्रदायिक दंगों में सदैव नहीं। साम्प्रदायिक दगो में ऐसा कोई नेतृत्व नहीं होता जो दंगे की स्थिति को नियंत्रित कर सके अथवा उसे रोक सके। दूसरी ओर आंदोलनों, आतंकवाद और राज्य विद्रोह में जो कुछ होता है, वह नेताओं के निर्णय के अनुरूप होता है और स्थिति पर उनका प्रभावी नियंत्राण रहता है।

अन्त में, साम्प्रदायिक हिंसा के परिणाम (aftermath) होते हैं तीव्र शत्रुता, पूर्वाग्रह और एक समुदाय के दूसरे के प्रति पारस्परिक शक। आन्दोलनों में मानव हानि तुलनात्मक दृष्टि से कम होती है यद्यपि सम्पत्ति की कभी–कभी अधिक हानि हो जाती है। जब आंदोलनों में समझौता हो जाता है तो सरकारी एजेन्सियों के विरूद्ध वैर भाव भी समाप्त हो जाता है और बदले की भावना भी कुछ समय पश्चात चली जाती है। आतंकवाद में पीड़ितों में से अधिकांश निर्दोष होते हैं। वे उग्रवादियों के प्रति निष्क्रिय रहते हैं और निष्क्रिय व्यवहार से वे स्वयं को अधिक सुरक्षित समझते हैं। पीड़ित व्यक्तियों में प्रतिशोध की भावना हो ही नहीं सकती क्योंकि उग्रवादी गुमनाम होते हैं और संगठित रूप से परिष्कृत शस्त्रों से लैस होते हैं। राज्य–विद्रोहों में पीड़ित व्यक्तियों में अधिकांश सुरक्षा बलों के सदस्य या सरकारी कर्मचारी होते हैं जो राज्य विद्रोह के लिए प्रत्युपायों (counter-measures) में सहायता करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक हिंसा प्रमुख रूप से घृणा, द्वेष और प्रतिशोध पर आधारित है। अब हम साम्प्रदायिक हिंसा की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

## साम्प्रदायिक दंगों की विशेषताएँ (Features of Communal Riots)

पिछले 53 वर्षों में देश में हुए बड़े साम्प्रदायिक दंगों के अध्ययनों ने यह उद्घाटित किया है कि: (1) साम्प्रदायिक दंगे धर्म की तुलना मे राजनीति से अधिक प्रेरित होते हैं। मदान कमीशन ने भी, जिसने मई, 1970 में महाराष्ट्र में हुए साम्प्रदायिक दंगों की छानबीन की, इस पर बल दिया था कि ''साम्प्रदायिक तनवों के वास्तुकार (architects) और निर्माता (builders) सम्प्रदायवादी और राजनीतिज्ञों का एक वर्ग होता है वे अखिल भारतीय और स्थानीय नेता जो अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने, अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने, और इसके लिए वे हर घटना को साम्प्रदायिक रंग देते हैं और इस प्रकार जनता के आगे वे अपने आपको अपने समुदाय के धर्म और अधिकारों के हिमायती के रूप में प्रस्तुत करते हैं''। (2) राजनीतिक स्वार्थों के अलावा आर्थिक स्वार्थ भी साम्प्रदायिक झगड़ों को भड़काने में प्रबल भूमिका अदा करते हैं। (3) साम्प्रदायिक दंगे दक्षिण और पूर्वी भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक आम हैं। (4) ऐसे शहरों, जिनमें साम्प्रदायिक दगे एक या दो बार हो चुके हैं, में इनके पुनः होने की संभावना ऐसे शहरों की अपेक्षा में जहाँ भी दंगे नहीं हुए अधिक प्रबल होती है। (5) अधिकांश साम्प्रदायिक दंगे धार्मिक त्योहारों के अवसर पर होते हैं। (6) दंगों में घातक हथियारों का उपयोग बढ़ रहा है। (7) दंगे आम तौर पर शहरों में ही होते हैं तथा गाँव इनसे मुक्त रहते हैं। प्रोफेसर आसुतोष वार्ष्णेय के अध्ययन के अनुसार 1950 के बाद से हिन्दू–मुस्लिम दंगो में गाँवों का हिस्सा सिर्फ 3.5: है जबकि शहरी क्षेत्रों का हिस्सा 94.03% है। ये दंगे भी सिर्फ 8 शहरों में हुए।

## साम्प्रदायिक दंगों का प्रभाव–क्षेत्र (Incidence of Communal Riots)

भारत में साम्प्रदायिक उन्माद 1946–48 के दौरान अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। 1950–1963 के काल को साम्प्रदायिक शांति का काल कहा जा सकता है। देश में राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक विकास ने साम्प्रदायिक स्थिति को सुधारने में अपना योगदान दिया। दंगों के प्रभावक्षेत्र 1963 के बाद एकाएक बढ़ गए। पूर्वी भारत के विभिन्न भागों जैसे कलकत्ता, जमशेदपुर, राऊरकेला और राची में 1964 में भयंकर दंगे हुए। साम्प्रदायिक हिंसा की लहर 1968 और 1971 के बीच, जब केन्द्र और राज्यों में राजनीतिक नेतृत्व

कमजोर था, सारे देश में फैल गई। कांग्रेस 1969 में विभाजित हुई थी और कुछ राज्यों में एस.वी.डी. सरकारें राजनैतिक सत्ता में थीं। देश में 1954–55 और 1988–89 के बीच हुए साम्प्रदायिक दंगों की कुल संख्या को सूचीबद्ध किया गया है : 1954–55:125, 1956–57:100, 1958–59:60, 1960–61:100, 1962–63:100, 1964–65:675, 1966–67:310, 1968–69:800, 1970–71:775, 1972–73:425, 1974–75:400, 1976–77:315, 1978–79:400, 1980–81:710, 1981–82:830, 1982–83:950, 1983–84:1090, 984–15:1200, 1985–86:1300, 1986–87:764, 1987–88:711, 1988–89:611 (सरोलिया, 1987:60 और दि हिन्दुस्तान टाइम्स, दो अप्रैल 1990) 1998 में देशमें 626 दंगे हुए थे जिनमें 207 व्यक्ति मारे गए और 2065 जख्मी हुए थे (द हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 11, 1999) प्रो. वार्ष्णेय के अनुसार 1950 से 1995 के बीच भारत में दंगे हुए जिनमें कुल 7,173 लोगों की मृत्यु हुई। अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार जिन शहरों में अधिक दंगे हुए वे हैं: अहमदाबाद, मुम्बई, अलीगढ़, हैदराबाद, मेरठ, बड़ोदरा, कलकत्ता और दिल्ली (मई, मार्च, 2000)।

नवम्बर–दिसम्बर 1990 में उत्तरप्रदेश, आंध्रप्रदेश और गुजराज में हुए साम्प्रदायिक दंगे इस अनर्थकारी मोड़ का संकेत देते हैं जो साम्प्रदायिक स्थिति ने ले लिया है। आन्ध्र प्रदेश में 8 और 11 दिसंबर, 1990 के बीच हुए दंगों में 50 लोगों से अधिक झड़पों में मारे गए। अलीगढ़ में जहां भी उसी काल में दंगे हुए 100 से अधिक लोगों के मारे जाने की खबर थी। कानपुर में कम–से–कम छह लोग मारे गए, 27 जख्मी हुए और कई लूट और आगजनी के मामलों की रपट दर्ज हुई। एटा (उत्तरप्रदेश) में 13 लोग मारे गए। बेलगाँव (कर्नाटक) में अप्रैल 1992 में हुए दंगों में नौ व्यक्ति मारे गए थे। बनारस (उत्तरप्रदेश) में नवम्बर 1991 में, हापुड़ (उत्तरप्रदेश) में पफरवरी 1992 में, सीलमपुर में मई 1992 में और समईपुर बदली (दिल्ली) में जुलाई 1992 में हुए दंगे यह सिद्ध करते हैं कि देश में साम्प्रदायिक एकता कमज़ोर हो रही है। महाराष्ट्र में नासिक जिले में जुलाई 20, 1992 को दंगे जनता पार्टी के सदस्यों द्वारा अयोध्या में मन्दिर निर्माण के विरोध में पत्थर फेंकने के प्रदर्शन के बाद आरम्भ हुए थे जिसमें अनेकों व्यक्तियों की मृत्यु हो गई थी और भारी सम्पत्ति नाश हुइ थीं मुनर्था कस्बे में केरल की राजधानी त्रिवेंद्रम के निकट जुलाई 1992 के दंगे में दंगाइयों ने बम विस्फोट, तेजाब के ब्लब व धारदार हथियारों आदि का प्रयोग कर इस्लामिक सेवक संघ के लोगों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा पर हमला करके अनेक व्यक्तियों को मार दिया था और 40 को घायल किया था। यह घटना पूर्वनियोजित थी और इसका उद्देश्य सांप्रदायिक तनाव पैदा करना था। अक्टूबर 6, 1992 में सीतामढ़ी के दंगे में 37 व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी (कुछ के अनुसार वास्तव में 100 से अधिक व्यक्ति मारे गए थे), अनेक घायल हुए थे और 500 से अधिक मकान जलाए गए थे। दंगों का कारण दुर्गा पूजा कमेटी के सदस्यों द्वारा मुस्लिम क्षेत्र के निमीलन (immersion) जलूस ले जाना था। दिसम्बर 6, 1992 में अयोध्या में विवादित स्थान (disputed shrine) के गिराने के बाद अनेक राज्यों में साम्प्रदायिक दंगों में पाँच दिन में 1,060 व्यक्ति मारे गए थे। उत्तरप्रदेश में 236, असम में 76, कर्नाटक में 64, राजस्थान में 30, और बंगाल में 20 व्यक्ति मारे गए थे। इस हिंसा के बाद सरकार ने इस्लामिक सेवक संघ, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद व जमाइते इस्लामी हिन्द जैसे संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। बाद में दो तीन संगठनों से यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया था।

बम्बई में अप्रैल 1993 में हुए बम विस्फोटों और उसके बाद कलकत्ता में बम विस्फोटों के उपरान्त जो साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। बम्बई बम विस्फोट के कुछ ही दिनों बाद दिल्ली के मशहूर इमाम ने एक वक्तव्य दिया था कि "अब हमारे जीवित रहने का मूल मुद्दा है। हम जिंदा रहने के लिए हथियार उठाने की सम्भावना को भी नकार नहीं सकते"। संघ परिवार नेताओं ने यह दावा किया कि "भारत हिन्दू राष्ट्र है; हिन्दू संस्कृति ही प्रामाणिक भारतीय संस्कृति है; मुसलमान वास्तव में महमदी हिन्दू हैं; तथा सभी हिन्दुस्तानी परिभाषा से ही हिन्दू हैं"। हिन्दू और मुस्लिम धर्मान्धजनों (fanatics) के इसी आक्रमणकारी दृष्टिकोण के कारण साम्प्रदायिक तनाव पैदा होता है और दंगे भड़कते हैं। जब साम्प्रदायिक तनाव–टकराव राजनेताओं का निहित स्वार्थ बन जाता है तो हालात और बिगड़ते हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से, जबकि 1961 में भारत के 350 जिलों में 61 जिले संवेदनशील माने गए, 1979 में 216, 1986 में 186, 1987 में 254, और 1989 में 186 जिले संवेदनशील जिलो की परिभाषा में आए। जान की क्षति के अतिरिक्त साम्प्रदायिक दंगों से माल का व्यापक विनाश होता है और इनका आर्थिक गतिविधियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ 1983 और 1986 के बीच 14 करोड़ रुपये के माल का नुकसान हुआ (टाइम्स ऑफ इंडिया, 25 जुलाई, 1986)। 1985 और 1988 के बीच तीन वर्षों में साम्प्रदायिक दंगों की 2,086 घटनाओं में 1,024 व्यक्ति मारे गए और 12,352 जख्मी हुए।

सर्वाधिक साम्प्रदायिक दंगे 1988 में महाराष्ट्र (96) में हुए, इसके बाद उत्तर प्रदेश (85), बिहार 984), पश्चिम बंगाल (74), मध्यप्रदेश (43), राजस्थान (19), असम (9), जम्मू और कश्मीर (5), हरियाणा (3), केरल (2), और देहली (2)। हाल के वर्षों में गुजरात सभी प्रकार के सम्प्रदायवादियों के शिकार का अड्डा बन गया है। 1986 में 142 दंगों के विपरीत, 1987 में 146 और 1988 और 1989 में 279 दंगे हुए।

## साम्प्रदायिक हिंसा के कारण (Causes of Communal Violence)

साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या को समझने के लिए दो उपागमों का उपयोग किया जा सकता है: (क) ढाँचों की कार्यप्रणाली का निरीक्षण करना, और (ख) उसके उद्‌भव की प्रक्रिया के कारण मालूम करना। पहले प्रकरण (case) में साम्प्रदायिक हिंसा को सामाजिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली या समाज के ढाँचों के संचालन के अध्ययन से समझा जा सकता है जब कि दूसरे प्रकरण में नियोजित/अनियोजित या चेतन/अचेतन तरीके महत्त्वपूर्ण होते हैं जो कि साम्प्रदायिक हिंसा को जीवित रखते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा को प्रथम प्रकरण में एक 'तथ्य' के रूप में लिया जाता है या एक 'निश्चित' घटना समझा जाता है और फिर उसके औचित्य ढूँढे जाते हैं, जबकि दूसरे में साम्प्रदायिक हिंसा के उद्‌भव के लिए सहसंबंधों को ढूँढने का प्रयास किया जाता है ताकि उसका एक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन किया जा सके।

विभिन्न विद्वानों ने साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या का विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से अध्ययन किया है और उसके होने के विभिन्न कारण बताए हैं और उसे रोकने के लिए विभिन्न उपाय सुझाए हैं। मार्क्सवादी विचारधारा साम्प्रदायिकता का संबंध आर्थिक वंचन और बाजार की ताकतों पर एकाधिकार नियंत्रण को प्राप्त करने के लिए धनवान और निर्धन के बीच वर्ग–संघर्ष से बतलाती है। कुछ राजनीति इसे सत्ता का सघर्ष मानते हैं। समाजशास्त्री इसे सामाजिक तनावों और सापेक्षिक वंचनों से उत्पन्न हुई घटना कहते हैं। धार्मिक विशेषज्ञ इस हिंसक कट्टरवादियों और अनुसारकों (conformists) की शक्ति का प्रतीक कहकर पुकारते हैं।

बहुकारक उपागम में दस प्रमुख कारक सम्प्रदायिकता के कारणों के बताए गए हैं (सरोलिया, 1987:62)। ये हैं सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक कारकों में सामाजिक परंपराएँ, जाति एवं वर्ग–अहम् (class ego), असमानता और धर्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण सम्मिलित है; धार्मिक कारकों में धार्मिक नियमाचारों और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों में गिरावट, संकीर्ण और मतान्ध धार्मिक मूल्य, राजनीतिक लाभों के लिए धर्म का उपयोग और धार्मिक नेताओं की साम्प्रदायिक विचारधारा सम्मिलित है; राजनीतिक कारकों में धर्म पर आधारित राजनीतिक औचित्य और राजनीतिक संस्थाएँ, राजनीतिक हस्तक्षेप, साम्प्रदायिक हिंसा का राजनीतिक औचित्य और राजनीतिक नेतृत्व की असफलता सम्मिलित हैं; आर्थिक कारकों में आर्थिक शोषण और पक्षपात, असन्तुलित आर्थिक विकास, प्रतिस्पर्धा का बाजार, अप्रसरणशील (non-expanding) आर्थिक व्यवस्था, श्रमिकों का विस्थापन और असमावेशन (non-absorption) और गल्फ से आए हुए पैसे का प्रभाव सम्मिलित है; कानूनी कारकों में सम्मिलित हैं, समान कानून संहिता, संविधान में कुछ समुदायों के लिए विशेष प्रावधान और रियायतें, कुछ राज्यों को (जैसे काशमीर) विशेष दर्जा, आरक्षण नीति और विभिन्न समुदायों के लिए विशेष कानून; मनोवैज्ञानिक कारकों में सम्मिलित हैं, सामाजिक पूर्वाग्रह, रूढ़िबद्ध अभिवृत्तियाँ, अविश्वास, दूसरे समुदाय के प्रति विद्वेष और भावशून्यता, अफवाहें, भय का मानस (fear psyche) और जनसंपर्क के साधनों द्वारा गलत जानकारी देना/ गलत अर्थ लगाना / अयथार्थ रूप प्रस्तुत करना; प्रशासनिक कारकों में शामिल हैं, पुलिस और दूसरी प्रशासनिक इकाईयों में समन्वयन का अभाव, कुसज्जित और कुप्रशिक्षित पुलिस कर्मचारी, गुप्तचर विभागों की अकुशल कार्यप्रणाली, पक्षपाती पुलिस के सिपाही, पुलिस की ज्यादतियाँ और निष्क्रियता और अकुशल पी.ए.सी. ऐतिहासिक कारकों में शामिल हैं, विदेशी आक्रमण, धार्मिक संस्थाओं को क्षति, धर्म परिवर्तन के लिए प्रयत्न, उपनिवेशीय शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति, विभाजन का मानसिक आघात पिछले साम्प्रदायिक दंगे, जमीन, मंदिर और मस्जिद के पुराने झगड़े, स्थानीय कारकों में सम्मिलित है, धार्मिक जुलूस, नारेबाज़ी, जमीन के झगड़े, स्थानीय असामाजिक तत्त्व और गुटों में प्रतिद्वन्दिता और अन्त: क्षेप कारकों में सम्मिलित हैं; दूसरे देशों द्वारा दिए जा रहे प्रशिक्षण और वित्तीय सहायता, भारत की एकता को भंग करने और कमजोर बनाने के लिए दूसरे देशों द्वारा षडयंत्र रचना और फिर साम्प्रदायिक संगठनों का समर्थन देना।

इन उपागमों के विपरीत, हमें एक ऐसे समष्टिपरक (holistic) उपागम की आवश्यकता है जिसके द्वारा साम्प्रदायिक हिंसा को समझा जा सके। यह उपागम विभिन्न कारकों पर बल देगा और बड़े कारकों में भेद करेगा। सिरिल बर्ट (1944) की तरह हम इन कारकों का चार उपसमूहों में वर्गीकरण कर सकते हैं: अधिकतम स्पष्ट (most conspiuous) प्रमुख सहयोगी (chief cooperating), लघु गंभीर (minor aggravating), और उपरी तौर से निष्क्रिय (apparently inoperative)। विशेष रूप से ये कारक हैं: साम्प्रदायिक राजनीति एवं धार्मिक कट्टरवादियों को राजनीतिज्ञों का समर्थन, पूर्वाग्रह (जिसके कारण पक्षपात, परिहार (avoidance), शारीरिक आक्रमण और निर्मूलन होते हैं), साम्प्रदायिक संगठनों का विकास और धर्म परिवर्तन। मोटे तौर पर, हमें अपना ध्यान धर्मान्धों, असमाजिक तत्त्वों और उन निहित आर्थिक स्वार्थों, जो प्रतिद्वंद्वी समुदायों में हिंसा भड़काते हैं, पर केन्द्रित करना चाहिए। मेरी अभिधारणा (thesis) यह है कि "साम्प्रदायिक हिंसा धार्मिक कट्टरवादियों द्वारा भड़काई जाती है, इसकी पहल असामाजिक तत्त्वों द्वारा की जाती है, राजनीति में सक्रिय व्यक्ति इसे समर्थन देते हैं, निहित स्वार्थ इसे वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं और ये पुलिस और प्रशासकों की निर्दयता के कारण फैलती है।" जबकि साम्प्रदायिक हिंसा प्रत्यक्ष रूप से इन कारणों के कारण होती है परन्तु वह कारक जो हिंसा को फैलाने में सहायक होता है एक नगर विशेष

का पर्यावरणीय खाका जो दंगाईयों को पकड़ में नहीं आने देता। मेरी अभिधारणा की पुष्टि करते हैं: मध्य भारत के गुजरात में बड़ोदा और अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दंगों के एकल अध्ययन (case-studies) उत्तर प्रदेश में मेरठ, अलीगढ़ और मुरादाबाद के दंगे; पश्चिम बंगाल में जमशेदपुर के दंगे, उत्तर भारत में कश्मीर में श्रीनगर में दंगे; दक्षिण भारत में हैदराबाद व केरल में दंगे और पूर्वी भारत में असम में दंगे।

इन सब एकल अध्ययनों में से हम एक केस दृष्टांत (illustration) के लिए ले सकते हैं–मेरठ में मई, 1987 में हुए साम्प्रदायिक दंगों का केस। इस शहर में 45 वर्षों (1948 और 1993 के बीच) में एक दर्जन से अधिक बार साम्प्रदायिक हिंसा का गंभीर प्रकोप हुआ है। मेरठ की जनसंख्या (1995 में) दस लाख के आसपास है। 1987 के दंगे मेरठ में 16 मई को शुरू हुए, चौबीस घंटे में वे पुरानी देहली की चारदीवारी में स्थित शहर में फैल गए और उसके कुछ दिन बाद मोदी नगर, बुलंदशहर, हापुड़, गाजियाबाद, मुरादनगर, मुजफरनगर और मुरादाबाद भी इससे प्रभावित हो गए। यह घटना एक जमीन के विवाद में चार मुसलमानों द्वारा एक हिन्दू लड़के की हत्या से भड़क उठी। जब पुलिस इन मुसलमानों को गिरफतार करने गई तो तीन सिपाहियों को गली में घसीटा गया और उनकी राइफलें छीन ली गई। लड़ाई जो कि आरम्भ में पुलिस और मुलजिमों के बचाने वालों के बीच थी, ने शीघ्र ही साम्प्रदायिक रंग ले लिया। एक दुकान को आग लगाई गई और उसके मालिक को छुरा घोंप कर हत्या कर दी गई। इस संकुल लड़ाई (melee) में कुछ धार्मिक कट्टरपंथियों ने मस्जिद के लाउडस्पीकर से ऐलान किया कि धर्म के श्रद्धालु आएं और अपने धर्म की रक्षा करें। इससे मुसलमान और हिन्दू झगड़े में आमने–सामने आ गए जिसके फलस्वरूप कई घृणित घटनाएँ घटीं।

अगले दस दिनों में सेना, अर्द्धसैनिक बलों और सशस्त्र पुलिस ने हिंसा समाप्त करने के लिए शहर को घेर लिया। इस कालावधि में धर्मान्धों (fanatics) और असामाजिक तत्त्वों ने 20 करोड़ से अधिक सम्पत्ति को लूटा/नष्ट कर दिया, 150 लोगों की हत्या कर दी और लगभग 1,000 लोगों को ज़ख्मी कर दिया। प्रशासकों और अफसरों की क्रूरता इससे स्पष्ट होती है कि उन्होंने उन पुलिस टुकड़ियों को हटा लिया जो केवल दो महीने पहले हुए दंगों के बाद शहर का दौरा कर रहीं थी। उनकी यह उदासीनता इस तथ्य से विशेषरूप से सुस्पष्ट हो जाती है कि गुप्तचर विभाग की सूचनाओं ने यह बताया था कि दोनों समुदायों के सदस्यों ने बहुत भारी मात्रा में हथियार जमा करना शुरू कर दिया था। प्रशासन इस सीमा तक चला गया कि उसने उन व्यक्तियों को जिन्हें पिछले दंगों में शांति भंग करने के आरोप में गिरफतार किया था, रिहा कर दिया। उस समय झगड़े का पर्याप्त संकेत था क्योंकि पूजास्थलों से बराबर घोषणाएँ हो रहीं थीं। इस दंगे में साम्प्रदायिक और असामाजिक तत्त्वों ने लोगों की धार्मिक भावनाओं का अनुचित लाभ उठाया और एक महीने पहले धार्मिक नेताओं ने जोशीले और भड़काने वाले भाषण दिए। (मुसलमान नेताओं ने सारे देश से आए हुए तीन लाख मुसलमानों को देहली में सम्बोधित किया, जबकि हिन्दू नेताओं ने एक लाख हिन्दूओं की सभा को अयोध्या में सम्बोधित किया)। प्रशासन ने गुप्तचर विभाग से मिली सूचनाओं पर कोई कदम नहीं उठाया और कई राजनितिज्ञों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच स्थानीय दस्ताकरियों, जैसे कैंची बनाना और कपड़े के व्यापार में जो प्रतिद्वंदिता थी उसे बढ़ावा दिया। पी.ए.सी. की प्लेटून ने भी तनाव को नियन्त्रण में करने की आड़ में पास के गाँवों में आदमियों के एक छोटे समूह को मारकर और मकानों को जलाकर साम्प्रदायिक पक्षपात दिखाया।

ये सब तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि किस प्रकार धार्मिक कट्टरवादी, असामाजिक तत्त्व, राजनीतिज्ञ, अफसर और पुलिस शहर में साम्प्रदायिक तनाव और हिंसा की उत्पत्ति और उसे भड़काने के लिए उत्तरदायी थे। इस स्पष्टीपरक उपागम में कुछ कारकों की व्याख्या आवश्यक है। मुसलमानों में भेदभाव की असंगत भावना है। दस वर्ष पहले (1991 में) देश में मुसलमानों की संख्या पूरी जनसंख्या की 11.4 प्रतिशत (7.5 करोड़) थी (इन्डिया : 1992:20)। 1986 तक मुसलमानों की प्रतिशतता आई.ए.एस. में 2.9, आईपी.एस. में 2.8, बैंकों में 2.2 और न्यायपालिका में 6.2 थी। इसलिए मुसलमानों में यह भावना जागृत हो गई है कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है और उन्हें सब क्षेत्रों में अवसरों से वंचित रखा जा रहा है। सत्य यह है कि जो मुसलमान इन नौकरियों के लिए प्रतियोगिता में भाग लेते हैं उनकी संख्या बहुत कम है। परन्तु उन्होंने धार्मिक भेदभाव और भाई–भतिजावाद के आरोप लगाकर इसके बारे में बहाने ढूँढने का प्रयत्न किया है। मुसलमानों में भेदभाव की भावना हास्यास्पद और निर्मूल है।

दूसरा कारक खाड़ी और दूसरे देशों में भारत में पैसे का प्रवाह है। मुसलमान बड़ी संख्या में अच्छी राशि कमाने और धनी बनने के लिए खाड़ी देशों में प्रवास करते हैं। ये मुसलमान और खाड़ी के शेख मस्जिदें बनाने, मदरसे खोलने और खैराती मुसलमान संस्थाओं को चलाने के लिए मुक्त हस्त से भारत को पैसा भेजते हैं। इस प्रकार यह विश्वास किया जाता है कि यह धनराशि मुस्लिम कट्टरवादिता को सहायता पहुँचाती है। पाकिस्तान एक ऐसा देश है जिसके शासकों में भारत के प्रति सदैव द्वेष की भावना रही है। 1999 के कारगिल युद्ध के बाद यह भावना और अधिक बढ़ गई है। मुस्लिम शासक निरन्तर भारत में अस्थिरता उत्पन्न करने में रूचि लेते रहे हैं। अब आधिकारिक रूप से यह सिद्ध हो गया है कि पाकिस्तान मुसलमान और सिख आतंककारियों (जम्मू और कश्मीर और पंजाब के) को प्रशिक्षण और सैन्य सामान देकर

उनकी सक्रिय रूप से सहायता कर रहा है। नवम्बर 1993 में श्रीनगर में हज़रतबल दरगाह में भी पाकिस्तान का हाथ साबित हो गया था। पाकिस्तान के प्रति दुर्भावना और संदेह पैदा किया है। यही बात भारत में हिन्दू कट्टरवादियों और हिन्दू संगठनों के लिए भी कही जा सकती है जो मुसलमानों और मुस्लिम संगठनों के विरुद्ध द्वेषपूर्ण भावनाओं को भड़काते हैं। अयोध्या में राम जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद का विवाद, मथुरा में कृष्ण जन्मभूमि और उसके समीप मस्जिद के रूप में किया गया परिवर्तन, वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर और उसके बराबर में मस्जिद में मस्जिद का विवाद और संभल में विवादास्पद मस्जिद जिसके लिए यह दावा किया जाता है कि यह पृथ्वीराज चौहान के काल से शिव भगवान का मन्दिर था और शहाबुद्दीन (सं स.) जैसे मुस्लिम नेताओं को 1987 में मुसलमानों को आह्वान कि वे गणतंत्रा दिवस का बहिष्कार करें और 26 जनवरी, 1987 को 'काले दिन' के रूप में मनाऐं, ऐसे प्रकरण दोनों समुदायों के बीच दुर्भावना को बढ़ावा देते हैं।

प्रेस और संचार माध्यम भी कभी–कभी अपने तरीके से साम्प्रदायिक तनावों को बढ़ाने में अपना योगदान देते हैं। कई बार अख्बारों में छपी खबरें सुनी सुनाई अफवाहों का गलत प्रस्तुति पर आधारित होती हैं। इस प्रकार की ख़बरें आग में चिनगारी का काम करती हैं और साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काती हैं। यह अहमदाबाद के 1969 के दंगों में हुआ जब 'सेवक' ने यह खबर छापी कि मुसलमानों ने कई हिन्दू स्त्रियों को निर्वस्त्रा किया और उनके साथ बलात्कार किया। यद्यपि इस ख़बर का दूसरे दिन ही खंडन कर दिया गया, परन्तु नुकसान तो हो ही चुका था। इसने हिन्दुओं की भावनाओं को उकसाया और साम्पदायिक दंगा करवाया।

कई समस्याओं में से एक जो विगत वर्षों से हिन्दुओं और मुसलमानों को उत्तेजित कर रही है वह है मुस्लिम व्यक्तिगत कानून (Muslim Personal Law)। सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा शाहबानों के पक्ष में दिए गए फैसले ने मुसलमानों में यह डर पैदा कर दिया कि उनके व्यक्तिगत कानून में दखलंदाजी की जा रही है। राजनीतिज्ञ भी अपने को सत्ता में बनाए रखने के लिए स्थिति का अनुचित लाभ उठाते है। भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिन्दू परिषद् शिव सेना और आर.एस.एस. संगठन हिन्दुओं के समर्थक होने का दावा करते हैं। उसी प्रकार मुस्लिम और मजिलसे–मुशाबारात अपनी धार्मिक समस्याओं की हिमायत करके मुसलमानों को अपने वोट बैंकों की तरह उपयोग करते है। जम्मू और कश्मीर, आंध्र प्रदेश, गुजरात, केरल, उत्तरप्रदेश, बिहार और मुम्बई की साम्प्रदायिक राजनीति इस प्रकार के आचरण के उदाहरण हैं। राजनीतिज्ञ सामाजिक वातावरण को अपनी भड़काने वाले भाषणों, लेखों और प्रयास द्वारा साम्प्रदायिक उन्माद से प्रभावित कर देते हैं। वे मुसलमानों के दिमाग में अविश्वास के बीज बो देते हैं और हिन्दुओं में भी विश्वास हो जाता है कि उन्हें मुसलमानों को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में विशेष रियायतें देने के लिए अनुचित लाभ उठाते हैं और उनकी अपनी प्रथाओं और सस्कारों की विभिन्नताओं को भी उजागर करते हैं। नेतागण व्यक्तियों के मस्तिष्क में भय और संदेह भरने के लिए आर्थिक दलीलों का भी प्रयाग करते हैं और अपने अनुयायियों को थोड़ी–सी छेड़–छाड़ पर दंगा शुरू करने के लिए तैयार करते हैं। ऐसा भिवाड़ी, मुरादाबाद, मेरठ, अहमदाबाद, अलीगढ़ और हैदराबाद में हुआ।

सामाजिक कारक, जैसे मुसलमानों द्वारा परिवार नियोजन के उपायों को नहीं अपनाना भी हिन्दुओं में संदेह और दुर्भावना उत्पन्न करते है। 1982 में विश्व हिन्दू परिषद् ने महाराष्ट्र में पुणे और शोलापुर में पर्चे बाँटे जिसमें मुसलमानों द्वारा परिवार नियोजन कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करने की और बहुविवाह प्रथा का पालन इस उद्देश्य से करने की कि जिससे उनकी जनसंख्या में कथित रूप से वृद्धि हो जाए और वे भारत में मुस्लिम सरकार बना लें, की निन्दा की गई। यह सब प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार राजनैतिक, आर्थिक, सामजिक, धार्मिक और प्रशासनिक कारकों का सम्मिश्रण स्थिति को गंभीर बनाता है जिन कारण साम्प्रदायिक दंगे होते हैं।

## अल्पसंख्यक एवं महिलाएँ

अल्पसंख्यकों की स्पष्ट परिभाषा करना कठिन हैं अल्पसंख्यक से तात्पर्य उन अपेक्षाकृत छोटे समूह के लोगों से है जिनहें बहुसंख्यको के द्वारा शासित या फिर उन पर शासन करने का प्रयास किया जाता है। ये तथ्य अब स्वीकृत है कि जनसंख्या का आकार ही अल्पसख्यको का लक्षण नहीं है। वह समूह अल्पसंख्यक माने जा सकते हैं जिनके साथ धर्म, प्रजाति या संस्कृति के आधार पर भेदभाव का व्यवहार किया जाता है। सामाजिक विज्ञान के अंतर्राष्ट्रीय विश्वकोष द्वारा अल्पसंख्यकों की परिभाषा ऐसे समूहों के रूप में की जाती है जो नकारात्मक अर्थों में धर्म, प्रजाति, राष्ट्रीयता, भाषा के आधार पर समाज के अन्य समूहों से अलग माने जाते हैं।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक शब्द का उपयोग किया गया है, लेकिन कहीं भी इसकी परिभाषा नहीं दी गई है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय इस संदर्भ में सांख्यिकीय मानदंडों पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार जिस समुदाय की जनसंख्या राज्य के 50 प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो, अल्पसंख्यक मानी जाती है। भारतीय संविधान में दो प्रकार के अल्पसख्यक हैं–एक, जो भाषा पर आधारित हैं और दूसरे,

जो धर्म पर आधारित हैं। सन 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या में 82.41 प्रतिशत हिंदू हैं, इसके बाद क्रमशत: मुसलमान (11.67 प्रतिशत), ईसाई 2.32 प्रतिशत;, सिक्ख (1.99 प्रतिशत), बौद्ध (0.77 प्रतिशत), जैन (0.41 प्रतिशत) और अन्य (0.43 प्रतिशत), आते हैं।

अल्पसंख्यक समूह अपने कुछ समान लक्षणों के आधार पर एकजुट होते हैं। अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताओं के संरक्षण की इच्छा एक अल्पसंख्यक समुदाय का अनिवार्य लक्षण होता है। इन समूहों के बीच संगठित होने की प्रवृत्ति का आधार इनकी समान भौतिक परंपरा, भाषा, धार्मिक मत और एक ही वंश से संबंध या फिर इन सबका मिश्रण हो सकता है। उदाहरणस्वरूप भारतीय मुसलमान अपने धर्म के आधार पर हिंदू बहुसंख्यकों से तुलना की दृष्टि से अल्पसंख्यक समूह माने जाते हैं। लेकिन जम्मू और कश्मीर में मुसलमान बहुसंख्यक समूह के रूप में हैं। पृथक् पहचान की आकांक्षा प्राय: राजनीतिक माँग के रूप में अल्पसंख्यकों द्वारा होती है।

## अल्पसंख्यकों का योगदान

यदि भारत में सांस्कृतिक विविधता नहीं होती तो संभवत: उसकी वर्तमान विशिष्टताएँ नहीं होतीं। इस विविधता में अल्पसंख्यक समुदायों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्रता आंदोलन में भी इनकी स्पष्ट भूमिका रही है, संक्षेप में इनके योगदान निम्नलिखित हैं: राजनीतिक क्षेत्र में विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र के राष्ट्रपति से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तक विभिन्न पदों को अल्पसंख्यकों ने प्राप्त किया है।

1. राजनीतिक क्षेत्र में विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र के राष्ट्रपति से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तक विभिन्न पदों को अल्पसंख्यकों ने प्राप्त किया है।
2. पंजाब जो सिक्ख बहुल राज्य है, हरित क्रांति को सफल करने में व गेहूँ के अधिकतम उत्पादन में अग्रणी रहा है।
3. सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अल्पसंख्यकों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उर्दू इसका सबसे प्रमुख उदाहरण है। उर्दू भाषा द्वारा हिंदू एवं इस्लाम धर्म की उत्तम सांस्कृतिक परंपराओं को आत्मसात किया गया है।
4. अनेक मुस्लिम, ईसाई व अन्य अल्पसंख्यक समुदायों ने भी भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध करने में अपना योगदान दिया है। शास्त्रीय संगीत, नृत्य व सिनेमा में भी इनके महत्त्वपूर्ण योगदान देखे जा सकते हैं।
5. भारतीय विज्ञान, पत्रकारिता व खेलों में भी इनकी समृद्धिजनक उपस्थिति देखी जा सकती है।
6. देश के औद्योगीकरण में पारसी समुदाय के लोगों की भूमिका उल्लेखनीय है।
7. राष्ट्रीय हितों के संवर्धन में अल्पसंख्यक समुदायों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार उत्कृष्ट भूमिका निभाई है।

## अल्पसंख्यकों के लिए संवैधनिक प्रावधान

संविधान में अल्पसंख्यकों के लिए अनेक अधिकारों का प्रावधान है। इसके पीछे यह तर्क है कि बहुसंख्यक अपनी संख्या के बल पर अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। लेकिन अल्पसंख्यकों को अतिरिक्त सहायता की जरूरत होती है। संविधान में इनके लिए निम्नलिखित अधिकार सुनिश्चित किए गए है:

1. अनुच्छेद 29(1) के अंतर्गत राज्यों को निर्देश दिया जाता है कि जो समुदाय अपनी संस्कृति का संरक्षण करना चाहते हैं उन पर राज्य द्वारा बहुसंख्यक लोगों की संस्कृति थोपी नहीं जा सकती है। यह प्रावधान धार्मिक अल्पसंख्यक व भाषाई अल्पसंख्यक दोनों के लिए है।
2. अनुच्छेद 350 (ए) राज्यों को निर्देश देता है कि भाषाई अल्पसंख्यकों के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में ही दी जाए।
3. हितों की सुरक्षा के लिए विशेष पदाधिकारियों की नियुक्ति कर उनकी शिकायतों की जाँच की जाए। संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार शिक्षण संस्थानों में नामांकन के लिए धर्म, प्रजाति, जाति या भाषा के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाए।
4. अनुच्छेद 300 (1) अल्पसंख्यकों के मूलभूत अधिकार को तय करता है जिसके अंतर्गत वे अपनी पसंद के शिक्षण संस्थान स्थापित कर सकते हैं एवं चला सकते हैं। उनकी संपत्ति पर बिना क्षति–पूर्ति के राज्य का अतिक्रमण अवांछित है। राज्य शिक्षण संस्थानों को सहायता देने के मामले में अल्पसंख्यक संस्थानों के साथ भेदभाव नहीं कर सकता, चाहे वे संथाएँ धर्म या भाषा के आधार पर ही क्यों न हों। सर्वोच्च न्यायालय ने 1964 में अल्पसंख्यकों के अधिकार का अनुमोदन किया जिसके अनुसार वे अपने विद्यालयों में शिक्षा के माध्यम का चुनाव स्वेच्छा से कर सकते हैं।

सरकार ने पाँच समुदायों जैसे मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध और पारसी को राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता दी है। सन 1978 में 'अल्पसंख्यक आयोग' का गठन किया गया जिसका उद्देश्य संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों के संरक्षण के प्रावधानों के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करना व सुझाव देना था। सन 1993 में 'अल्पसंख्यक आयोग' की जगह 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग– प्रभाव मे आया। इसके अंतर्गत 15 सूत्रीय कार्यक्रम क्रियान्वित कर अल्पसंख्यकों के कल्याणार्थ प्रयत्न प्रारंभ हुए। इसका लक्ष्य अल्पसंख्यकों के कल्याणार्थ प्रयत्न प्रारंभ हुए। इसका लक्ष्य अल्पसंख्यकों के जीवन व संपत्ति की सुरक्षा करना है। यह सार्वजनिक–रोजगार में भी अल्पसंख्यकों को सुविधा देने का विचार करता है और इस प्रकार विकासात्मक कार्यक्रमों एवं वित्तीय लाभ देने में भेदभावमूलक व्यवहार को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त सरकार ने एक 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास व वित्त निगम' की भी स्थापना की जो अलपसंख्यको मे पिछड़े लोगों की आर्थिक व विकासात्मक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के लिए वित्तीय सहयोग देने का प्रावधान करता है।

अनेक सरकारी व गैर–सरकारी प्रयत्नों के बावजूद अल्पसंख्यकों का एक बड़ा हिस्सा अब भी पिछड़ा हुआ है। महाद्वीपीय आयामोंवाले हमारे देश में, अब भी अधिकांश अल्पसंख्यक निरक्षर व वंचित समूह के रूप में हैं। औद्योगिक व तकनीकी विकास का लाभ केवल बहुसंख्यकों तक ही नहीं बल्कि अल्पसंख्यकों तक भी पहुँचाने की आवश्यकता है। आशा है कि अब आर्थिक अवसरों के माध्यम से उनमें आत्मविश्वास और नए दृष्टिकोण का उदय होगा। औद्योगिक व तकनीकी विकास एवं शैक्षणिक विकास से राष्ट्रीय एकीकरण में प्रभावशाली सहयोग मिल सकता है। वैधानिक व्यवस्था व सामाजिक सहयोग इस प्रक्रिया में गति लाएँगे और अल्पसंख्यक राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हो सकेंगे।

## महिलाएँ

भारत सन 1947 में स्वतंत्रा हुआ और सन 1950 में न्याय, स्वतंत्राता, समानता एवं भ्रातृत्व आधारित प्रजातांत्रिक समाज के निमत्राण की घोषणा हुई, लेकिन स्वतंत्राता के 55 वर्षों के बाद भी स्त्रियाँ भारतीय समाज में सबसे कमजोर एवं हाशिए पर स्थित वर्ग मे आती हैं। स्त्रियों की असुरक्षा व उनके प्रति असमानता का बोध सभी हिस्सों जैसे आर्थिक, सामाजिक, जनांकिकीय, स्वास्थ्य, पोषण आदि में होता है और अनेक सामाजिक व आर्थिक तथ्य इसकी पुष्टि करते हैं। समाज में महिलाओं के लिए सम्मान की स्थिति में ह्रास का प्रमाण उनके विरूद्ध बढ़ रही हिंसा व अपराध की घटनाओं से मिलता है। उनकी शक्तिहीनता का अनुमान बलात्कार, दहेज, लिंग अनुपात, पत्नी के शारीरिक उत्पीड़न व स्त्री–भ्रूण हत्या जैसी हिंसा की घटनाओं से लगाया जा सकता है महिलाएँ अपने ही परिवार में निम्न स्थिति में मानी जाती हैं और उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। उनका उत्पीड़न व शोषण जाति व वर्ग के भेद के परे देखा जा सकता है। यहाँ तक कि नव–समृद्ध परिवारों में भी स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन होती हैं। ऐसे परिवारों में उनकी दोहरी पहचान होती है, जैसे एक पहचान परिवार में पुरुषों के अधीन और दूसरी परिवार से बाहर। वैवाहिक स्थिति एवं जनन क्षमता उनहें एक अन्य पहचान देती हैं। विवाहित स्त्रियाँ मातृत्व प्राप्त करने के बाद एक अलग प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं, विशेषकर पुत्र प्राप्ति के बाद। कामकाजी महिलाओं को एक स्वतंत्र व प्रतिष्ठित स्थिति प्राप्त होती हैं, लेकिन वे अपनी परिवारिक भूमिकाओं से मुक्त नहीं होतीं। परिणामस्वरूप उन्हें सभी जगहों पर भूमिका–सघर्ष का सामना करना पड़ता है।

भारतीय समाज में महिलाओं की प्रकृति व प्रस्थिति के संबंध में बहुत अस्पष्टता है। उनकी प्रस्थिति में अंतविरोधी छवियों के दर्शन होते हैं। समाज की मान्यता के अनुसार एक तरफ वे शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं जो भय व श्रद्धा उत्पन्न करता है, दूसरी तरफ अपने सौंदर्य व शील के लिए प्रशंसित होती हैं। पारंपरिक भारतीय समाज में स्त्रियाँ पारिवारिक क्षेत्र में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करती थीं, जबकि सार्वजनिक क्षेत्रों में पुरुष स्वाभाविक रूप से सर्वोच्च माने जाते थे।

भक्ति आंदोलन के काल में महिलाओं की स्थिति में कुछ हद तक सुधार हुआ था। इससे महिलाओं को सामाजिक व धार्मिक स्वतत्रता प्राप्त हुई थी। धार्मिक व सामाजिक सुधार आंदोलनों से स्त्रियों में आत्मविश्वास का संचार हुआ था। ब्रिटिश शासन के दौरान किए गए कुछ सुधारात्मक उपायों से महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन हुआ। यह शिक्षा के प्रसार, सती व बाल–विवाह जैसी कुप्रथाओं के उन्मूलन में संभव हुआ। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यायासागर, एनी बेसेंट और महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों के प्रयत्नों का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान है।

स्वतंत्रता के पश्चात अनेक वैधानिक प्रावधानों द्वारा स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार के सार्थक प्रयास हुए। इनमें विशेष विवाह कानून, 1954, हिंदू विवाह कानून, 1955, हिंदू उत्तराधिकार कानून, 1956 और दहेज प्रथा विरोधी कानून, 1961 महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय संविधान द्वारा 'समानता के अधिकार' को मूल अधिकारों के अंतर्गत रखा गया है।

तथाकथित रूप से निम्न लिंग माने जाने के कारण स्त्रियों को अब भी अनेक सुविधाओं व अधिकारों से वचित किया जाता है। भूमिका–आवंटन के संदर्भ में अब भी स्त्रियों के कार्यक्षेत्र व पुरुषों के कार्यक्षेत्र में पारंपरिक विभेद अपनाया जाता है।

## महिलाओं की वर्तमान स्थिति

स्वतंत्रता के पश्चात् महिलाओं की स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है। इन विकासात्मक उपायों का सर्वाधिक लाभ शिक्षित, नगरीय एवं उच्च आय समूह वाली महिलाओं को मिला। औसत भारतीय महिलाओं का जीवन प्रायः भेदभाव व वंचनाओं के विरूद्ध लंबे युद्ध की तरह है। गरीब भारतीय महिलाओं के जीवन में अनेक व्याधियों व अनेक बच्चों का बोझ देखा जा सकता है। लिंग असमानता की उत्पत्ति तीन मुख्य कारणों से होती है:

1. पुरूष व महिलाओं की आर्थिक भूमिकाओं एवं उसमें अंतर्निहित शक्ति में भिन्नता।
2. स्त्रियों की गतिशीलता व स्वतंत्रता में सांस्कृतिक–पारंपरिक अवरोध।
3. वैवाहिक एवं पारिवारिक व्यवहार।

वर्तमान समाज में स्त्रियों की स्थिति की निर्धारित करने वाले विभिन्न आँकड़ों के विश्लेषण से एक व्यापक चित्रा प्राप्त हो सकता है।

भारत में लिंग अनुपात में पुरुष स्त्रियों की तुलना में अधिक हैं। जनगणना के अनुसार 1000 पुरुषों पर 1901 में 972 महिलाएँ, 1971 में 930 महिलाएँ और 1991 में 927 महिलाएँ थीं। वर्ष 2001 की जनगणना में छः बिंदुओं के सुधार के बाद प्रति हजार पुरूषों पर 933 महिलाओं का अनुपात हुआ। इस प्रकार का प्रतिकूल लिंग अनुपात कुछ विशेष प्रवृत्तियों के कारण से है, जैसे–पुत्र को वरीयता, पुत्रियों के प्रति भेदभव, स्त्री–भ्रूण हत्या, स्त्री–शिशु हत्या। स्त्री शिक्षा का अनुपात पुरुष व औसत राष्ट्रीय शिक्षा अनुपात की तुलना में हमेशा कम रहा है। स्त्री शिक्षा में क्षेत्रिय भिननता के साथ उतार–चढ़ाव दर्ज किया गया है। आमदनी व अन्य आर्थिक संसाधनों तक स्त्रियों की पहुँच व नियंत्रण बहुत कम हैं। उनके काम गौण व बिना परिश्रमिक के रह जाते हैं। अधिकाँश महिलाएं अर्थव्यवस्था के संगठित कार्यक्षेत्रा से बाहर कार्यरत पाई गई हैं। गृहकार्यों में वे पुरुषों की तुलना में ज्यादा श्रम करती हैं। महिलाओं के विरूद्ध हिंसा का सूत्रा उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति में है। पितृवंशीय परिवारों में स्त्रियों का निम्न स्तर, नियम–कानून विहीनता की स्थिति, वैधानिक प्रावधानों को लागू करने में विफलता, उपभोगवाद, पारंपरिक मूल्यों में क्षरण आदि कुछ कारणों से महिलाओं की असुरक्षा में बढ़ोत्तरी हो रही है।

## महिलाओं के लिए संवैधनिक प्रावधान

भारत का संविधान लिंग–समानता को सैद्धांतिक स्तर पर स्वीकार करता है। संविधान की प्रस्तावना में सामजिक–आर्थिक–राजनीतिक न्याय की समानता का विवरण मिलता है। अनुच्छेद 14 के अनुसार विधि के समक्ष सभी समान हैं। अनुच्छेद 15 और 16 लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को रोकता है। अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्यों के लिए निर्देश है कि वे महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान कर सकते हैं, जो समानता के सिद्धांतों के विरूद्ध नहीं माना जाएगा। अनुच्छेद 15 (ए) (इ) भी नागरिकों को मौलिक कर्त्तव्यों का बोध कराता है जिसके अनुसार कोई भी व्यवहार जो स्त्री–प्रतिष्ठा पर आघात करे, वर्जित है। संविधान के निर्देशक सिद्धांत में तीन जगहों पर महिलाओं की चर्चा मिलती है। अनुच्छेद 39 (सी) के अनुसार राज्यों का दायित्व बनता है कि वे ध्यान दें कि स्त्री व पुरुष कामगार की शक्ति व स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाए। इसी अनुच्छेद (39 डी) में प्रावधान है कि राज्य अपनी नीतियों के द्वारा स्त्री व पुरुष कामगारों को समान कार्यों के लिए समान मजदूरी की व्यवस्था करें। अनुच्छेद 112 स्पष्ट करता है कि राज्य प्रसूति अवकाश की भी व्यवस्था करेगा।

### अन्य प्रावधान

महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए राज्यों ने अनेक कानून बनाए हैं। हिंदू विवाह कानून, 1955 के द्वारा तलाक का प्रावधान किया गया है। समान पारिश्रमिक कानून, 1976 के अनुसार महिला व पुरुष मजदूरों के लिए समान कार्य के लिए समान मजदूरी एवं पुरुष या स्त्री के यौन शोषण को संज्ञेय अपराधा माना गया है। दहेज निषेध अधिनियम, 1961 दहेज के अपराध को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके तहत यदि कोई विवाहित स्त्री अपने विवाह के सात सालों के अंदर आत्महत्या करती है और यह साबित होता है कि उसे क्रूर प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा था तो उसके पति व ससुराल के अन्य रिश्तेदारों के लिए दंड की व्यवस्था है। बाल–विवाह प्रतिबंध अधिनियम, 1976 के अनुसार विवाह की उम्र, लड़की के लिए 18 वर्ष व लड़के के लिए 21 वर्ष निश्चित की गई है। मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट, 1971 में स्वास्थ्य के आधार पर गर्भपात को कानूनी मान्यता दी गई है। द इनडीसैंट रिप्रजेंटेशन ऑफ विमन (प्रोहिबिशन) एक्ट, 1986 एवं कमीशन ऑफ सती (प्रीवेंशन) एक्ट, 1987 के द्वारा स्त्री की प्रतिष्ठा को सुरक्षित करने व उनके विरूद्ध हिंसा व शोषण को रोकने के प्रयत्न किए गए हैं।

छठी पँचवर्षीय योजनाओं में स्त्रियों की आर्थिक भूमिका पर बदल दिया गया है। इसमें स्त्रियों के महत्त्वपूर्ण मुद्दों जैसे–स्वास्थ्य शिक्षा एवं रोजगार को भी देखा गया है। महिला–कल्याण संबंधी नीतियों में सैद्धांतिक परिवर्तन आते रहे हैं। 70 के दशक में कल्याण पर, 80 दशक में विकास पर और 90 के दशक में सशक्तीकरण पर बल दिया जाता रहा है। प्रस्तावित महिला आरक्षण विधेयक के द्वारा महिलाओं को विधायिका में 33 प्रतिशत आरक्षण देने का लक्ष्य रखा गया है। स्पष्ट रूप से समझने वाला तथ्य है कि केवल संवैधानिक प्रावधानों से महिलाओं की सामाजिक स्थिति में संतोषजनक सुधार संभव नहीं है। उन्हें विकास की प्रक्रिया में सहभागिता देने की भी आवश्यकता है। उन्हें राजकीय व सामाजिक मामलों में भी भागीदारी मिलनी चाहिए। उससे भी बढ़कर यह जरूरी है कि महिलाओं के संदर्भ में और उसके सशक्तीकरण के विषय पर हम अपने दृष्टिकोण में सकारात्मक परिवर्तन लाएं।

## पिछड़ी जातियाँ, जन–जातियाँ और वर्ग (Backward Castes, Tribes and Classes)

भारत में अधिकारहीन व्यक्तियों की प्रस्थिति में, विशेषकर जन–जातियों और उन जातियों और वर्गों में, जिन्हें जन्म के संयोग से नीचा दर्जा दिया गया है, सुधार लाना किसी भी सरकार का, जो प्रजातन्त्र के प्रति वचनबद्ध है, एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिए। भारत का संविधान अनुसूचित जातियों और जनजातियों और दूसरे पिछड़े वर्गों को इस उद्देश्य से संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करता है जिससे उनकी सामाजिक निर्योग्यताएँ हटाई जा सकें और उनके विविध अधिकारों को बढ़ावा मिल सके। प्रमुख सुरक्षाएँ ये हैं: अस्पृश्यता का उन्मूलन, सामाजिक अन्याय और विभिन्न प्रकार के शोषण से सुरक्षा, धार्मिक संस्थाओं में जाने की सभी समूहों को छूट, दुकानों, रेस्तरां, कुँए, तालाब और सड़कों पर जाने के प्रतिबन्ध को हटाना, स्वतन्त्रता से घूमने और सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार देना, शिक्षण संस्थाओं में भर्ती होने का अधिकार देना, राजकीय कोष से अनुदान मिलना, नौकरियों में उनके लिए आरक्षण के लिए राज्य की अनुमति, लोकसभा और राज्य की विधान सभाओं में विशेष प्रतिनिधित्व देना, उनके कल्याण को बढ़ावा देने और उनके हितों की रक्षा के लिए अलग से विभाग और परामर्श समितियां स्थापित करना, बेगार का उन्मूलन, और अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और नियंत्रण के लिए विशेष व्यवस्था।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों की सुरक्षा के लिए एक कमीशन का गठन भी किया गया है। इसका नाम अब "नेशनल कमीशन फॉर शेड्यूल्ड कास्ट्स एन्ड शेड्यूल्ड ट्राइब्स" रख दिया गया है। वह अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विकास से सम्बन्धित विषयों और नीतियों के बारे में परामर्श संस्था की तरह कार्य करता है। इसमें सामाजिक कार्य और दूसरे सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं। नेशनल कमीशन के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं:

1. अस्पृश्यता के विस्तार और उससे उपजता हुआ सामाजिक भेदभाव और मौजूदा उपायों के प्रभावों का अध्ययन।
2. सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों, जिनके कारण अनुसूचित जातियों और जनजातियों के व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध होते हैं, का अध्ययन।
3. अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि इन समूहों का समाज की मुख्यधारा में एकीकरण हो जाय।

नेशनल कमीशन में एक अध्यक्ष और ग्यारह सदस्य होते हैं। इसका कार्यकाल तीन वर्ष है।

### अनुसूचित जनजातियाँ (The Scheduled Tribes)

#### जनजातियों की संख्या (The Tribal Strength)

भारत की जनजाति संख्या जो 1981 की जनगणना के अनुसार 5.38 करोड़ थी, 1991 में बढ़कर 6.77 करोड़ हो गई। यह इंग्लैंड की जनसंख्या के लगभग बराबर है। देश की संपूर्ण जनसंख्या की 8.08 जनजातियां हैं (जबकि 1981 में यह 7.83 थी) मैनपावर प्रोफाइल, इन्डिया, 1998:34)। यह अफ्रीका के बाद भारत में पूरे विश्व की दूसरी सबसे बड़ी जनजाति की संख्या है। 1981–91 में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या अन्य खण्डों की तुलना में बढ़ी है। जब जनसंख्या की कुल वृद्धि देश में इस दशक में 23.79 बढ़ी, अनुसचित जनजातियों की संख्या 25.67 बढ़ी। सर्वाधिक वृद्धि केरल में हुई और तत्पश्चात् गुजरात और राजस्थान में। 12 राज्यों में इनकी संख्या बढ़ी, 12 में यह घट गई और एक में स्थिर रही (वही : 35)।

जनजातियाँ भारत के प्रत्येक भाग में फैली हुई हैं। वे संख्या में कुछ सौ से लेकर कई लाख तक घटती बढ़ती है। सर्वाधिक जनजातीय सख्या (लगभग 154 लाख) मध्य प्रदेश में है और उसके बाद महाराष्ट्र (73.2 लाख), उड़ीसा (70.3 लाख), बिहार (66.2 लाख), राजस्थान (54.7 लाख), पश्चिम बंगाल (38.1 लाख), आन्ध्रप्रदेश (42.0 लाख), असम (28.7 लाख) व मेघालय

(15.1 लाख) में हैं। नागालैण्ड (10.6 लाख, अरूणाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मनीपुर, मिजोरम व उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या तीन लाख और आठ लाख के बीच है। देश की पूरी जनजातीय संख्या की आधी संख्या (53.7%) चार राज्यों में मिलती है। यदि जनजातीय संख्या राज्य की कुल जनसंख्या के अनुपात में देखें तो मिजोरम में यह 94.7% है, नागालैण्ड में 87.7:, मेद्यालय 85.5: अरूणाचल प्रदेश में 63.6% त्रिपुरा में 30-9%, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में 23%, गुजरात में 14.9% राजस्थान में 12% तथा असम 12.8% व बिहार में लगभग 7.6%। इस प्रकार तीन राज्य ऐसे हैं। जहाँ जनजातीय संख्या राज्य की कुल जनसंख्या से 85: से ऊपर है (वही : 35)।

जनजातियों की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ ये हैं कि उनमें से अधिकांश पृथक् भूभागों में रहते हैं, उनकी आजीविका के प्रमुख स्रोत कृषि और वन उत्पादनों को एकत्रित करना है, वे लाभ के लिए खेती नहीं करते, वे अभी भी वस्तु–विनिमय (barter) पर निर्भर रहते हैं, वे अपनी आमदनी का अधिक भाग सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर व्यय करते हैं, और बड़ी संख्या में वे निरक्षर हैं और बेईमान जंगल के ठेकेदारों और साहूकारों द्वारा सताए जाते हैं।

## जनजाति शोषण और असंतोष (Tribal Exploitation and Unrest)

सदियों से जनजातियाँ भारतीय समाज का एक असभ्य भाग समझी जाती हैं। जनजातियों के लोग जंगलों में और पहाड़ियों पर रहते थे और उनका अपने तथाकथित सभ्य और विकसित पड़ोसियों से सम्पर्क आकस्मिक से अधिक नहीं था। चूँकि जनसंख्या के दबाव नहीं थे, इसलिए उनके क्षेत्रों में घुसने का और उन पर बाहरी मूल्य और विश्वास थोपने का कोई प्रयास नहीं किया गया। परन्तु जब अंग्रेजों ने देश में अपनी स्थिति को संगठित किया तो उनके उपनिवेशीय आकांक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक हो गया कि पूरे देश को एक प्रभावी संचार व्यवस्था से जोड़ दिया जाए। अंग्रेजों ने भूस्वामित्व और भूराजस्व की प्रणाली का आरंभ किया। वार्षिक करों को तिगुना कर दिया गया जो कि जनजाति के किसानों की भुगतान क्षमता से परे था। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण कई बाहर के व्यक्ति भी जनजाति क्षेत्रों में बसने लगे। अपने पैसे की व्यक्ति से वे ऋण की सुविधा लोगों को घर बैठे उपलब्ध कराने लगे। प्रारम्भ में इसने जनजातियों को राहत पहुँचाई परन्तु धीरे–धीरे यह प्रणाली शोषण करने लगी। कानून की नई–नई खुली कचहरियों ने शोषकों की सहायता की। पहले आर्थिक और बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने शोषकों की सहायता की। पहले आर्थिक और बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने जनजातियों के नेताओं को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने जनजातियों के लोगों को संगठित कर आंदोलन आरंभ किया। वंचना (deprivation) की भावनाओं के बढ़ने से जनआन्दोलन और संघर्ष भी बढ़े। प्रारम्भ में वे शोषण करने वालों और उनके अधिकारों को हड़पने वालों के विरूद्ध थे, परन्तु अन्त में वे सरकार और शासकों के विरूद्ध हो गए।

जनजाति अशान्ति और असंतोष इस प्रकार कई उत्तरदायी कारकों का संचित (cumulative) परिणाम था। इसके प्रमुख कारण थे:

1. अकर्मण्यता, उदासीनता और प्रशासकों और अफसरों में जनजाति लोगों की शिकायतों को दूर करने में सहानुभूति का अभाव।
2. जंगल के कानूनों और नियमों का कठोरपन।
3. जनजाति के लोगों की जमीनों को अजनजाति के व्यक्तियों के कब्जे में जाने की रोक के लिए कोई कानून नहीं होना।
4. ऋण की सुविधाओं का अभाव।
5. जनजाति के लोगों के पुनर्वास के लिए सरकारी कार्यवाही में अकुशलता।
6. जनजाति समस्याओं को हल करने में राजनीतिक अभिजनों में अभिरुचि और सक्रियता का अभाव।
7. उच्चस्तरीय समितिओं की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में विलम्ब।
8. सुधारक (reformatory) उपायों की कार्यान्वित में पक्षपात।

संक्षेप में जनजाति अशान्ति के कारणों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कहा जा सकता है।

## जनजाति समस्याएँ (Tribal Problems)

जनजाति के व्यक्ति जिन प्रमुख समस्याओं का सामना करते हैं, वे हैं:

1. उनके पास अलाभकर जमीनें होती हैं जिससे उनकी पैदावार कम होती है और इस कारण वे कर्जे में डूबे रहते हैं।
2. जनसंख्या का केवल एक छोटा सा प्रतिशत ही व्यावसायिक गतिविधियों के द्वितीय एवं तृतीय क्षेत्रों में भाग लेता है।

3. आदिवासी क्षेत्रों में जमीन का काफी बड़ा हिस्सा कानून के जरिए गैर–आदिवासियों को हस्तान्तरित कर दिया गया है। आदिवासियों की माँग है कि ये जमीन उन्हें वापस की जाए। दरअसल में आदिवासी जंगल का उपयोग करने और उसके जानवरों का शिकार करने में अधिक स्वतंत्र थे। जंगल उन्हें न केवल मकान बनाने के लिए सामग्री उपलब्ध कराते हैं बल्कि उन्हें ईधन, बीमारियों को ठीक करने के लिए जड़ी बूटियाँ, फल, जंगली शिकार इत्यादि भी देते हैं। उनका धर्म उन्हें विश्वास दिलाता है कि उनकी कई आत्माएँ (वन देवता और वन देवी) पेड़ों और जंगलों में रहती हैं। उनकी लोकगाथाओं में मानवों और आत्माओं के संबंधों का प्राय वर्णन मिलता है। इस प्रकार के वन के प्रति भौतिक और भावनात्मक लगाव के कारण आदिवासी ने सरकार द्वारा उनके पारंपरिक अधिकारों पर लगाए गए अंकुशों पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की है।

- जनजाति विकास कार्यक्रमों ने आदिवासियों के आर्थिक स्तर को उठाने में अधिक सहायता नहीं की। अंग्रेजों की नीति ने आदिवासियों का कई प्रकार से भीषण शोषण किया क्योंकि उसने जमींदारों, भूस्वामियों, साहूकारों, जंगल के ठेकेदारों और आबकारी, राजस्व और पुलिस अधिकारियों का पक्ष लिया।
- बैंकिंग सुविधाएँ आदिवासी क्षेत्रों में इतनी अपर्याप्त हैं कि आदिवासियों को प्रमुखतया साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिवासियों की इसलिए यह माँग है कि कृषि ऋण राहत कानून बनाए जाए जिससे कि उन्हें उनकी गिरवी रखी हुई जमीन वापस मिल सके।
- आदिवासियों में से 90% खेती करते हैं और उनमें से अधिकांश भूमिहीन हैं और स्थान बदल बदलकर स्थानान्तरित कृषि करते हैं। उन्हें खेती के नए तरीके अपनाने में मदद करनी चाहिये।
- बेरोजगार और अल्प–रोजगार वाले व्यक्तियों की आय के अनुपूरक स्त्रोतों का पता लगाने में सहायता की आवश्यकता है, जैसे पशुपालन, मुर्गीपालन, हाथकरघा बुनाई और दस्तकारी क्षेत्र का विकास।
- अधिकांश आदिवासी बहुत कम जनसंख्या वाली पहाड़ियों पर रहते हैं और आदिवासी क्षेत्रों में सचार और यातायात बहुत कठिन होते हैं। इसलिए आदिवासियों को कस्बों और शहरों से दूर एकाकी जीवन जीने से रोकने के लिए नई सड़कों का जाल बनाना चाहिए।
- आदिवासियों का इसाई मिशनरी शोषण करते हैं। कई आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश काल में व्यापक धर्म परिवर्तन हुआ था। यद्यपि मिशनरी आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के क्षेत्र में अग्रगामी रहे हैं और उन्होंने अस्पताल भी खोले हैं परन्तु वे आदिवासियों को अपनी सस्कृति से विमुख करने के भी उत्तरदायी हैं। इसाई मिशनरियों ने कई बार उन्हें भारत सरकार के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए भी भड़काया है।

आदिवासियों और गैर–आदिवासियों के बीच सम्बन्ध बिगड़ रहे हैं और गैर–आदिवासी अपनी सुरक्षा हेतु अधिकाधिक रूप से अर्द्धसैनिक बलों पर निर्भर हो रहे हैं। आदिवासियों के लिए पृथक् राज्यों की माँग ने मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर, अरूणाचल प्रदेश और त्रिपुरा में विद्रोह का रूप ग्रहण कर लिया है। पड़ोसी देश, जो भारत के विरूद्ध हैं, इन भारत विरोधी भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने में सक्रिय हैं। इन राज्यों में जो आदिवासी क्षेत्रों से घिरे हुए हैं विदेशी नागरिकों की घुसपैठ, बन्दूकों की तस्करी, मादक पदार्थों का व्यापार और तस्करी बहुत बहुत भीषण समस्याएँ हैं।

संक्षेप में, आदिवासियों की प्रमुख समस्याएँ हैः निर्धनता, ऋण, निरक्षरता, बंधुआपन, बीमारी, और बेरोजगारी।

## जनजाति संघर्ष (Tribal Struggles)

आदिवासियों ने कई विद्रोह किए हैं। इनका पहला विद्रोह 1772 में बिहार में हुआ और उसके बाद कई विद्रोह आन्ध्रप्रदेश, अडमान और निकोबार द्वीपों, अरूणाचल प्रदेश, असम, मिजोरम, और नागालैंड में हुए। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में विद्रोह करने में महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ थी : मीजो (1810), कोल (1975 और 1831) मुंडा (1889) दफलास (1875), खासी और गारो (1829) बचारी 91839), सन्थाल (1853), मुड़िया गोन्ड (1886), नागा (1844 और 1879), भुइया 91868) और कौंध (1817)।

स्वतंत्रता के पश्चात् हुए जनजातियों के संघर्षों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है : (1) संघर्ष जो बाहर के व्यक्तियों के द्वारा शोषण से हुए (जैसे कि संथालों और मुंडों के), (2) संघर्ष जो कि आर्थिक वंचन (deprivation) के कारण हुए (जैसे कि मध्य प्रदेश में गोंडों का और आन्ध्र प्रदेश में महरों का), और (3) संघर्ष जो कि अलगाववादी प्रवृत्तियों के कारण हुए (जैसे कि नागाओं ओर मिजो के)।

जनजाति आन्दोलनों को उनकी अभिमुखता (orientation) के आधार पर चार प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है (1) आन्दोलन जो राजनीतिक स्वायत्तता और एक राज्य की रचना चाहते हैं (नागा, मिजो और झाड़खंड), (2) कृषि–संबंधित आन्दोलन (3) जगलों पर

आधारित आन्दोलन और (4) सामाजिक–धार्मिक या सामाजिक–सांस्कृतिक आन्दोलन (भगत आन्दोलन, दक्षिण गुजरात की जनजातियों का आन्दोलन या सन्थालों का रघुनाथ मुर्मी का आन्दोलन)।

यदि हम सभी जनजातियों के आन्दोलनों को देखें जिनमें नागाओं की क्रान्ति (जो 1948 में प्रारम्भ हुई और 1972 तक चली जब कि नई चुनी हुई सरकार सत्ता में आई और नागा विद्रोह नियन्त्रित हुआ), मीजोओं के आन्दोलन (गुरिल्ला युद्ध जो अप्रैल 1970 में मेघालय राज्य के बनने के बाद समाप्त हुआ और जिसे 1972 में असम और मीजोरम में से बनाया गया), गौंड (Gound) राज आन्दोलन (मध्यप्रदेश में गोन्ड और भीलों का), और जंगलों पर आधारित आन्दोलन (बिहार, पश्चिम बंगाल, आन्ध्रप्रदेश और असम की जनजातियों का), कृषि–संबंधी आन्दोलन (मध्यप्रदेश में गोन्ड और भीलों का), और जंगलों पर आधारित आन्दोलन(गोन्डों का जंगलों में अपने प्रथागत अधिकारों को प्राप्त करने के लिए), तो यह कहा जा सकता है कि जनजाति अशान्ति और उसके परिणामस्वरूप होने वाले आन्दोलन प्रमुख रूप से मुक्ति प्राप्त करने के लिए हुए। यह मुक्ति थी (i) अत्याचार और पक्षपात से, (ii) उपेक्षा और पिछड़ेपन से, और (iii) ऐसी सरकार से जो कि जनजातियों की निर्धनता, भूख, बेरोजगारी और शोषण की दुर्दशा के प्रति कठोर हृदय रखती थी।

जनजाति के शोषण के तीन उदाहरण उनके संघर्षों के कारण पर प्रकाश डालने के लिए दिए जा सकते हैं। स्वतंत्राता के समय एक सरकारी आदेश हुआ करता था जिसके अन्तर्गत जमीनों के सभी सौदे जनजातियों के पक्ष में ही होते थे। 1974 में तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने एक आदेश निकाला जिसने गैर–आदिवासियों को उस क्षेत्र में 15 एकड़ जमीन (5 पानी वाली और 10 सूखी) के स्वामित्व की अनुमति दी। इस आदेश के पश्चात् गैर–आदिवासी लोगों ने आदिवासी जमीन का एक बड़ा हिस्सा अपने कब्जे में कर लिया। आदिवासी दावा करते हैं कि 30,000 एकड़ जमीन 1974 और 1984 के बीच गैर–आदिवासियों के पास चली गई। इस काल में भूमि विवाद के 2000 मुकदमें कचहरियों में दर्ज हुए और 400 आदिवासियों को सजा हो गई। तेलगुदेशम सरकार ने 1984 में कांग्रेस सरकार के आदेश को रद्द कर दिया जिसके कारण गैर–आदिवासीयों ने प्रतिक्षात्मक रूख अपना लिया। जनजातियों को कट्टरवादियों ने गैर–आदिवासियों सामन्तवर्गों के विरुद्ध संगठित कर दिया। गोन्ड (आदिवासी) और गैर–आदिवासियों की कपास और जवार की खड़ी फसल को उठा ले गए। गैर–आदिवासियों ने इस पर लड़ाई की और आदिवासियों की झोपड़ियों को आग लगा दी, उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार किया, कई लोगों को मार डाला और उन्हें दास–श्रम करने के लिए बाध्य किया। एक दूसरी घटना में 40 आदिवासियों को 250 गैर–आदिवासियों ने पकड़ लिया और रातभर पीटने के बाद उन्हें पुलिस के सुपुर्द कर दिया। इसके अलावा एक और घटना में 21 गैर–आदिवासी जंगल से ईंधन की लकड़ी चुराते हुए आदिवासियों द्वारा पकड़े गए, वे उन्हें अपने गाँव ले गए और जब तक पुलिस ने उन्हें नहीं छुड़ाया उनको बंदी बनाए रखा।

एक दूसरे मामले में 10 मार्च, 1984 को गोन्ड लोगों ने आंध्रप्रदेश के अदिलाबाद जिले में कैसलापुर स्थान पर एक मंदिर की छत पर एक झंडा फहराया। कुछ ने उसे धार्मिक झंडा बतलाया और कुछ ने उसे विद्रोह का झंडा माना। पुलिस उस स्थान पर चार जीपों और दो वैनों में पहुँची। जब वह वहीं से गई उस समय तक 40 व्यक्ति ज़ख्मी हो चुके थे और 70 को गिरफतार कर लिया गया था। उसका दावा था कि ''नक्सलियों के आदेश पर आदिवासियों द्वारा किए गए विद्रोह को दबा दिया गया है।'' क्या वास्तव में यह विद्रोह था या केवल असंतोष का भड़कना?

तीसरा मामला एक जनजाति सम्मेलन का है जो महाराष्ट्र में नागपुर के पास विदर्भ क्षेत्र में 25–26 फरवरी 1984 को आयोजित किया गया था। सम्मेलन का स्थान बहुत छोटा गाँव कमलपुर था जिसकी जनसंख्या लगभग 1000 थी। सम्मेलन में 20,000 व्यक्तियों के आने की आशा थी। उसका उदघाटन नागपुर हाईकोर्ट बार एसोसियेशन के अध्यक्ष को करना था और सभापतित्व विजय तेंदुलकर (उपन्यासकार), तपन बोस (फिल्म निर्देशक) और सुहासिनी (सिने कालाकार) जैसे व्यक्तियों को करना था। सम्मेलन के दो दिन पहले उस स्थान को सारे मार्गों को सील कर दिया गया, 1000 व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया गया और निषेधाज्ञा जारी कर पाँच या उससे अधिक व्यक्तियों के जमा होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। रोचक चीज यह थी कि जिन व्यक्तियों को गिरफतार किया गया था उन पर इस तरह के आरोप थे जैसे आपत्तिजनक साहित्य उनके पास होना, जंगलों में पेड़ों को गिराना और वन सम्पदा की चोरी करना (आउटलुक, 7 अप्रैल, 1984:29)। स्वागत समिति के अध्यक्ष को वन सम्पदा की चोरी के आरोप में गिरफतार कर लिया गया। उसे मजिस्ट्रेट ने रिहा कर दिया परन्तु बाद में उसे किसी दूसरे आरोप में पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे जो गिरफतार किए गए उनमें संगीता थे जिन्हें सम्मेलन में कला प्रदर्शन करना था और मुम्बई, हैदराबाद और मद्रास के विद्यार्थी संगठनों के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार से जो एक अहानिकर सम्मेलन के रूप में समाप्त हो जाता जिसमें अधिकाधिक कुछ जोशीले भाषण हो जाते, उसे एक बड़ी घटना में परिवर्तित कर दिया गया और सभास्थल को एक युद्ध–शिविर का रूप दे दिया गया।

यह सब उदाहरण आदिवासियों की कुण्ठाओं को प्रदर्शित करते हैं। जब कानून उनकी सहायता नहीं करता, सरकार कठोर–हृदय रखती है और पुलिस उनहें सुरक्षा प्रदान करने में असफल रहती है और उन्हें तंग करती है तो वे शोषकों के विरुद्ध हथियार उठा लेते हैं। ये संघर्ष और आन्दोलन यह इंगित करते हैं कि आदिवासी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दो रास्ते अपनाते हैं: (अ) सरकार के साथ समझौता और बातचीत का अहिंसा का रास्ता और बिना हिंसा/क्रान्ति को अपनाए विभिन्न प्रकार के दबाव डालने वाले संघर्ष करना, और (ब) क्रान्ति और जन–संघर्ष का उग्रवादी मार्ग जो कि शोषित/उत्पीड़ित आदिवासियों के सतर की युद्ध करने की क्षमता के विकास पर निर्भर है। इन दोनो मार्गों के परिणाम भिन्न हैं। पहला ऐसा संघर्ष है जो सुधार लाता है जब कि दूसरा समुदाय के ढाँचे को परिवर्तित करता है। आदिवासी समस्याओं से ग्रसित चल रहे हैं और अभी भी असन्तुष्ट और वंचित महसूस करते हैं, ये इस बात को दर्शाता है कि दोनों ही मार्गों ने उनकी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता नहीं की है।

## अनुसूचित जातियाँ (The Schedule Castes)

### आदि (प्राचीन) साहित्य में दलित (Sudras In Early Literature)

दलित (शूद्र) कौन हैं और कब से तथा किन कारणों से उनकी पतन की स्थिति बनी। वैदिक साहित्य जिसमें वेद, 'ब्राह्मण', 'अरण्यक', पूर्व उपनिषद्' आदि हैं, में ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जाए कि शूद्र जाति पूर्व या आदि काल में विद्यमान थी। ऋग्वेद (द्वितीय शताब्दी या लगभग 1500 ई.पू.) में आर्यों में केवल तीन जातियों–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'शूद्र जाति' की रचना आर्यों द्वारा ऋग्वेद के अंतिम चरण में की गई (काम्बले, 1979:8)। फिर भी दत्त (1931) और आप्टे (1954) जैसे विद्वान भी हैं जो यह मानते हैं कि 'शूद्र वर्ग' ऋग्वेद में भी ज्ञात थे। यदि 'शूद्र' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता तो इसका अर्थ नहीं है कि शूद्र नहीं थे। 'ब्राह्मण' में कई बार 'शूद्र' का उल्लेख ब्राह्मणों के साथ मिलता है, क्षत्रिय और वैश्यों का भी उल्लेख है, यह सब इण्डोआर्यन समाज के अभिन्न अंग थे। 'ब्राह्मण' के मूल ग्रन्थ में शूद्रों (दास) को निम्नतम स्थान प्रदान किया गया और उन्हे ब्राह्मणा के बलि धर्म (sacrificial religion) से पृथक् ही माना गया। ऐसा संभवत: इसलिए है कि वे आर्यों से प्रजाति एवं संस्कृति में भिन्न थे और जहाँ तक उनके धर्म का संबंध था वे उनके बिल्कुल विपरीत भी थे। काम्बले (Kamble) के अनुसार वे न केवल आर्यों के देवताओ का विरोध करते थे, बल्कि वे 'बलि' भी नहीं देते थे और न ही पुरोहितों को भेंट आदि ही देते थे। इन दासों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग आर्यों ने किया वे हैं: 'अन्यवृत', 'अंश', 'मृर्ध्वक'। इस प्रकार सामाजिक विशेषाधिकारों एवं धार्मिक अधिकारों के विषय में शूद्रों को निम्नतम स्थान प्रदान किया गया था। वे न तो 'यज्ञ' कर सकते थे, न ही 'बलि' दे सकते थे। उनको घृणित, अपवित्र और अशुद्ध जीव माना जाता था जिनके स्पर्श से संस्कार अपवित्र हो जाने का भय था। (काम्बले, वहीं 97)। धुर्ये ने भी कहा है कि जहाँ तक धार्मिक एवं सांस्कारिक जीवन का सबंध था, वैदिक युग में केवल प्रथम तीन 'व्यवस्थाओं' को मान्यता प्राप्त थी। शूद्रों को आर्यों की धार्मिक प्रथाओं का पालन करने से व्यवस्थित ढंग से रोक दिया गया था (1961:214–15)।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शूद्र अस्पृश्य माने जाते थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि यज्ञ में एक बढ़ई का स्पर्श भी अपवित्र होता था और इसे पवित्र करने के लिए जल छिड़कने की आवश्यकता होती थी और बढ़ई निश्चित रूप से अस्पृश्य नहीं थे। शूद्रों के अस्पृश्य होने का विचार सम्भवत: 'सूत्र' काल में विकसित हुआ।

यद्यपि ऐसे विद्वान भी हैं जो यह विचार स्वीकार नहीं करते कि आर्य 'बलि' (sacrifice) में शूद्रों का कोई स्थान नहीं था, अथवा वे यज्ञ में भाग नहीं लेते थे। उन्होंने ऐसे उदाहरण भी दिए हैं जिनमें शूद्रों ने यज्ञ किए हैं (जैसे महाव्रत या उपनयन के संस्कार)। लेकिन विद्वानो ने शूद्रो के निम्न स्थान को स्वीकार किया है।

अस्पृश्यता के पीछे अपवित्रता (polution) का विचार है। पवित्रता के विचार के संदर्भ में धुर्ये (1968:216) ने कहा है "800 ई.पू. न केवल घृणित व पतित 'चंडालों' में, बल्कि समाज की चतुर्थ व्यवस्था शूद्रों में भी सांस्कारिक पवित्रता एवं इसका कार्य रूप प्रचलन में था। अम्बेडकर की मान्यता है (1948) कि जब अशुद्ध (impure) एक वर्ग के रूप में 'धर्म सूत्रों' के काल में अस्तित्व में आया तब अस्पृश्य वर्ग 400 A.D. के काफी बाद में उत्पन्न हुआ। अम्बेडकर ने आगे भी कहा है: "यदि मानव विज्ञान ऐसा विज्ञान है जिस पर लोगों की प्रजाति निर्धारण के लिए निर्भर किया जा सकता है तब तो हिन्दू समाज के विविध स्तरों (strata) पर मानवमिति (Anthropometry) का अनुप्रयोग (application) यह असिद्ध (disprove) करता है कि अस्पृश्य व्यक्ति आर्य एवं द्रविड़ प्रजातियों से भिन्न प्रजाति के सदस्य थे। ब्राह्मण और शूद्र एक ही प्रजाति से सम्बद्ध है। (वही: 62)।" हट्टन (Caste in India, 1961:207) का विचार है कि बाह्य जातिया (exterior castes) की स्थिति का जन्म थोड़ा प्रजातीय, थोड़ा धार्मिक तथा कुछ सामाजिक रिवाजो का प्रतिफल है।

शूद्रों की निम्न आर्थिक स्थिति भी यही दर्शाती है कि समाज के संस्तरण में उनकी निम्न स्थिति थी। ऐसे उदाहरण कम हैं जहाँ शूद्रों के पास पशुधन या धन सम्पत्ति रही हो। अधिकतर वे लोग भूमिहीन खेतिहर मजदूर या घरेलू नौकरों की तरह काम करते थे। एक सूत्र में उल्लेख है, ''शूद्रों को अपना निर्वाह केवल उच्च वर्गों की सेवा करके करना पड़ता है।''

हिन्दू साहित्य में देवी देवताओं की भक्ति प्रभु द्वारा मुक्ति पर बल दिया गया है। 'कर्म' और 'धर्म' का विचार निम्न जातियों को नियंत्रण में रखने के लिए एक सुविधाजनक विचार था। यह कहा गया कि हो सकता है वे इस जीवन में कष्ट भोगें, लेकिन धर्म के आचरण से वे अगले जीवन में लाभ उठाएँ। अतः उत्तरदायित्व व्यक्ति पर है न कि समाज पर। व्यक्तिगत मुक्ति पर बल देने को व्यक्ति को महत्त्व प्राप्त होता था जो कि वास्तविक जगत में असंभव था, अतः इसीलिए वह व्यक्तिगत स्तर पर शान्त और निष्क्रिय बना रहता था। लेकिन 'कर्म' का अर्थ निम्न जाति समूहों को स्वीकार्य नहीं है जो कि पुनर्जन्म के विचार का तो समर्थन करते हैं लेकिन वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि गत जीवन के बुरे कार्यों के कारण उनका जन्म निम्न जाति में हुआ है।

उपरोक्त विवेचन अनेक तथ्यों की ओर संकेत करता है: (1) शूद्र अनार्य थे और शूद्र शब्द को 'वर्ण' के अर्थ में नहीं समझा जाता था; (2) उनकी प्रस्थिति धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आदि काल से ही अर्थात ई.पू. प्रथम शताब्दी से ही निम्न थी; (3) आदिकालों (वेद, ब्राह्मण व सूत्र) में वे अस्पृश्य नहीं थे; (4) भारतीय सामाजिक इतिहास में शूद्रों के जन्म (मूल) की समस्या एक रहस्य है तथा एक उलझी हुई पहेली है; और (5) पवित्रता (purity) का विचार ही चाहे व्यावसायिक या सांस्कारिक—ब्राह्मण काल से अस्पृश्यता के विचार एवं प्रचलन का आधार रहा है।

## अनुसूचित जातियाँ (The Scheduled Castes)

'अनुसूचित जाति' शब्द साइमन कमीशन द्वारा 1935 में प्रयोग किया गया था जो कि अस्पृश्य लोगों के लिए प्रयोग में लाया गया। अम्बेडकर के अनुसार आदिकालीन भारत में इन्हें 'भग्न पुरुष' (broken men) या 'बाह्य–जाति' (out castes) माना जाता था। अंग्रेज उन्हें 'दलित वर्ग' (depressed class) कहते थे। 1931 की जनगणना में उन्हें 'बाहरी जाति' (exterior caste) के रूप में वर्गीकृत किया गया था। महात्मा गांधी ने उन्हें 'हरिजन' (ईश्वर के बालक) की संज्ञा से पुकारा। अस्पृश्य जाति में शिक्षित लोगों ने इस नामकरण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे सोचते थे कि 'हरि के जन' कहकर असमानता को जन्म देने वाली व्यवस्था को समाप्त करने की अपेक्षा उनकी दशा में सुधार लाने के प्रयत्न किए जा रहे थे (Roy Burman, 1977:82)। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी साइमन कमीशन द्वारा गढ़े गए शब्द का प्रयोग किया।

साइमन कमीशन ने किसी जाति को अनुसूचित जाति में सम्मिलित करने के लिए 13 आधार बताए हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

1. क्या वह जाति उच्च जाति को अपने स्पर्श या निकटता से अपवित्र करती है?
2. क्या वह जाति मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकती?
3. क्या वह जाति स्कूलों, कुओं और अन्य सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग से वंचित की जाती है?
4. क्या उस जाति के लिए ब्राह्मण पुरोहित का कार्य कर सकते हैं?
5. क्या उस जाति के लिए धोबी, दर्जी, नाई, कहार आदि कार्य कर सकते है?
6. क्या वह जाति ऐसी है जिसके हाथ से हिन्दू पानी ले सकता है?
7. क्या उस जाति का शिक्षित व्यति सामान्य सामाजिक आदान–प्रदान में उच्च जाति के व्यक्ति के द्वारा समान समझा जाएगा?
8. क्या वह जाति अपने ही अज्ञान, अशिक्षा व गरीबी के कारण 'दलित' है और क्या इनके (अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी) न होने से वह सामाजिक रूप से निर्योग्य नहीं हो सकती?
9. क्या वह जाति अपने व्यवसाय के कारण 'दलित' मानी जाती है?

अनुसूचित जातियों की सूची में कुछ प्रमुख जातियाँ हैं: चुहड़ा, भंगी, चमार, डोम, पासी, रैगर, मोची, राजबन्सी, दोसड़, शानन्, थियान, पेरेयां तथा कोरी।

## अनुसूचित जातियों की शक्ति (The Strength of Scheduled Castes)

1935 में अनुसूचित जातियों की कुल संख्या 277 थी और जनसंख्या 5.01 करोड़ थी। 1981 में उनकी जनसंख्या 10.475 करोड़ हो गई, जो कि 1991 में बढ़कर 10.623 करोड़ हो गई (The Hindustan Times, April 12, 1991)। 1981 में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या समूचे देश की 15.7% थी जो कि 1991 में बढ़कर 16.73% हो गई (Census Report, Paper 1 of 1992)। अनुसूचित जातियों की जनसंख्या उत्तर प्रदेश में 22.3% (समूचे देश की अनुसूचित जाति की संख्या का), पूर्वी बंगाल में 11.4%, बिहार में 9.6%, तमिलनाडु में 8.5%, आन्ध्र प्रदेश में 7.6%, मध्य प्रदेश में 7.0%, राजस्थान में 5.6%, कर्नाटक में 5.3%, पंजाब में 4.3%, और महाराष्ट्र में 4.3% थीं। इस प्रकार अनुसूचित जाति का दो तिहाई (66.4%) हिस्सा केवल 6 राज्यों में रहता है।

समूचे देश में अन्य जातियों की अपेक्षा 1981–91 की अवधि में अनुसूचित जातियों की संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है। इस शताब्दी में समस्त जनसंख्या में 23.79% की वृद्धि हुई थी किन्तु अनुसूचित जातियों में यह वृद्धि 30% थी।

लगभग 48% अनुसूचित जाति के लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं तथा कृषि मजदूर, साझीदार के रूप में या सीमान्त (marginal) कृषक के रूप में काम करते हैं। लगभग वे सभी व्यक्ति जो सफाई करने, मैला ढोने, चमड़ा कमाने के काम में लगे होते हैं, अनुसूचित जाति में सम्मिलित हैं।

कार्य/ व्यवसाय के अर्थ में, 1981 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जाति के लोगों की कुल जनसंख्या 1,047 लाख में से 441.8 लाख (44.2%) मजदूर श्रेणी के हैं। इनमें से 53.8% चमड़े का काम करते हैं, 12.4% जुलो का, 7.9% मछुआरे का, 6.8% डोडे चुनने का, 5.2% रस्सी व टोकरी बनाने का, 4.6% धोबी का, 3.7% भंगी का, 1.3% शिल्पी का, 1.3% फल व सब्जी बेचने वाले, 0.9% जूता बनाने वाले, 0.4% शराब बनाने वाले, 0.3% ढोल बजाने वाले, 0.1% बढ़ई व लोहार, तथा 1.3% अन्य छोटे कार्यों में लगे हैं।

लगभग दो तिहाई बन्धुआ मजदूर अनुसूचित जाति के हैं। अनुसूचित जाति के लोगों में शिक्षा बहुत कम है। 1981 में ये लोग केवल 21.4% औसत रूप में शिक्षित थे, जबकि भारत में शिक्षितों का प्रतिशत 41.3% था। इनमें से अधिकतर गरीबी की रेखा से भी नीचे रहते हैं और आर्थिक तथा सामाजिक शोषण के शिकार होते हैं। सिद्धान्त रूप में अस्पृश्यता भले ही समाप्त हो गई हो, लेकिन व्यवहार रूप में ये लोग आज भी भेदभाव के शिकार हैं।

## दलितों का अधःपतन (The Degradation of Sudras)

दलितों (शूद्रों) पर ब्राह्मण काल या उत्तर वैदिक काल से ही अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। उन्हें यज्ञशाला में जाने की अनुमति नहीं थी। खाती, लोहार और धोबी के बर्तनों को साफ करके दूसरे लोग प्रयोग कर सकते थे, लेकिन शूद्र (चाण्डाल) द्वारा प्रयोग किए बर्तन कोई अन्य प्रयोग नहीं कर सकता था। कौटिल्य (300–400 ई.पू.) ने मौर्य युग में इन्हें इतना निम्न माना कि वह इनसे बचने की सलाह देता था। मुस्लिम काल में, पूना, मद्रास, मैसूर आदि स्थानों में शूद्रों पर कुछ प्रतिबन्ध लागू थे, जैसे कि वे सूर्यास्त के बाद नगर में प्रवेश नहीं कर सकते थे क्योंकि उनकी छाया उच्च जातियों को अपवित्र कर सकती थी। ब्रिटिश काल की अवधि में भी 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मंदिरों में शूद्रों का प्रवेश निषेध था। ग्रामों में उनके लिए पृथक् कुएँ थे। उनके प्रवेश के संदर्भ में महात्मा गांधी ने 1933 में लिखा था, कि मंदिर प्रवेश ही एक ऐसा आध्यात्मिक कार्य है जो 'अस्पृश्यों' की स्वतंत्रता का सन्देश होगा और उन्हें आश्वस्त करेगा कि वे ईश्वर के सामने जाति से बाहर नहीं हैं (हरिजन Feb, 1933:5)। लेकिन एक वर्ष बाद उन्होंने लिखा कि उनकी कोई इच्छा नहीं है कि शूद्रों के लिए मंदिरों को खोला जाए जब तक हिन्दू जाति का मत इसके लिए पक कर तैयार न हो जाए। उन्होंने कहा कि यह हरिजनों के मंदिर प्रवेश के स्वीकार करने का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह हिन्दू जाति के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वे शूद्रों के मंदिर प्रवेश को सुनिश्चित करें। (हरिजन 23Feb, 1934:10)।

मैला सफाई व्यवसाय के कारण हरिजनों के बहिष्कार के संदर्भ में गांधी जी ने कहा कि पैतृक व्यवसाय स्वाभाविक हो सकता है लेकिन आदर्श प्रचलन नहीं। उन्होंने कहा कि यह आदर्श आधुनिक समाज के प्रजातांत्रिक आदर्शों के अनुकूल भी नहीं है। उन्होंने व्यावसायिक गतिशीलता की सीमाओं का भी सन्दर्भ दिया। इस कथन की प्रतिक्रिया स्वरूप अम्बेडकर (1948:303–304) ने व्यंग्यात्मक रूप में कहा : "एक मेहतर को यह बताने का क्या लाभ है कि एक ब्राह्मण भी मेहतर का काम करने को तैयार है जबकि यह स्पष्ट है कि भले ही ब्राह्मण सफाई का काम करे, वह उन निर्योग्यताओं का शिकार कभी नहीं हो सकता है जो कि जन्मजात मेहतर (भंगी) को भोगनी पड़ती है।" यह सत्य है कि भारत में व्यक्ति उच्च या निम्न प्रस्थिति अपने जन्म से प्राप्त करता है, न कि कार्य से। अतः मेहतरों के झूठे अभिमान के समक्ष निवेदन करना या उन्हें प्रेरित करना और बताना कि सफाई करने का कार्य आदर्श कार्य है और उन्हें शर्मिन्दा नहीं होना चाहिए, वास्तव

में इन असहाय वर्गों की हंसी उड़ाना है।

बाह्य जातियों के विरुद्ध लगाए गए कुछ निषेध इस प्रकार थे:

1. आदि द्रविड़ सोने–चाँदी के आभूषण नहीं पहनेंगे।
2. पुरुषों को घुटने से नीचे तथा कूल्हों (कमर) से ऊपर वस्त्र धारण करने की अनुमति नहीं होगी।
3. पुरुष कोट, कमीज या बनियान नहीं पहनेंगे।
4. आदि द्रविड़ को अपने बाल कटाने की अनुमति नहीं होगी।
5. आदि द्रविड़ को घरों में मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त कोई अन्य बर्तन प्रयोग करने की अनुमति नहीं होगी।
6. उनकी स्त्रियाँ अपने शरीर का ऊपरी भाग नहीं ढकेंगी।
7. उनकी स्त्रियों को फूल या मेहन्दी के प्रयोग की अनुमति नहीं होगी।
8. पुरुषों को धूप या वर्षा से अपने शरीर को बचाने के लिए छाता प्रयोग करने की अनुमति नहीं होगी और न ही उन्हें चप्पल आदि पहनने की अनुमति होगी।

डी.एन. मजूमदार (1948:331) ने 1940 की अवधि में दलित जातियों की स्थिति की समीक्षा करते हुए कहा कि ये जातियाँ सब राज्यों में दलित नहीं हैं। एक ही जाति एक क्षेत्र में दलित हो सकती हैं, लेकिन दूसरे क्षेत्र में सामाजिक व राजनैतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित नहीं भी हो सकती है। मध्य प्रदेश में एक ही जाति के अधिकार व सामाजिक निर्योग्यताएँ आस–पास के जिलों में भी अलग–अलग होते हैं। जहाँ दलित जाति के सदस्यों की संख्या कम होती है वहाँ निर्योग्यताओं में कठोरता है और जहाँ संख्या की दृष्टि से वे बलवान होते हैं वहाँ निर्योग्यताएँ शिथिल होती जाती हैं। जहाँ जातियाँ एक ही नृजातीय मूल (ethnic stock) की होती हैं वहाँ सामाजिक निर्योग्यताएँ अधिक नहीं होतीं और केवल उन्हीं पर लागू होतीं हैं जिनका कार्य अपमानजनक या पतित हो। जहाँ उच्च जाति के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं है और अधिकतर जनसंख्या दलितों की है, वहाँ समारोह संबंधी अपवित्रता का स्तर भी कम हो जाता है और निम्न जातियों के लिए निर्योग्यताएँ भी कम हो जाती हैं। एक जाति दलित हो सकती है, परन्तु उस जाति का वह सदस्य जो धनी हो गया है, जिसके पास सम्पत्ति है और जो जीवन में सफलताएँ प्राप्त कर चुका है, उसे उच्च सामाजिक स्तर में स्वीकार कर लिया जाता है और यहाँ तक कि उच्च जाति (राजपूतों और अर्द्ध–राजपूतों) में से विवाह कर पत्नियाँ रख लेता है।

सत्य तो यह है कि आज भी अस्पृश्यों के प्रति लोगों का दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं हुआ है। जहाँ कहीं राज्यकीय विभागों व विभिन्न राज्य समर्थित एजेन्सियों द्वारा उनकी दशा सुधारने के उपाय एवं कल्याण कार्य प्रारम्भ किए गए हैं, वहीं समाज के शत्रुओं द्वारा सामाजिक तोड़फोड़ की कार्यवाही की गई है (Roy Burman, 1977:86)। उदाहरणार्थ, कुछ स्कूलों में अनुसूचित जाति के छात्रों को पृथक् कर दिया जाता है और एक ही कक्षा में पृथक् बैंचों या कोने में बैठाया जाता है। कुछ समय पूर्व एक राज्य के एक सरकारी विभाग के प्रधान द्वारा एक सूचना जारी की गई कि दो अक्टूबर को उस विभाग के अनुसूचित जाति सदस्यों एवं विभाग के अन्य कर्मचारियों के लिए एक सहभोग की व्यवस्था की जाए। सहभोग की व्यवस्था निःसन्देह की गई, लेकिन उच्च जाति के कर्मचारियों ने अनुसूचित जाति कर्मचारियों से कहा कि क्योंकि यह एक विशिष्ट अवसर था, अतः वे उन्हें पहले भोजन कराना चाहेंगे और उन्हें भोजन स्वयं परोसेंगे भी। जब अनुसूचित जाति के कर्मचारी भोजन कर चुके तो उनसे कहा गया कि वे आराम करें और शेष लोग स्वयं सेवा करके भोजन कर लेंगे। एक दूसरे राज्य में एक छात्रावास में अनुसूचित जाति तथा शेष हिन्दू जाति के छात्र एक साथ रहते थे, किन्तु उन्हें पृथक् कमरे देकर पृथक् कर दिया गया। शेष छात्रों के भोजन पात्र कर्मचारियों द्वारा साफ किए जाते थे, लेकिन अनुसूचित जाति के छात्रों को अपने बर्तन स्वयं साफ करने पड़ते थे। चार वर्ष पूर्व (1989 में) जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में अनुसूचित जाति छात्रों द्वारा सामान्य मैस (common mess) में भोजन करने के विषय पर एक हड़ताल हुई। यह स्थिति कुछ भी नहीं है अगर इसकी तुलना कई राज्यों में अनुसूचित जातियों के कृषि श्रमिकों और उनकी पत्नियों के साथ अपमानजनक शोषक व्यवहार से की जाए। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है कि तभी बिहार में अपने 'शोषकों' को दण्डित करने के उद्देश्य से उच्च व निम्न जाति हिन्दुओं द्वारा पृथक्–पृथक् सेनाओं का गठन किया गया है। कुछ वर्ष पूर्व ही बिहार में हुए नरसंहार वर्तमान स्थिति की ओर संकेत करने के लिए काफी है।

बिहार के लोगों का हरिजनों के प्रति दृष्टिकोण का आभास सिन्हा और सिन्हा (Social Forces, 1967) द्वारा पटना विश्वविद्यालय के 200 छात्रों द्वारा किए गए एक जैसे उत्तरों से होता है। कुल छात्रों में से 68.0% ने चमार, डोम व भंगियों को पिछड़ा हुआ बताया, 56.0% ने उन्हें (चालाक) कुटिल बताया, 54.0% ने अकर्मण्य, 52.5% ने शरीर से अस्वच्छ, 52.0% ने शराबी और 47.5% ने उन्हें कुरूप बताया। ऐसे ही दृष्टिकोणों के कारण यह कहा गया है कि जब तक अनुसूचित जाति के लोगों पर विशेष ध्यान न दिया जाएगा तथा उनके आर्थिक सामाजिक स्थिति को ऊँचा न उठाया जाएगा, तब तक ये लोग राष्ट्र को उपलब्ध सामान्य सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकते। गांधी जी का भी मत यही था कि जब तक हम हरिजनों को अपने भाइयों जैसा नहीं मानते तब तक हम विश्व बन्धुत्व की बात नहीं कर सकते। अस्पृश्यता समाप्त करने के लिए चलाया जाने वाला सम्पूर्ण आन्दोलन इसी विश्व बन्धुत्व की स्थापना के लिए एक आन्दोलन है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

## सुधारवादी एवं कल्याणकारी कार्यक्रम (Ameliorative and Welfare Programmes)

महात्मा गांधी ने यद्यपि हरिजनों की समस्याओं को 1924 से ही उठाया था, किन्तु उससे पूर्व भी कुछ प्रयत्न किए गए थे। उनमें से प्रमुख प्रयत्न था 1916–1922 के बीच दलित वर्ग में शिक्षा को प्रोत्साहन देना। अस्पृश्यता निवारण के लिए कुछ कार्य एवं योजनाएँ बनाइ गई थीं तथा दुकानों एवं पूजा स्थलों में उनके प्रवेश के उद्देश्य से कई कार्यक्रम चलाए गए थे। महात्मा गांधी के प्रोत्साहन से 1922 में चलाए गए बारदोली कार्यक्रम में भी अस्पृश्यों के उत्थान का ही उद्देश्य था। 1932 में अस्पृश्यों की सामाजिक निर्योग्यताओं के निवारण हेतु 'हरिजन सेवक संघ' संगठित किया गया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के संविधान में भी अनुसूचित जातियों (और साथ में अनुसूचित जनजातियों एवं पिछड़ी जातियों) की सामाजिक निर्योग्यताओं के निवारण हेतु तथा विविध हितों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुछ प्रावधान किए गए थे। महत्त्वपूर्ण प्रावधान हैं: अस्पृश्यता निवारण, सामाजिक अन्याय तथा विविध प्रकार के शोषण से बचाव, धार्मिक संस्थाओं में सभी व्यक्तियों का प्रवेश, कुओं, तालाबों, रेस्टोरेन्टों तथा दुकानों में प्रवेश, वर्जनाओं का निवारण, शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार, राज्य कोष से सहायता राशि प्राप्त करना, सेवाओं में उनके लिए राज्यों को आरक्षण देने की अनुमति, लोकसभा एवं विधानसभाओं में उन्हें समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान करना, उनके हितों के रक्षार्थ तथा कल्याण कार्यों को प्रोत्साहित करने हेतु पृथक् सलाहकार समितियों एवं विभागों की स्थापना, बेगार श्रम (forced labour) का निषेध तथा अनुसूचित क्षेत्रों के नियंत्रण, प्रशासन आदि के लिए विशेष प्रावधानों का निश्चय करना, आदि। अम्बेडकर ने इन कार्यों को "राजनैतिक दान" (political charity) की संज्ञा दी।

अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षार्थ "अनुसूचित जाति एवं जनजाति राष्ट्रीय आयोग" के रूप में एक कार्य व्यवस्था (machinery) का सृजन किया गया है। यह आयोग अनुसूचित जातियों, जनजातियों के उत्थान के लिए नीतियों एवं प्रकरणों पर कार्य करने हेतु सलाहकार समिति के रूप में गठित किया गया है। उसमें सामाजिक मानवशास्त्र, सामाजिक कार्य तथा अन्य समाज विज्ञानों के विशेषज्ञ सम्मिलित हैं। इसके प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:

1. अस्पृश्यता की सीमा तथा उससे उत्पन्न सामाजिक भेदभाव एवं वर्तमान उपायों की प्रभावशीलता का अध्ययन करना।
2. अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के प्रति किए गए अपराधों एवं सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करना।
3. समाज की मुख्यधारा में एकीकरण को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से अनुसूचित जाति व जनजाति के विकास के विविध पक्षों का अध्ययन करना।

आयोग में एक अध्यक्ष तथा ग्यारह सदस्य होते हैं। इसका कार्यकाल तीन वर्ष है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति के कल्याण कार्यों की देखभाल के लिए प्रत्येक राज्य में पृथक् विभाग है। उनका प्रशासनिक संगठन प्रत्येक राज्य में भिन्न है। इन लोगों के कल्याण के प्रोत्साहन का कार्य कुछ स्वैच्छिक संगठन भी करते हैं। अखिल भारतीय स्तर के कुछ प्रमुख संगठन हैं: हरिजन सेवक संघ, दिल्ली; हिन्दू भंगी सेवक संघ, नई दिल्ली; और भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, नई दिल्ली।

पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रत्येक योजना में विशेष कार्यक्रमों के आकार पर निवेश में वृद्धि ही होती रही है। प्रथम योजना (1951–56) का व्यय 30.04 करोड़ रुपए से बढ़कर द्वितीय योजना (1956–61) में 79.41 करोड़ रुपया हो गया, तृतीय योजना (1961–66) में 100.40 करोड़, चतुर्थ योजना (1969-1974) में 172.70 करोड़, पंचम योजना (1974–1979) में 296.19 करोड़, छठी योजना (1980–85) में 1337.21 करोड़, तथा सातवीं योजना

(1985–90) में 1521.42 करोड़ रुपया हो गया। इन लोगों के कल्याणार्थ राज्य सरकारें भी अच्छी धनराशि व्यय करती रही हैं।

केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाओं में से इनके कल्याणार्थ चलाई जाने वाली योजनाओं में से कुछ इस प्रकार हैं: (1) विविध सेवाओं में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के प्रतिनिधित्व में सुधार लाने हेतु विविध प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं (IAS, IPS) के लिए ट्रेनिंग एवं कोचिंग : (2) उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु मैट्रिक परीक्षा के उपरान्त आर्थिक सहायता के रूप में छात्रावृत्ति प्रदान करना; (3) स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले अनुसूचित छात्रों एवं छात्राओं को आवासीय सुविधा प्रदान करने हेतु छात्रावासों का निर्माण; (4) अनुसूचित जाति एवं जनजाति के विकास एवं समस्याओं के अध्ययन में रत प्रसिद्ध समाज विज्ञान अनुसंधान संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करना;(5) अनुसूचित जाति एवं जनजाति के छात्रों को मेडिकल तथा इंजीनियरिंग कोर्स के पाठ्य पुस्तकें प्रदान करना; (6) भारत से बाहर उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति तथा यात्रा व्यय अनुदान प्रदान करना।

अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के विकास को तेजी से प्राप्त करने के लिए किए जा रहे उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त भी संविधान ने विभिन्न स्तरों पर विधान संस्थाओं में उनके समुचित प्रतिनिधित्व तथा शैक्षिक संस्थाओं एवं नौकरियों में उनके लिए आरक्षण का प्रावधान भी किया है। अनुसूचित जातियों के लिए 15.0% का आरक्षण है। यह सीमा कई राज्यों में बढ़ा भी दी गई है।

यद्यपि पृथक् मतदाताओं का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया था, किन्तु चुनाव क्षेत्र इस प्रकार विभाजित कर दिए जाते हैं जिससे समय–समय पर अनुसूचित जाति व जनजाति के उम्मीदवार चुनाव में भाग ले सकें। आरक्षित सीटों की संख्या से जनसंख्या में उनके अनुपात का पता लगता है।

सरकारी सेवाओं में उनके लिए विशेष स्थान आवंटित रहता है। आरक्षण केवल भर्ती में ही नहीं है, बल्कि उच्च पदों पर पदोन्नति के लिए भी लागू होता है। उनके प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से आयु सीमा छूट, योग्यता स्तर में छूट तथा अनुभव में छूट भी उनको दी जाती है। 15 नवम्बर, 1992 के आरक्षण प्रकरण पर अपने निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि पदोन्नति में कोई भी आरक्षण नहीं हो सकता, किन्तु केन्द्रीय सरकार ने कुछ समय तक और इस आरक्षण को जारी रखने का निर्णय लिया। उच्चतम न्यायालय ने यह भी घोषणा की कि कुछ तकनीकी पदों, जैसे वैज्ञानिक विभाग, चिकित्सा विज्ञान में, इंजीनियरिंग में, रक्षा अनुसन्धान, शिक्षा में प्रोफेसर, एयर इण्डिया व इण्डियन एयरलाइन्स में पायलट आदि के पदों के लिए आरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए।

क्या इन सभी उपायों ने उनके उत्थान में योगदान किया है? कुछ लोगों का मत है कि जब तक जाति व्यवस्था की संरचना जारी रहेगी, अस्पृश्यों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकेगा। अनुसूचित जातियाँ, एक न एक आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से प्रबल जातियों को स्वीकार करके (जो उच्च संस्कारिक स्थिति भी धारण किए रहती हैं), स्वयं के संस्कृतिकरण में अपनी शक्ति लगाती हैं और उसको आदर्श मानकर अपनी जीवन शैली को भी उठाने का प्रयत्न करती रहती हैं। वे अपने सामाजिक रिवाज छोड़ देती हैं, जैसे, बाल विवाह, विधवा विवाह आदि, मांसाहारी भोजन प्रवृत्ति छोड़ देती हैं और अपनी स्त्रियों को बाहरी कामकाज करने से रोकती हैं, लेकिन उन्हें मिलता क्या है? उनकी सामाजिक स्थिति वैसी ही बनी रहती है। यदि वे अपना व्यवसाय बदल भी लें तो उनकी व्यावसायिक गतिशीलता से उनकी सामाजिक गतिशीलता में कोई अन्तर नहीं आता। वे अपने अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय शक्ति संरचना में कमजोर ही रह जाती हैं। वे आर्थिक असुरक्षा से पीड़ित रहती हैं और इसीलिए गरीब भी।

## जनसंख्या (Population)

पिछले दशक में और विशेष रूप से पिछले कुछ वर्षों में राजनैतिक अस्थिरता और साम्प्रदायिक उन्माद (communal fury) के मध्य, जनसंख्या विस्फोट की समस्या पीछे ढकेल दी गई थी। न तो राजनीतिक दल और न सरकार ऐसी समस्या पर, जो कि राष्ट्र के सामने आवश्यक रूप से सबसे कठिन समस्या है, अपना ध्यान केन्द्रित करने को तैयार थे। परन्तु समाज विज्ञानों में इस तथ्य की विशिष्टता बताने के लिए विद्वानों के अध्ययनों और विचारों की कोई कमी नहीं है कि भारत आर्थिक विकास की दौड़ में विशेष रूप से इसलिए पिछड़ रहा है क्योंकि उसने जनसंख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करने में कोई प्रगति नहीं की है।

### जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Population)

भारत की जनसंख्या आज (2000 में) विश्व की जनसंख्या की 16.0% है। इसकी तुलना में एक दशक पूर्व यह 15.0% थी। चीन के बाद भारत विश्व का दूसरा, अमरीका तीसरा और रूस चौथा सबसे बड़े देश हैं। इन देशों की [illegible] विश्व में जनसंख्या है: चीन: 21.7%, अमरीका: 6.0% और रूस: 5.0%। भारत और इन तीन देशों (चीन, रूस और अमरीका) में विश्व [illegible] जनसंख्या की लगभग आधी (48.7%) जनसंख्या [illegible] है। 1998 के मध्य पाकिस्तान की जनसंख्या 14.19 करोड़, बंगला देश की 12.34 करोड़, नेपाल की 2.37

करोड़, श्रीलंका की 1.89 करोड़ तथा भूटान की 10 लाख थी (मैनपावर प्रोफाइल, 1998: 478)। जिस पैमाने पर भारत की आबादी बढ़ रही है वह मन को दहलाने वाली है। जबकि 1600 में हमारे देश की आबादी का अनुमान 10.0 करोड़ था, वह 1871 में 25.4 करोड़, 1931 में 27.89 करोड़, 1941 में 31.86 करोड़, 1951 में 36.10 करोड़, 1981 में 68.51 करोड़, 1991 में 84.96 करोड़ 1997 में 95.52 करोड़ और जुलाई 2000 में 100.33 करोड़ हो गई (इंडिया 1992, and Crime in India. 1997:12)। इस प्रकार जब हमने 1931–41 के दशक में 3.96 करोड़ लोग अपनी आबादी में जोड़े, 1941–51 में 4.24 करोड़ 1951–61 में 7.66 करोड़, 1961–71 में 11.35 करोड़, 1971–81 में 13.89 करोड़ और 1981–91 में 15.95 करोड़ और 1991–जुलाई 2000 में 15.36 करोड़ जोड़ें। 1931–61 के तीन दशकों में जब कि आबादी में शुद्ध (net) वृद्धि 15 88 करोड़ थी, 1961–91 के तीन दशकों में वह 41.19 करोड़ थी। अर्थात् जब 1921–51 में प्रतिशत में वृद्धि 12.9 थी, 1961–91 में वह 93 थी। 1991–2000 के दशकों में 15.37 करोड़ व्यक्तियों की वृद्धि का अर्थ होता है 1.58 करोड़ व्यक्तियों की प्रतिवर्ष वृद्धि, या लगभग 43.28 हजार व्यक्तियों की प्रतिदिन वृद्धि, या 30 व्यक्तियों की प्रति मिनट वृद्धि। परिवार कल्याण मन्त्रालय के अनुसार भी भारत में प्रति मिनट वृद्धि 30 तथा प्रति वर्ष वृद्धि 1 करोड़ 58 लाख है (हिन्दुस्तान टाइम्स, अगस्त 18, 1999)। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ 1600 ई. और 1800 ई. के बीच 200 वर्षों में इसमें 20% वृद्धि हुई और अगले 100 वर्षों में–1801 ई तथा 1901 ई. से 2000 तक) यह वृद्धि 319% हुई। यदि जनसंख्या वृद्धि को पुनः तीन स्पष्ट अवधियों में विभाजित करें; (1) 190' से 1931 तक, (2) 1931 से 1961 तक, और (3) 1961 से 1999 तक तो पता चलता है कि 30 वर्ष की प्रथम अवधि में केवल 17% की वृद्धि हुई, अगले 30 वर्षों में 57.4% की वृद्धि हुई और अगले 38 वर्षों में (या लगभग चार दशकों में) 127% की विस्फोटक वृद्धि हुई। इस प्रकार 1921 से पूर्व जनसंख्या वृद्धि मन्थर गति से (sporadic), 1921 से 1951 के बीच तीव्र गति से (rapid) और 1951 से 1999 तक इसको विस्फोटक वृद्धि (explosive) कहा जा सकता है।

महाविपदा (disaster) यह है कि:

1. पृथ्वी पर 1991 तक आज हर छठा व्यक्ति भारतीय था और अब हर पाँचवाँ जीवित व्यक्ति भारतीय है।
2. भारत हर दिन में अपनी जनसंख्या में लगभग 43,281 व्यक्ति जोड़ लेता है।
3. भारत की जनसंख्या में वृद्धि 15 दिन में एक चन्डीगढ़ (640,725 जनसंख्या) और प्रत्येक माह में एक आस्ट्रेलिया (1.85 करोड़) की जनसंख्या के बराबर हो जाती है। भारत में हर 12 महीने में जनसंख्या वृद्धि लगभग 155 मिलियन है जो फ्रांस (58.4 मिलियन), ब्रिटेन (58.8 मिलियन) और इटली (57.36 मिलियन) की मिश्रित जनसंख्या से कुछ कम है।
4. भारत की जनसंख्या में एक दशक में लगभग 49% की वृद्धि चार राज्यों–बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश–में ही है (जिन्हें Bimaru के नाम से भी जाना जाता है।)
5. सन 2035 तक भारत चीन को पीछे छोड़ संसार का सबसे अधिक जनसंख्या वाला राष्ट्र बन जाएगा, जबकि चीन की 123 करोड़ की तुलना में भारत की जनसंख्या 138 करोड़ होगी (1999 में चीन की जनसंख्या 125.9 करोड़ थी)। भारत में वर्तमान में जब जनसंख्या वृद्धि दर 3.1% है, चीन में 2.1% है।
6. प्रजनन अवधि (reproductive period) को पार करने वाले दम्पत्तियों से हर वर्ष तीन गुना अधिक दम्पत्ति उसमें प्रवेश करते हैं और इस कम आयु के समूह की जनन क्षमता (fertility) की दर उन लोगों की जनन–क्षमता, जो प्रजनन क्षेत्र को छोड़ रहे हैं, से तीन गुनी अधिक होती है।
7. वृद्धि की वर्तमान दर से अधिकांश भारतीयों का जीवन 30–40 वर्ष उपरान्त असहनीय हो जाएगा–चिकित्सा सुविधाओं का उपलब्ध कराना अति कठिन हो जाएगा, शिक्षा, मकान आदि का खर्चा अत्यधिक हो जाएगा, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा विशिष्ट व्यक्तियों का अनन्य परमाधिकार (exclusive prerogative) बन जाएगा, और खाद्यान्नों की कमी राष्ट्र के तीन पंचमांश (three fifths) भाग को निर्धनता रेखा के नीचे धकेल देगी।

## जनसंख्या वृद्धि के कारण (Causes of Population Growth)

जनसंख्या विस्फोट के निम्नांकित महत्त्वपूर्ण कारण हैं:

### जन्म और मृत्यु की दरों में बढ़ती हुई दरार (Widening Gap between Birth and Death Rates)

भारत में जन्म दर मृत्यु–दर से बहुत अधिक है। जन्म दर की औसत वार्षिक दर 1961–71 के दौरान 41.2 प्रति हजार से घटकर 1971–81 में 37.2 प्रति हजार हो गई। 1991 में जन्मदर में और गिरावट आई। 1989 में प्रति हजार 30.5 की तुलना में 1996 में वह 28.1 प्रति हजार थी। मृत्यु दर में भी समान कमी आई है। 1961–71 के अन्तराल में 19.2 प्रति हजार से कम होकर 1971–81 के दशक में वह 15 प्रति हजार हो गई। मृत्यु दर 1988 में 11 की तुलना में 1996 में 9.1 था (मैनपावर प्रोफाइल, इन्डिया, 1998:37)। इस प्रकार क्योंकि जन्म दर ने सीमांत कमी दिखाई है और मृत्यु दर कुछ तेजी से नीचे गई है, अतः इसलिए इस बढ़ती हुई दरार ने हमारी जनसंख्या को तीव्रता से बढ़ाया है।

पिछले पन्द्रह वर्षों में परिवार का औसत आकार 4.2 बच्चों पर ठहरा हुआ है। यदि हम एक वर्ष में देश में जन्म लेने वालों की संख्या (1.58 करोड़) में गर्भपात की वार्षिक संख्या (एक करोड़ से 1.1 करोड़ के बीच) को जोड़ दें, तो हम दहशत पैदा करने वाले निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इस परिवार नियोजन के युग में 15–45 वर्षों के प्रजनन आयु–समूह में किसी भी समय पाँच भारतीय स्त्रियों में से एक गर्भवती होती है।

जन्म–दर और मृत्यु–दर का रहन–सहन के स्तर से गहरा सम्बन्ध है। जैसे–जैसे जीविका–स्तर ऊँचा होता जाता है मृत्यु–दर तो कम होता ही है, पर जन्म–दर में भी तीव्र कमी होती है। यही कारण है कि जन्म–दर व जनसंख्या वृद्धि में कमी के लिए देश के आर्थिक व सामाजिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है। भारत में पिछले 53 वर्षों में विकास अवश्य हुआ है। आजादी के पूर्व उत्पादन विकास दर जब केवल 1.0% प्रतिवर्ष थी, वर्तमान में यह 3.5% प्रतिवर्ष है। जब जनसंख्या की वृद्धि 3.5% प्रतिवर्ष है, तब उत्पादन विकास दर अच्छा ही जाएगा। परन्तु विकास का लाभ अमीरों को अधिक और गरीबों को कम मिला है। हमारी अधिक जनसंख्या क्योंकि निर्धन है, अतः जन्म–दर अब भी बहुत अधिक है जिस कारण जनसंख्या में वृद्धि निरन्तर बनी रही है।

## जनसंख्या नीति (Population Policy)

'नीति' एक कार्य योजना है, लक्ष्यों और आदर्शों का विवरण है, विशेषतौर पर वह जो एक सरकार या राजनीतिक दल आदि बनाती है। यह वर्तमान और भविष्य के निर्णयों का पथ प्रदर्शन करती है। ''जनसंख्या नीति'' अतिसीमित अर्थ में यू.एन.ओ. (1973:632) के अनुसार ''जनसंख्या के आकार, संरचना, वितरण और विशेषताओं को प्रभावित करने का एक प्रयत्न है।'' अधिक व्यापक दायरे में ''वह उन आर्थिक और सामाजिक स्थितियों, जिनके जनांकिकी (demographic) परिणाम होने की संभावना होती है, को नियंत्रित करने के प्रयत्नों को सम्मिलित करती है।'' डोरोथी नोर्टमेन (1975:20) ने सीमित अर्थ को 'प्रत्यक्ष नीति' कहा है जो कि जनसंख्या की विशेषताओं पर सीधा प्रभाव डालती है और व्यापक अर्थ को 'अप्रत्यक्ष नीति' कहा है जो कि विशेषताओं को परोक्ष रूप से प्रभावित करती है और कभी–कभी तो उसके उद्देश्य भी स्पष्ट नहीं होते।

कोई भी सार्वजनिक नीति, जिसमें जनसंख्या नीति भी आती है, भविष्य की ओर एक कदम है और इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक प्रयास है। इसलिए इसके निर्धारण में लक्ष्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विगत और वर्तमान प्रवृत्तियों को महत्त्व देना होगा। इसके अलावा उन सामाजिक परिस्थितियों को भी जो इन प्रवृत्तियों को दिशा और तीव्रता प्रदान करती हैं, तथा संभावित भविष्य की रूप–रेखाओं (projections) और इच्छित लक्ष्यों पर पहुँचने में उन विकल्पों को भी ध्यान देना होगा जिनकी प्राप्ति की भी संभावना है। इसका अर्थ यह होता है कि नीति (जनसंख्या) को सहभागियों, मूल्यों या लक्ष्यों, संस्थाओं और संसाधनों से सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

हम दो तरह की जनसंख्या नीतियों का सुझाव दे सकते हैं: (अ) प्रसव–विरोधी (anti-natal) नीति जिसका उद्देश्य जनसंख्या की वृद्धि को कम करना है, और (ब) वितरण संबंधी (distributional) नीति जो जनसंख्या के वितरण संबंधी असंतुलनों का विवेचन करती है। नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज के अनुसार जनसंख्या नीति वह है (अ) जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार जनांकिकी प्रतिक्रिया पर प्रभाव डालती है (उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को नगरों से उपनगरों में बसने के लिए प्रेरित करना), और (ब) जो उन माँगों पर जो जनांकिकी प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, विचार करती है (उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को उपनगरों में मूल सुविधाएं उपलब्ध कराना)।

भारत जैसे विकासशील देश की जनसंख्या नीति को ये लक्ष्य बनाने पड़ेंगे: (1) संख्या को घटना, (2) जनता में जागरूकता उत्पन्न करना, (3) आवश्यक गर्भनिरोधक वस्तुओं को उपलब्ध करवाना, (4) कानून बनाना जैसे गर्भपात को वैध करवाना, और (5) प्रोत्साहन (incentives) और निरुत्साहन (disincentives) देना। दूसरी ओर, उसके ये भी लक्ष्य होने चाहिए: (अ) घनी आबादी वाले क्षेत्रों में व्यक्तियों के केन्द्री करण पर रोक लगाना, (ब) नए क्षेत्रों में लोगों को कारगर ढंग से बसाने के लिए सार्वजनिक सेवाएं और सुविधाएँ उपलब्ध कराना, और (स) कार्यालयों को कम आबादी वाले क्षेत्रों में ले जाना।

एक बार जनसंख्या नीति की आवश्यता समझ ली जाती है तो फिर उसको बनाना पड़ेगा। इसको बनाने के लिए विशेषज्ञो की समितिया और आयोगों का गठन किया जाएगा जिनमें वे एक–दूसरे से विचार–विमर्श करके, सलाह लेकर और अध्ययन करके नीति तैयार करेगे। फिर वह विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा कार्यान्वित की जाएगी और उसके बाद उसका समय–समय पर मूल्यांकन किया जाएगा।

भारत की जनसंख्या नीति निम्नांकित बातों को ध्यान में रखकर बनाई गई है: (अ) जनसंख्या का पूर्ण आकार, (ब) विकास की ऊँची दर, और (स) जनसंख्या का ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अनियमित वितरण। चुँकि हमारी नीति का लक्ष्य था 'जीवन को गुणात्मक रूप से ऊपर उठाना' और 'व्यक्ति की सुख–शान्ति को बढ़ाना', इसलिए वह व्यक्तियों की व्यक्तिगत सिद्धि और सामाजिक प्रगति के प्राप्ति के बड़े उद्देश्य को प्राप्त करने की एक साधन बन गई। आरम्भ में 1952 में बनाई गई नीति तदर्थ, लचीली और प्रयास एवं भूल पद्धति (trial and error approach) पर आधारित थी। धीरे–धीरे उसमें अधिक वैज्ञानिक योजना का समावेश हुआ। राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) (जिसे 1938 में इन्डियन नेशनल कांग्रेस ने नियुक्त किया) ने 1940 में डॉ. राधाकमल मुखर्जी की अध्यक्षता में जनसंख्या पर जिस उपसमिति को निर्मित किया उसने आत्मसंयम, संतति–निग्रह (birth control) के लिए सस्ते और निरापद तरीकों की जानकारी फैलाने और संतति–निग्रह चिकित्सालयों को खोलने पर बल दिया। उसने विवाह की आयु बढ़ाने, बहु–विवाह को रोकने, आनुवंशिक रोगों से ग्रसित व्यक्तियों को वन्ध्य (sterilize) करने के लिए एक सुजनिक (eugenic) कार्यक्रम बनाने की अनुशंसा भी की। 1943 में सरकार द्वारा नियुक्त भोर कमेटी ने आत्मनियंत्रण के तरीके की निन्दा की और 'परिवारों की संकल्पित परिसीमन' का समर्थन किया। स्वतंत्रता के पश्चात् 1952 में एक जनसंख्या नीति समिति का और 1953 में एक परिवार नियोजन शोध और परियोजना समिति का गठन किया गया। 1956 में केन्द्रीय परिवार नियोजन बोर्ड स्थापित किया गया जिसने वन्ध्याकरण में स्थिर करने के लिए एक अधिक सशक्त परिवार नियोजन कार्यक्रम की वकालत की गई। आरम्भ में सरकार का विश्वास था कि लोगों में परिवार नियोजन कार्यक्रम के प्रति काफी उत्साह है और सरकार को गर्भनिरोध की केवल सुविधाएँ ही उपलब्ध करवानी हैं परन्तु बाद में यह आभास हुआ कि लोगों में प्रेरणा की आवश्यकता है और जनता को इस बारे में शिक्षित करना पड़ेगा। चौथी पँचवर्षीय योजना (1969–74) का प्रमुख उद्देश्य वार्षिक जन्मदर को 1974 के वर्ष तक घटाकर 32 करना था और उसमें परिवार नियोजन को ऊँची प्राथमिकता दी गई। 1971 में 'मेडिकल टर्मिनेशन आपफ प्रेगनेन्सी एक्ट' बनया गया। पाँचवीं पँचवषीर्य योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम का माँ और शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रमों के साथ एकीकरण किया गया। 1976 में भारत सरकार ने जनसंख्या नीति की घोषणा की जिसका लोकसभा ने अनुमोदन किया। उसके अनुसार छठी पँचवर्षीय योजना के अन्त तक जन्मदर को घटाकर 25 प्रति हजार करना था। तथापि, आपातकाल के समय लोगों को नसबंदी करने के लिए जबरदस्ती भी की गई जिससे परिवार नियोजन कार्यक्रम को धक्का लगा। 1980 के बाद से अब तक (2000 में) सरकार इस कार्यक्रम को चलाने में अधिक सावधानी बरत रही है।

### स्वामीनाथन कमेटी

इस कमेटी द्वारा निम्न उपाय सुझाए गए थे:

1. 2010 ई तक 2.1 की कुल प्रजनन क्षमता दर के लक्ष्य को प्राप्त करके जनसंख्या स्थिर करना।
2. तीव्र और न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने सम्बन्धी कार्यक्रम लागू करना।
3. पंचायतों, नगर पालिकाओं और राज्यों को विधायिकाओं के माध्यम से वर्तमान ऊर्ध्वाकार (vertically) संरक्षित परिवार कल्याण कार्यक्रम के स्थान पर विकेन्द्रीकृत, लोकतांत्रिक नियोजन लागू करना।
4. प्रजनन क्षमता दर के राष्ट्रीय औसत उपलब्धि के लक्ष्य को छोड़कर केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा विशेष गर्भ–निरोध विधियों के प्रयोग के लिए लक्ष्य निश्चित करने का विचार त्यागना।
5. गर्भनिरोध विधि प्रयोगकर्त्ताओं और उनके प्रेरकों को नकद या वस्तु के रूप में दिया जाने वाला प्रोत्साहन समाप्त कर दिया जाए।
6. देश की जनसंख्या नीति को नियोजित, क्रियान्वित तथा संचालित करने के लिए एक राज्य जनसंख्या एवं सामाजिक विकास आयोग की नियुक्ति करना।
7. इस समय परिवार नियोजन केवल महिलाओं की जिम्मेदारी बनकर रह गई है; स्पष्ट रूप से आवश्यकता इस बात की है कि परिवार सीमित करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी को स्त्रियों पर रखने की प्रवृत्ति को रोका जाए।

अनेक विशेषज्ञों ने इस समिति की सिफारिशो की आलोचना की थी और सुझाव दिए कि इन्हें अस्वीकार किया जाना चाहिए। उस समय उनके तर्क इस प्रकार थे: (1) रिपोर्ट में गहन विश्लेषण व औचित्य का अभाव है। सुझाया गया दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से प्रबन्धात्मक (managerial) है और सुझाए गए कदम पूर्व के असफल सूत्रों की पुनरावृत्ति मात्र हैं कि 'विकास सबसे अच्छा गर्भ–निरोध है'। (2) न्यूनतम आवश्यकताओं और जनसंख्या नियंत्रण का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सभी लक्ष्य जो तमाम राजनैतिक वायदों के साथ विभिन्न आम चुनावों और पँचवर्षीय योजनाओं के बावजूद गत दशकों में प्राप्त न किए जा सके, 2010 तथा आगे भी किस प्रकार पूर्ण हो सकेंगे

जबकि हमारी जनसंख्या ने (1995 में) 90 करोड़ का चिन्ह पहले ही पार कर लिया है जिसमें से लगभग 35 करोड़ लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीने के लिए मजबूर हैं? (3) राजनीति से प्रेरित जनसंख्या आयोग अप्रभावी रहेगा। (4) समिति ने उन लोगों के लिए कोई हतोत्साहन नहीं रखा जिन्होंने परिवार नियोजन प्रतिमानों का उल्लंघन किया। (5) रिपोर्ट यह स्पष्ट नहीं करती कि हम तेज गति से बढ़ने वाली जनसंख्या को क्यों रोक नहीं सके यद्यपि 1951 से ही कार्यक्रम चल रहे हैं। क्या यह असफलता प्रशासनिक व्यवस्था में कमी के कारण हुई या गलत नीतियों के कारण या दोषपूर्ण क्रियान्वयन के कारण? यह मौलिक प्रश्न है जिसकी रिपोर्ट में उपेक्षा की गई है। (6) भारत में जनसंख्या नियंत्रण की राह में सबसे बड़ी बाधा राजनैतिक उदासीनता है परन्तु समिति ने इस पक्ष को कोई महत्त्व नहीं दिया।

## राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2002

1. आर्थिक और सामाजिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन–स्तर को उठाना, उनके लिए कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम बढ़ाना और उन्हें समाज में उत्पादी परिसम्पत्ति (productive assets) बनने के लिए अवसर उपलब्ध कराना है। अबलम्बनीय (sustainable) विकास के लिए जनसंख्या को स्थिर करना आवश्यक है। ऐसे विकास के लिए जरूरी है: सभी व्यक्तियों के लिए जननीय स्वास्थ्य देखभाल सुलभ करवाना, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के अवसर बढ़ाना, सफाई, साफ पीने का पानी व मकान जैसी मूल सुविधाएँ देना, महिलाओं का सशक्तिकरण करना एवं उन्हों काम करने के अवसर प्रदान करना, तथा यातायात व संचार के साधन उपलब्ध करवाना।

2. भारत में जनसंख्या में वृद्धि के मूल कारण हैं: जननीय आयु–समूह में जनसंख्या का बड़ा आकार, उच्च प्रजनन क्षमता तथा लड़कियों का कम आयु में विवाह, आदि। अतः राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के लघुकालीन प्रमुख ध्येय होंगे: गर्भरोध, स्वास्थ्य अधःसंरचना (infrastructure), स्वास्थ्य कार्मिक तथा जननीय स्वास्थ्य देखभाल के लिए एकीकृत सेवा पर अधिक ध्यान देना। इसका मध्यकालीन लक्ष्य होगा 2010 तक प्रजनन दर को कम करना। इसका दीर्घकालीन लक्ष्य होगा 2045 तक जनसंख्या को उस स्तर पर स्थिर करना जो अवलम्बनीय आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए उचित है।

3. उपुर्यक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए 14 राष्ट्रीय सामाजिक जनसंख्यकीय लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं जिन्हें 2010 तक प्राप्त करना होगा। ये लक्ष्य हैं:
    1. मूल जननीय और बाल स्वास्थ्य सेवाएँ और अधःसंरचना सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करना।
    2. 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा को मुफ्त व आवश्यक बनाना।
    3. शिशु–मृत्यु दर को प्रति 1000 पर 30 से कम करना।
    4. मातृ मृत्यु दर को एक लाख पर 100 से कम करना।
    5. बच्चों को रोकने योग्य बीमारियों के लिए टीकों द्वारा उन्मुक्त करवाना।
    6. लड़कियों का विवाह 20 वर्ष के बाद करने को प्रोत्साहित करना।
    7. प्रसव 80% संस्थात्मक तरीकों से और 100% प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा करवाने पर बल देना।
    8. गर्भपात के बारे में पूरी जानकारी उपलब्ध करवाना।
    9. एड्स के बारे में जानकारी देना।
    10. प्रेषणशील (comunicative) बीमारियों पर नियंत्रण करना।
    11. जननीय और बाल स्वास्थ्य देखभाल में चिकित्सा की एकीकृत व्यवस्था पर बल देना।
    12. कुल प्रजनन क्षमता (TFR) स्तर के लिए छोटे परिवार के विचार को प्रोत्साहित करना।

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निम्न प्रोग्राम को लागू करने पर बल दिया गया है: योजना का विकेन्द्रीकरण, ग्राम स्तर पर सेवाओं की उपलब्धि, महिलाओं का सशक्तिकरण, नगरों में गन्दी बस्तियों, गाँवों में जनजातीय समुदायों व किशोरों पर अधिक ध्यान देना, गैर–सरकारी संगठनों का सहयोग, इत्यादि।

जनसंख्या नियंत्रण का कार्य क्योंकि राज्य सरकारों का है इसलिए मानीटर करने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जायेगी। छोटे परिवार के विचार को बढ़ावा देने के लिए निम्न अभिप्रेरणा सम्बन्धी उपयों का सुझाव दिया गया है:

1. अनुकरणीय कार्य के लिए ग्राम पंचायतों व जिला परिषदों को पुरस्कार देना;
2. दो बच्चों तक लड़की के लिए महिला और शिशु विकास विभाग द्वारा 500 रुपये नकद प्रोत्साहन देना;
3. गाँवों में पहली संतान 19 वर्ष की आयु के उपरान्त जन्म देने के लिए 500 रुपये का पुरस्कार;
4. गरीबी रेखा से नीचे दम्पत्तियों के लिए दो बच्चों बाद विसक्रमण के लिए 5000 रुपये तक के लिए स्वास्थ्य बीमा लागू करना;

5. गांवों में बाल–गृहों और बाल सतर्कता केन्द्र स्थापित करना;

**इसके अलावा कुछ और उपाय निम्न अपनाए जाएँगे:**

1. सुरक्षित गर्भपात के लिए सुविधाओं को सशक्त करना;
2. रोगीवाहन (ambulance) सेवाओं के लिए कर्जा देना;
3. लड़कियों के व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए समर्थन देना;
4. 1976 के बाल–विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम को सख्ती से लागू करना;
5. 2026 तक लोकसभा के लिए सदस्य संख्या न बढ़ाना।

## लिंग भेद (Gender Discrimination)

भारत में लिंगानुपात पुरुषों के पक्ष में है। यहाँ प्राय: सभी आयु वर्गों में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की संख्या अधिक है। जनगणना 2001 के अनुसार भारत में लिंगानुपात 933 स्त्रियां प्रति 1000 पुरुष है जो 1991 (927) की तुलना में कुछ अधिक है। विश्व के अन्य देशों की भांति भारत में भी जन्म के समय पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक होती है। यहां औसतन प्रति 1000 पुरुष शिशुओं के जन्म के विपरीत स्त्री शिशुओं के जन्मों की संख्या लगभग 937 पायी जाती है। जन्म से लेकर लगभग 50 वर्ष की आयु तक स्त्रियों की मृत्युदर भी पुरुषों से अधिक रहती है जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों का अनुपात और भी कम हो जाता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ (1901) में प्रति 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या 972 अंकित की गयी थी। तब से लेकर निरन्तर लिंगानुपात में गिरावट की प्रवृत्ति रही है जिसमें मात्र 1891 और 2001 की जनगणना वर्ष ही अपवाद हैं। जनगणना 1941 में लिंगानुपात 945 स्त्रियां प्रति 1000 पुरुष था जो 1951 तक लगभग स्थिर (946) रहा। जनगणना वर्ष 1961 और 1971 में लिंगानुपात क्रमश 941 और 930 था। 1981 में 4 अंकों की वृद्धि के साथ यह 934 हो गया किन्तु अगले दशक में इसमें 7 अंकों की कमी होने पर यह 1991 में 927 तक पहुंच आया। जनगणना 2001 में 6 अंको की वृद्धि के साथ लिंगानुपात 933 पाया गया है। विभिन्न जनगणना वर्षों में लिंगानुपात की प्रवृत्ति को निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है।

**तालिका**

भारत में लिंगानुपात की प्रवृत्ति (1901–2001)

| वर्ष | स्त्रियां प्रति 1000 पुरुष | | |
|---|---|---|---|
| | कुल | ग्रामीण | नगरीय |
| 1901 | 972 | 979 | 910 |
| 1911 | 964 | 975 | 872 |
| 1921 | 955 | 970 | 846 |
| 1931 | 950 | 966 | 838 |
| 1941 | 945 | 965 | 831 |
| 1951 | 946 | 965 | 860 |
| 1961 | 941 | 963 | 845 |
| 1971 | 930 | 949 | 858 |
| 1981 | 934 | 951 | 879 |
| 1991 | 927 | 938 | 894 |
| 2001 | 933 | — | — |

भारत के विभिन्न भागों में लिंगानुपात में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। जनगणना 2001 के अनुसार देश का सर्वोच्च लिंगानुपात (1058 स्त्रियां प्रति 1000 पुरुष) केरल राज्य में है जबकि निम्नतम लिंगानुपात (773) चंडीगढ़ में पाया गया है। इस पकार राज्य स्तर प उच्चतम और निम्नतम लिंगानुपात के मध्य 277 अंकों का अंतर है। सम्पूर्ण भारत में केरल और पांडिचेरी ही ऐसे

## तालिका

### भारत में राज्यानुसार लिंगानुपात (स्त्रियां प्रति 1000 पुरुष)

| | राज्य/केन्द्र शासित क्षेत्र | 1901 | 1991 | 2001 | अन्तर 1991–2001 |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | केरल | 1004 | 1036 | 1050 | +14 |
| 2. | पांडिचेरी | – | 979 | 1001 | +22 |
| 3. | छत्तीसगढ़ | – | – | 990 | – |
| 4. | तमिलनाडु | 1044 | 974 | 986 | +12 |
| 5. | मणिपुर | 1037 | 958 | 978 | +20 |
| 6. | मेघालय | 1036 | 955 | 975 | +1 |
| 7. | उड़ीसा | 1037 | 971 | 972 | +1 |
| 8. | हिमाचल प्रदेश | 884 | 976 | 970 | –6 |
| 9. | कर्नाटक | 983 | 960 | 964 | +4 |
| 10. | उत्तरांचल | – | – | 964 | – |
| 11. | गोआ | 1085 | 967 | 960 | –6 |
| 12. | त्रिपुरा | 874 | 945 | 950 | +5 |
| 13. | लक्षद्वीप | 1063 | 943 | 947 | +4 |
| 14. | झारखण्ड | – | – | 941 | – |
| 15. | मिजोरम | 1113 | 921 | 938 | +17 |
| 16. | प. बंगाल | 945 | 917 | 934 | +17 |
| 17. | असम | 919 | – | 932 | – |
| 18. | महाराष्ट्र | 978 | 934 | 922 | –12 |
| 19. | राजस्थान | 905 | 910 | 922 | –12 |
| 20. | गुजरात | 054 | 934 | 921 | –13 |
| 21. | बिहार | 1054 | 911 | 921 | +10 |
| 22. | मध्य प्रदेश | 990 | 931 | 920 | –11 |
| 23. | नागालैण्ड | 973 | 886 | 909 | +23 |
| 24. | अरुणाचल प्रदेश | – | – | 900 | – |
| 25. | जम्मू एवं कश्मीर | 882 | – | 900 | – |
| 26. | उत्तर प्रदेश | 937 | 879 | 898 | +19 |
| 27. | आंध्र प्रदेश | 985 | 972 | 878 | +7 |
| 28. | सिक्किम | 916 | 878 | 875 | –3 |
| 29. | पंजाब | 832 | 882 | 874 | –8 |
| 30. | हरियाणा | 867 | 865 | 861 | –4 |
| 31. | अंडमान एवं निकोबार | 318 | 818 | 846 | +28 |
| 32. | दिल्ली | 862 | 827 | 821 | –6 |
| 33. | दादर एवं नगर हवेली | 960 | 952 | 811 | –141 |
| 34. | चंडीगढ़ | 771 | 790 | 773 | –17 |
| 35. | दमन एवं दिव | 1085 | 969 | 709 | –260 |
| 36. | भारत | 972 | 927 | 933 | +8 |

1. असम तथा जम्मू कश्मीर के आंकड़े 1991 के लिए उपलब्ध नहीं हैं।

Source : Cnsus of India, 1991, and 2001

राज्य हैं जहां स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। इनके पश्चात् उच्च लिंगानुपात वाले राज्य हैं–छत्तीसगढ़ (990), तमिलनाडु (986), मणिपुर (978), मेघालय (975) और उड़ीसा (972) जहां लिंगानुपात 970 से ऊपर है। अन्य राज्य, जहां लिंगानुपात राष्ट्रीय औसत (933) से ऊपर है, इस प्रकार है– दमन एवं दिव, गोवा, कर्नाटक, दादर एवं नगर हवेली, त्रिपुरा, लक्षद्वीप, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, मिजोरम और हिमाचल प्रदेश। पंजाब, उत्तर प्रदेश, सिक्किम, हरियाणा, अरुणाचल प्रदेश, दिल्ली, अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह तथा चंडीगढ़ में लिंगानुपात 900 से नीचे हैं

भारत के राज्यों तथा जनपदों के अनुसार लिंगानुपात के आंकड़ों के विश्लेषण से जो प्रमुख तथ्य सम्मुख आते हैं, वे इस प्रकार है–

1. प्रायद्वीपीय भारत (दक्षिण भारत) में उच्च लिंगानुपात पाया जाता है जो प्रति 1000 पुरुषों पर 900 स्त्रिया से ऊपर है। केरल देश का एक मात्र राज्य है जहां स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। शिक्षा विशेषरूप से स्त्री शिक्षा की उन्नति, स्त्रियों के सामाजिक उत्थान, चिकित्सा तथा प्रसूत सेवाओं के विस्तार, स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता आदि के परिणामस्वरूप केरल में मृत्युदर बहत कम (6 प्रति हजार) है और स्त्रियों की मृत्युदर इससे भी कम होने का अनुमान है। ऐसा संभवतः मातृत्व मृत्युदर में कमी के कारण सम्भव हुआ है। उच्च लिंगानुपात के लिए अन्य कारण यह भी है कि केरल में नगरीकरण (28.0 प्रतिशत) कम हो पाया है। अतः इस प्रदेश से रोजगार की खोज तथा उच्च शिक्षा के लिए पुरुषों का प्रवास अन्य राज्यों में स्थित नगरों के लिए होता है जिसके परिणामस्वरूप वहां पुरुषों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो गयी है।

2. मध्यवर्ती भारत (महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, गुजरात) और पूर्वोत्तर भारत के कुछ राज्यों (मणिपुर, मेघालय, त्रिपुरा) के जनजातीय क्षेत्रों में लिंगानुपात उच्च है। इसके परिणामस्वरूप इन राज्यों में लिंगानुपात देश के औसत (933) से ऊपर है।

3. उत्तरी भारत के पश्चिमी राज्यों – पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, चंडीगढ़ और उत्तर प्रदेश में लिंगानुपात बहुत कम (910 से कम) है। उत्तरी मैदान के पूवी राज्यों–बिहार और पश्चिम बंगाल में लिंगानुपात उपरोक्त राज्यों की तुलना में कुछ अधिक है।

4. हिमाचल प्रदेश और उत्तरांचल में लिंगानुपात उच्च है और कुछ जनपदों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। इसका मुख्य कारण पुरुषों का रोजगार के लिए मैदानी नगरों के लिए प्रवास है। इस प्रकार पर्वतीय क्षेत्रों में स्त्रियों की संख्या पुरुष से अधिक हो जाती है।

5. भारतीय नगरों में बाहर से आने वाले प्रवासियों में पुरुषों की प्रधानता पायी जाती है क्योंकि रोजगार की खोज में अथवा शिक्षा आदि अन्य उद्देश्यों से पुरुष अपने परिवार को गांव में छोड़कर प्रायः अकेले नगरों में आते हैं। इससे नगरों में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की संख्या काफी बढ़ जाती है। यही कारण है कि देश के जिन भागों में नगरीकरण का स्तर उच्च है वहां लिंगानुपात निम्न है। दिल्ली (821) और चंडीगढ़ (773) इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं जहां लगभग 90 प्रतिशत जनसंख्या नगर मे निवास करती है। इस प्रकार उच्च नगरीकृत जनपदों में लिंगानुपात निम्न पाया जाता है।

6. देश के जिन भागों में सैनिक छावनियों की प्रमुखता है और प्रतिरक्षा के लिए भारी संख्या में सैनिक रहते हैं वहां सैनिक के रूप में पुरुष आप्रवासियों की संख्या में अधिक वृद्धि से लिंगानुपात कम हो जाता है। अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह में निम्न लिंगानुपात (846) का यही कारण है। 1981 में इसका लिंगानुपात मात्र 760 था। प्रवास प्रधान ऐसे क्षेत्रों में लिंगानुपात अधिक परिवर्तनशील रहता है।

## भारतीय समाज में नारी (Women in Indian Society)

पिछले कई वर्षों में भारतीय समाजशास्त्र के साहित्य का भण्डार भरता ही रहा है। भारतीय और विदेशी समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज के अनेकानेक क्षेत्रों में अनुसंधन कार्य किया है। परिवार, नातेदारी, जाति, गाँव–सामाजिक जीवन के ये सब पहलू समाजशास्त्र के पड़ताल के गहन विषय रहे हैं। बहुत कुछ लिखा जाने पर भी शायद समाजशास्त्रियों ने यह धरणा बना ली है कि पुरुष समाज का अध्ययन अपने आप में नारी समाज का अध्ययन भी है। जहाँ समाजशास्त्रियों ने नातेदारी जैसी व्यवस्था का अध्ययन किया है, वहाँ भी उनके सदर्श का केन्द्र बिन्दु पुरुष ही है। एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की अवधरणा को दिया है। वे कहते हैं कि छोटी जातियाँ जब जनेऊ पहन लेती हैं तब यह उनका उच्च जातियों की ओर जाने का प्रयास है। संस्कृतिकरण के इस प्रयास में स्त्रियों की क्या भूमिका है, इस पर वे मौन हैं। आज स्त्रियों ने जब महिला आन्दोलन को उठाया है तब वह समझा जाने लगा है कि अब स्त्रियों की प्रस्थिति का भी खुलासे से अध्ययन होना चाहिये।

यूरोप में 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नारी मुक्ति आंदोलन चले। आज तो वहाँ नारीवादी आंदोलन व्यापक आंदोलन है। हमारे देश में यह आंदोलन आज़ादी की लड़ाई में बहुत साधरण था। अधिक से अधिक यह हुआ कि राष्ट्रीय नेताओं की अगुवाई में स्त्रियों ने इस लड़ाई में अपनी भागीदारी की। कुछ उच्च और मध्यम वर्ग की स्त्रियों ने शिक्षा भी प्राप्त की। संविधान लागू होने के बाद जब यह घोषित हुआ कि राज्य व्यक्तियों में जाति, लिंग, और धर्म के आधर पर कोई भेदभाव नहीं करेगा, तब नारी मुक्ति के लिये आंदोलन चले। दरअसल भारतीयों स्त्रियों की बहुत बड़ी समस्या यह है कि पुरुषों की तुलना में उनके साथ भेदभाव (Discrimination) किया जाता है। यह भेदभाव समाज के सभी क्षेत्रों में देखने को मिलता है। अब यह बराबर कहा जाने लगा है कि समाज में पुरुष और स्त्री समान हैं–पुत्र और पुत्री समान हैं और इनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाना चाहिये।

## भेदभावपूर्ण व्यवहार क्यों? (Why Discriminatory Behaviour?)

यह स्वाभाविक है कि जब जैविकीय (Biological) दृष्टि से पुरुष और स्त्री समान हैं, फिर स्त्रियों के साथ भेदभाव क्यों? इसके पीछे कई कारक हैं। मैत्रेरी चौधरी कहती है कि भारत में स्त्रियों की जो पद दलित स्थिति है उसके पीछे विचारधारा (Ideology) और सामाजिक संरचना बहुत बड़े कारण हैं। इस देश में स्त्रियों के पीछे हमारी एक जमी–जमाई धारणा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भ हमारी इस धारणा में कोई अन्तर नहीं आया है। यहाँ यह बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय समाज में सभी स्त्रियाँ, एक ही लिंग की होने के कारण समान नहीं हैं। स्त्री होकर भी एक स्त्री, दूसरी स्त्री से भिन्न है। यह भिन्नता सामाजिक विजातीयता (Social Heterogeneity) है। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ मध्यम वर्ग से भिन्न होती हैं और इन दोनों वर्गों की स्त्रियाँ निम्न वर्ग की स्त्रियों से भिन्न होती हैं। जाति की सोपानिकता से देखें तो ज्ञात होगा कि स्त्रियों में भी यह सोपान व्यवस्था है। कुछ स्त्रियाँ बड़े घर की हैं, पाँच सितारा होटल में जाने वाली हैं, मोटरकार और दुपहिया चलाने वाली हैं, और बहुत स्त्रियाँ ऐसी हैं जो कारखाने में काम करती हैं, बीड़ी बनाती हैं, सिलाई करती हैं और साग–सब्जी बेचकर अपना गुजारा करती हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों की विविधता अनन्य है और स्त्री नाम पर सभी स्त्रियों को एक ही तराजू में तोलना ठीक नहीं है। हमारा यह तर्क है कि जब हम समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति का मूल्यांकन करें तब हमें इस विविधता को समझना चाहिये। निश्चित रूप से जो समस्या महानगरों में रहने वाली स्त्रियों की है, वे गाँवों की स्त्रियों की नहीं, और दूसरी ओर मातृसत्तात्मक खासी स्त्री को जो कठिनाई है, वह बहु–पति वाली टोडा जनजाति की नहीं। समस्याएँ भिन्न हैं, चुनौतियाँ विविध हैं और सभी का विश्लेषण एक समान नहीं है।

स्त्रियों की प्रस्थिति में विविधता होते हुए भी उनके बारे में हमारी एक निश्चित विचारधारा है। यह समझा जाता है कि भारतीय स्त्रियाँ पवित्र और ईश्वरीय (Divine) हैं। इस विचारधारा के ठीक विपरीत हमारी यह भी धारणा है कि रजस्वला के कारण स्त्रियाँ अशुद्ध और प्रदूषित हैं। कुछ लोगों का विचार है कि उच्च जाति की स्त्रियाँ पतिव्रता और श्रद्धालु होती हैं। उनमे दया, ममता कूट–कूट कर भरे होते हैं। ठीक इसके विपरीत यह भी धारणा है कि निम्न जाति की स्त्रियाँ भ्रष्ट चरित्र की होती हैं और उन पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। एक सामान्य धारणा यह भी है कि काम–वासना की दृष्टि से स्त्रियाँ खतरनाक हो सकती हैं। आम धारणा यह भी है कि स्त्रियाँ कमजोर हैं और पुरुषों पर निर्भर हैं।

स्त्रियों के सम्बन्ध में ये सब धारणाएँ बहुत ताकतवर हैं और समाज के प्रत्येक भाग में किसी न किसी तरह इनकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरी बात यह है कि ये धारणाएँ सामान्यतया परस्पर विरोधी (Contradictory) हैं। धारणाओं के परस्पर विरोधी होने का कारण यह है कि स्त्रियाँ भी भारत की सोपानिक व्यवस्था की अंग हैं। उच्च जातियाँ निम्न जातियों की स्त्रियों को चरित्रहीन मानती हैं और दूसरी ओर निम्न जातियाँ उच्च और मध्यम वर्ग की स्त्रियों को पूर्वाग्रह के साथ देखती हैं। ऐसी अवस्था में जब स्त्रियों की पस्थिति का मूल्यांकन करते हैं तब हमें उनसे जुड़ी हुई विचारधाराओं को भी देखना चाहिये।

संरचनात्मक दृष्टि से समाज में स्त्रियों का स्थान पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण है। पिता समझता है कि स्त्री ''परायाधन'' है। एक न एक दिन उसे पति के घर जाना है। यह भी समझा जाता है कि इसी पति सत्तात्मक व्यवस्था के कारण बचपन में उसकी देखभाल माता–पिता करते हैं, पत्नी की प्रस्थिति में पति उसे संरक्षण देता है और वृद्धावस्था में पुत्र उसकी देखभाल करता है। सामाजिक प्रस्थिति के लिये, एक बहुत बड़ा कारण पितृवंश का है। हिन्दुओं में वंश की परम्परा पिता के वंश (Lineage) से चलती है। लड़का ही पिण्डदान देता है। पिण्डदान से मोक्ष मिलता है। मोक्ष की इस प्राप्ति में स्त्री का कोई योगदान नहीं हैं। दहेज प्रथा का उद्गम भी पितृवंश के कारण है। आदिवासियों में जहाँ स्त्रियों को दहेज नहीं दिया जाता और वधूमूल्य चुकाया जाता है, वहाँ उनकी प्रस्थिति उच्च हो जाती है। ये सब संरचनात्मक पहलू हैं जो स्त्रियों की समाज में प्रस्थिति को निश्चित करते हैं।

# स्त्रियों की प्रस्थिति : ऐतिहासिक संदर्श
# (Status of Women : Historical Perspective)

भारत में स्त्रियों की प्रस्थिति बराबर विवादास्पद रही है। एक तरफ उसे महिमा मण्डित किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ उसे "ढोर, गँवार, शूद्र और पशु" समझा जाता है। जब कभी स्त्रियाँ रोती हैं, आँसू टपकाती हैं या दहेज की यातना के कारण आत्महत्या करने जाती है, तब उन्हें बड़ा दिलासा दिया जाता है। कहा जाता है कि भारतीय समाज में हमेशा से उनका स्थान गौरवपूर्ण रहा है। ऐसी स्थिति में यह बहुत आवश्यक है कि हम स्त्रियों की प्रस्थिति को इतिहास की आँख से देखें। वैदिक काल में वास्तव में स्त्रियों की स्थिति कोई बहुत खराब नहीं थी। इस काल में गार्गी, अत्रौयी, लोपामुद्रा, अपाला जैसी साध्वी स्त्रियाँ इस देश में थी। इन स्त्रियों का वैदिक सहिताओं के निर्माण में बड़ा हाथ था। लेकिन इस काल में पितृ सत्तात्मक व्यवस्था अवश्य थी। जन्म के बाद वैदिक काल में पुरुष और स्त्री में कोई भेदभाव नहीं था। लड़कों की तरह लड़कियों का भी उपनयन (जनेऊ) संस्कार होता था। विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति थी। उच्च शिक्षा जिसमें वैदिक अध्ययन भी सम्मिलित था, स्त्रियों को उपलब्ध था। वैदिक शब्द दम्पत्ति का अर्थ ही यह है कि घर–बार में स्वामित्व का अधिकार पुरुष और स्त्री दोनों को था।

बौद्ध धर्म के काल में स्त्रियों की स्थिति में खराबी आने लगी। धर्म के क्षेत्र में तो स्त्रियाँ पुरुष के बराबर थीं, यहाँ तक कि वश्याओं को भी बौद्ध धर्म स्वीकार करने का अधिकार था लेकिन बाद में चलकर स्त्रियों की प्रस्थिति में गिरावट आने लगी। उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों के ऊपर पतिव्रता का मुखौटा लगा दिया गया। अब वे सार्वजनिक जीवन में नहीं आ सकती थी। धर्म के नाम पर ये स्त्रियाँ केवल व्रत और उपवास ही रख सकती थी और जब मुस्लिम आक्रमण हुआ यानी मध्यकाल आया तब स्त्रियों की प्रस्थिति में बहुत बड़ा पतन हुआ। सूफी सन्तों ने जो भक्ति आंदोलन चलाया उससे स्त्रियों को थोड़ा बल मिला। मीरा, मुक्ताबाई, गंगू बाई भक्ति के क्षेत्र में आयी। लेकिन यह प्रयास आध–अधूरा था। मुस्लिम आक्रमण ने बाल विवाह आरम्भ कर दिया। अब हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियाँ पर्दे में आ गयी। उनकी पढ़ाई–लिखाई बन्द हो गयी।

ब्रिटिश काल में स्त्रियों की प्रस्थिति में थोड़ा सुधर आया। राजा राममोहन ने स्त्रियों के अधिकार के लिये लड़ाई लड़ी। उन्होंने सती प्रथा का विरोध किया और इसके लिए कानून भी बना। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री शिक्षा के लिये सुधर आंदोलन किये। विद्या सागर ने उस जमाने में लगभग 21,000 हस्ताक्षर सरकार को दिये और आग्रह करके यह कहा कि विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिया जाना चाहिये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति और भारतीय संविधन में स्त्रियों के अधिकारों के लिये एक नया इतिहास प्रारम्भ किया। अब कम से कम सिद्वान्त रूप में तो स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार मिल गये, समान वेतन मिल गया, भेदभाव दूर हो गया। लेकिन आनुभविक स्तर पर स्त्रियों की प्रस्थिति में कोई विशेष अन्तर आया हो, ऐसा नहीं है। हमारा यह बयान सही नहीं लगेगा। यह इसलिये कि आज बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियाँ विश्वविद्यालय के परिसर में शिक्षा ग्रहण करती हैं। उनमें व्यावसायिक शिक्षा भी लोकप्रिय हो रही है। लेकिन हमारा बयान सही भी है। सही इसलिये कि आज भी जयपुर (राजस्थान) की भँवरी-देवी जैसी कई देवियाँ हैं जो गाँव–गाँव में प्रताड़ित हैं। हम यह आग्रहपूर्वक कहना चाहत हैं कि जब समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति का लेखा–जोखा किया जाता है, तब हमें गाँवों की स्त्रियो पर भी बराबर अपनी पैनी आँख रखनी चाहिये।

## जनांकिकीय रूपरेखा (Demographic Profile)

जनसंख्या की संरचना का अध्ययन कई आधरों पर किया जा सकता है, जैसे–लिंग, आयु, व्यावसायिक वितरण, धर्म, शिक्षा, ग्रामीण एव शहरी जनसंख्या आदि। यहाँ हम भारत की जनसंख्या का लैंगिक आधार पर विश्लेषण करेंगे। यह धारणा है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में शारीरिक श्रम करने की शक्ति कम होती है, और इसलिए यह उत्पादन कार्यों में उतना हाथ नहीं बँटाती है। एक बात और है जिस देश में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होती है, वहाँ जनसंख्या वृद्धि की सम्भावना भी अधिक होती है। दूसरी ओर, यह भी कहा जाता है कि जिस देश में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की तुलना में कम होती है, वहाँ वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, बलात्कार तथा समलैंगिकता आदि सामाजिक बुराइयाँ अधिक होती हैं। दूसरी तरफ यदि स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की संख्या अधिक होती हैं तब बाल–विवाह के कारण पति–पत्नी की आयु में काफी अन्तर हो जाता है जिसका परिणाम वैधाव्य में होता है।

## पुरुष–स्त्री अनुपात (Male-female Ratio)

भारत की जनसंख्या की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहाँ स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की संख्या अधिक है। दूसरे शब्दों में, भारतीय जनसंख्या पुरुष बहुल है। सन् 1991 की जनसंख्या के अनुसार, भारत में 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 927 है जबकि 1901 में यह संख्या 972 थी। यह रुचिकर बात है कि पिछले 90 वर्षों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या में निरन्तर कमी आयी है। इसे हम निम्न तालिका में स्पष्ट करेंगे :

सन् 1901 से 1991 की बीच पुरुष–स्त्री अनुपात

| क्र.सं. | जनगणना वर्ष | लिंग अनुपात | क्र.सं. | जनगणना वर्ष | लिंग अनुपात |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. | 1901 | 972 | 7. | 1961 | 941 |
| 2. | 1911 | 964 | 8. | 1971 | 930 |
| 3. | 1921 | 955 | 9. | 1981 | 935 |
| 4. | 1931 | 950 | 10. | 1991 | 927 |
| 5. | 1941 | 945 | 11. | 1993 | 944 |
| 6. | 1951 | 946 | | | |

तालिका से स्पष्ट है कि सन् 1901 से 1971 तक पुरुष–स्त्री अनुपात में बराबर गिरावट आती रही है। 1971–1981 के दशक में लिंग अनुपात कुछ बढ़ा परन्तु 1981–1991 के दौरान पुनः घट गया। इस स्थिति के लिये कोई एक कारण उत्तरदायी नहीं है फिर भी बाल–विवाह, लड़कियों की उपेक्षा, प्रसव सम्बन्धी सुविधओं का अभाव, स्त्रियों का घरेलू काम–काज में दबे रहना, आदि उल्लेखनीय कारण हैं। कुछ जननांकिकीयवादियों का कहना है कि हमारे यहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होने का प्रभावशाली कारण यह है कि यहाँ गर्भावस्था के समय स्त्रियों की बहुत बड़ी संख्या में मृत्यु हो जाती है।

यदि हम पुरुष–स्त्री अनुपात को राज्य के स्तर पर देखें तो स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। लगभग सभी राज्यों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या कम है। हाल में इस कमी का जो विश्लेषण हुआ है इसमें एक महत्वपूर्ण तथ्य और सामने आया है। पहली बात तो यह है कि हिन्दुओं की मान्यता है कि पुरुष जन्म वंशावली को आगे बढ़ाता है, पितृवंश को पुष्ट करता है और पिण्डदान देकर मोक्ष देता है। इसके अतिरिक्त यह भी समझा जाता है, और यह तथ्य अधिक वजनी है कि वृद्धावस्था में पुत्र माता–पिता की देखभाल करेगा, उन्हें रोटी–पानी देगा। परम्परागत परिवार में जहाँ संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, यह दृढ़तापूर्वक माना जाता है कि पुत्र माता–पिता को संरक्षण देगा। इस धारणा को आधुनिक चिकित्सा तकनीकी ने बल दिया है। गैर–कानूनी तरीके से सोनोग्राफी द्वारा अब प्रसव से पहले लिंग का ज्ञान कर लिया जाता है और इस तरह जन्म से पहले ही स्त्री–लिंग की भ्रूण हत्या करा दी जाती है। स्थिति ये हो गयी है कि कुछ राज्यों में तो माँ के लिये बहू को लाना बहुत कठिन कार्य हो गया है। कुछ राज्य भी है जहाँ गाँव के गाँव ऐसे है। जहाँ 10 वर्ष की कन्याएँ नगण्य हैं। यह अनुपात भयानक है।

लिंग अनुपात को गाँव एवं नगर के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। यदि हम लिंग अनुपात के आँकड़ों को गाँव और नगर के आधार पर देखें तो इनका असंतुलन स्पष्ट हो जायेगा। शहरों की अपेक्षा गाँवों में लिंगानुपात अधिक है। गाँवों की अपेक्षा नगरों में पुरुषों की संख्या अधिक होने का एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि गाँव के पुरुष रोजगार के लिये नगर चले जाते हैं, जबकि उनका परिवार गाँव में ही रहता है। इस तरह का प्रवास गाँवों के लिंग के अनुपात को गड़बड़ा देता है।

जब हम स्त्री और पुरुष के लिंग अनुपात को देखते हैं तो यह सारे देश की जनांकिकी को भयावह बना देता है। शहरों में इस लैंगिक अनुपात के कारण कई समस्याओं ने जन्म ले लिया है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हम यह नहीं देखते कि इस अनुपात के बिगड़ने से सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में असंतुलन आ जायेगा। प्रकृति इस तरह से काम करती है कि समाज का सामान्य अनुपात बना रहता है लेकिन जब चिकित्सा तकनीकी इसमें हस्तक्षेप करती है, तब इसके परिणाम समाज के लिये घातक हो जाते हैं। लिंग अनुपात के असंतुलन के कारण गरीबी बढ़ने की सम्भावना अधिक हो जाती है। लड़कियों की उपेक्षा से, उनका कुपोषण प्रारम्भ हो जाता है और भाई–बहिन का समाजीकरण विषम हो जाता है।

# स्त्रियों की विशेष समस्याएँ (Special Problems of Women)

स्त्रियों की समस्याओं के सम्बन्ध में आजकल बहुत कुछ कहा जा रहा है। समस्याएँ भारतीय स्त्रियों की ही नहीं हैं, सम्पूर्ण नारी जाति की समस्याएँ हैं और इनकी व्यापकता वैश्वीय है। आजकल जेण्डर समस्या के बारे में बहुत कुछ लिखा जा रहा है। यह तर्क दिया जाता है कि जैवकीय दृष्टि से पुरुष और स्त्री दोनों समान हैं। इस समानता के होते हुए फिर स्त्रियों की विशेष समस्याएँ क्यों? ऐसा समझा जाता है कि स्त्रियों की जो भी समस्याएँ हैं, वे सामाजिक और सांस्कृतिक हैं और इसके लिये सामाजिक व्यवस्था उत्तरदायी है। स्त्रियों की समस्या का यह सम्पूर्ण मसला भेदभाव (Discrimination) का है। इस दृष्टि से देखें तो दुनियाँभर की स्त्रियों के सामने कुछ समस्याएँ हैं और जो सभी पर लागू होती हैं। यह होते हुए भी हमारे देश की स्त्रियों की समस्याएँ कुछ विशेष हैं। दहेज प्रथा के कारण स्त्रियों के माता–पिता, नातेदारों और स्वयं स्त्रियों को जो अवमानना (Humiliation) उत्पीड़ना और यातना उठानी पड़ती है, वह संसार की अन्य स्त्रियों को नहीं उठानी पड़ती। इसी प्रकार स्त्रियों के साथ जो अत्याचार होते हैं, मारपीट होती है, वह इस देश की ही विशेषता है। ऐसा लगता है कि स्त्रियों की ये सब समस्याएँ ऐतिहासिक और हिन्दू समाज की प्रकृति के कारण है। हिन्दू समाज अपनी सोपानिक व्यवस्था में स्त्रियों को उच्च स्थान नहीं देता। यह ठीक है कि प्राचीनकाल में स्त्री और पुरुष में कोई भेदभाव नहीं था। यह भी ठीक है कि स्त्रियों के लिये पढ़ाई–लिखाई के दरवाजे खुले थे। लेकिन यह भी ठीक है कि समय की करवट के साथ स्त्रियाँ पर्दे के पीछे आ गयीं, पति उसका परमेश्वर हो गया और सोपानिक व्यवस्थ में वह निम्न स्तर पर आ गयी। आज समाज में जो कुछ भी उसकी पहचान (Identity) है, वह उसके पिता, पति और पुत्र के कारण है। अपने स्वयं में वह कोई हस्ताक्षर नहीं है। यहाँ हम भारतीय स्त्रियों की कुछ विशेष समस्याओं का उल्लेख करेंगे।

## पितृस्थानीय (Patrilocality)

पितृस्थानीय निवास की व्यवस्था सबसे गम्भीर समस्या है। इसमें विवाह के बाद स्त्री को अपने पति के घर रहना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने पिता के परिवार से हमेशा के लिए छूट जाती है। परम्परागत कहावत तो यह है कि स्त्री पिता के यहाँ से डोली में बैठकर पति के यहाँ जाती हैं और वहाँ से वापस लौटने का उसके सामने कोई विकल्प नहीं है। मृत्यु के बाद वह सीधी अर्थी पर चढ़कर श्मशान जाती हैं। विधवा होने पर भी, पिता के यहाँ उसके लिये कोई स्थान नहीं होता जो एक और खराब स्थिति है। उत्तर भारत में जहाँ हिन्दुओं में विवाह अपने गाँव से बाहर होता है वहाँ तो स्त्री हमेशा के लिये अपने पति के परिवार से ही नहीं गाँव से भी दूर हो जाती है। इसी कारण जब दहेज आदि के उत्पीड़न से परेशान होकर ससुराल छोड़ना चाहती है, तब उसके लिये बहुत बड़ी समस्या हो जाती है।

### पितृवंशीय वंशानुक्रम (Patrilineal Inheritance)

पितृस्थानीय समस्या उत्तरी भारत और दक्षिण भारत के अधिकांश राज्यों के लिये समस्या है, उसी तरह पितृवंशनुक्रमण भी बहुत बड़ी समस्या है। यह ठीक है कि भारतीय दण्ड संहिता ने परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों को अधिकार दिया है, लेकिन अब भी प्रथागत कानून के अनुसार स्त्रियाँ इस अधिकार को नहीं ले पातीं। शहरों में रहने वाली मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ भी अपने इस अधिकार का दावा नहीं कर पातीं। इन स्त्रियों को बराबर यह भय बना रहता है कि यदि वे पिता की सम्पत्ति पर अपने अधिकार का दावा करेंगी तो भाइयों के साथ उनके सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्रीधन के अतिरिक्त स्त्रियों के पास अपनी कोई निजी सम्पत्ति नहीं होती।

एक और नया मोड़ मातृस्थानीय परिवारों में देखने को मिल रहा है। केरल, लक्षद्वीप तथा पूर्व में अरुणाचल राज्य में जहाँ मातृसत्तात्मक परिवार हैं वे शीघ्रता से पितृसत्तात्मक परिवार के प्रतिमान को अपना रहे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वहाँ भी स्त्रियों को माता की सम्पत्ति से कुछ नहीं मिलता। खासी जनजाति में तो अब यह कहा जाता है कि पितृसत्तात्मक पारसियों जनजाति की पहचान के लिये महत्वपूर्ण हैं। यह सारी स्थिति ऐसी है जिससे स्त्रियाँ घबरा गयी हैं। आज जो जेण्डर की समस्या है या नारी आंदोलन उभर रहा है उसके पीछे पितृस्थानीय तथा पितृवंशीय वंशानुक्रम की समस्या एक प्रभावी समस्या है।

## दहेज (Dowry)

भारतीय स्त्रियों की दहेज एक और विशेष समस्या है। हाल के वर्षों में नव–जवान विवाहित स्त्रियों की मृत्यु की घटना ज्यादा हुई जिन्हे दहेज की शिकार कहा गया है। स्वैच्छिक संगठनों ने अपनी आवाज उठाते हुए दहेज के मुद्दे का विरोध किया है। नव–जवान विवाहित स्त्रियों की हत्या या स्वयं उनके द्वारा आत्महत्या करना समाचार पत्रों के सामान्य शीर्षक हो गये। इस दबाव के कारण दहेज निषेध

अधिनियम, 1961 तथा 1984 में संशोधन हुआ। सन् 1986 में इस अधिनियम में पुनः संशोधन किया गया। अब इस कानून के तहत न्यायालय के पास यह शक्ति आ गयी है कि वह अपने ज्ञान के आधार पर या किसी मान्यता प्राप्त कल्याण संस्था की शिकायत पर उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सके। इन अपराध की जाँच ठीक प्रकार से [illegible] के लिये अ–जमानती बना दिया गया है। भारतीय दण्ड संहिता में एक नया अनुच्छेद जोड़ा गया है जिसे दहेज हत्या कहा जाता है। भारतीय साक्षी अधिनियम में भी कुछ संशोधन हुए हैं जिससे गवाह जुटाने की परेशानी से बचा जा सके। लड़की की मृत्यु विवाह के सात वर्षों के अन्दर असामान्य परिस्थितियों में हुई हो तो इसमें पति या उसके परिवार वालों को प्रमाण देने के लिये उत्तरदायी ठहराया गया है। इस संशोधन में यह प्रावधन भी है कि वे दहेज निषेध अधिकारी नियुक्त कर दें, और दहेज सम्बन्धी मुद्दों को देखने के लिए एक कमेटी भी बिठा दें। दहेज के मुद्दों को प्रभावशाली ढंग से निपटाने के लिये दहेज विरोधी प्रकोष्ठ की स्थापना की गयी है।

इस पुस्तक में अन्यत्र हमने लिखा है कि दहेज की समस्या देश की सम्पूर्ण स्त्रियों की समस्या नहीं है। पहली बात तो यह है कि यह प्रथा अपने भयंकर स्वरूप में उच्च जातियों में पायी जाती है। उच्च जातियों में भी वैश्य जातियाँ इसकी विशेष शिकार हैं। निम्न जातियों में सामान्यतया दहेज प्रथा नहीं है। अगर आँचलित दृष्टि से देखें तो यह प्रथा उत्तर की हिन्दू जातियों में अधिक है और दक्षिण अँचलों में इसका प्रभाव नगण्य है। इधर उत्तर–पूर्व में जहाँ जनजाति जनसंख्या बहुल है, दहेज का कोई चलन नहीं है। यहाँ तो वधू मूल्य प्रचलित है। मुसलमानों, आदिवासियों, ईसाइयों और पारसियों में दहेज प्रथा नहीं पायीं जाती।

## अत्याचार (Atrocities)

स्त्रियों के साथ भारतीय समाज में हमेशा क्रूरता और शोषण का व्यवहार रहा है। तुलसीदास ने तो कहा है कि जिस प्रकार गाय, भैंस या बकरी को डंडा मारकर सीधे रास्ते पर लाया जा सकता है, वैसे ही स्त्रियों को भी मारपीट द्वारा सही रास्ते पर लाया जा सकता है। अगर हम प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषाओं के साहित्य को देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सारे देश में स्त्रियों के साथ पुरुष मार–पीट करते आ रहे हैं। मुंशी प्रेमचंद का गोदान एक शास्त्रीय उपन्यास है। इसका नायक होरी भारतीय किसान का प्रतिबिम्ब है–एकदम गरीब और ठेठ देहाती। उसे जब कभी गाँव के मुखियाओं या जमींदार पर क्रोध आता है तब वह अपनी पत्नी धनिया को पीट देता था। जैसे धोबी का गुस्सा उसकी पत्नी पर उतरता है वैसे ही आदमी का गुस्सा उसी औरत पर उतरता है। अब दक्षिण भारत की स्त्रियों की स्थिति को देखें। बूकर पारितोषिक पाने वाली अरुन्धती रॉय की पुस्तक दि गोड ऑफ स्माल थिंग्स में बताती है कि दक्षिण और पूर्वी भारत में आदमी जब दारू पीकर आता है तब उसका पहला क्रोध उसकी पत्नी और बच्चों पर उतरता है। गुजराती और मराठी में भी ऐसा पर्याप्त साहित्य है जो बताता है कि स्त्रियों के साथ हमेशा पुरुष ने शोषण का व्यवहार किया है। रुचिकर बात यह कि पढ़ी–लिखी और वेतन पाने वाली स्त्री पर भी पुरुष मार–पीट कर देता है। स्त्रियों के पति द्वारा क्रूरता और मारपीट के कई दृष्टान्त हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने निर्दयता के चरों की पहचान की है। इसके अन्तर्गत वे गाली–गलोच करना, बाल खींच लेना चिमटी भर लेना, और शारीरिक मारपीट करना सम्मिलित करते हैं। स्त्रियों के साथ जो निर्दयता बरती जाती है उस पर अभी कोई समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं हुए हैं।

भारतीय संसद महिलाओं के इन अत्याचारों के प्रति जागरूक रही हैं। क्रूरता की इन घटनाओं के प्रतिवाद स्वरूप भारतीय संसद ने अपराध कानून अधिनियम 1983 का प्रावधन किया है। संशोधन के अनुसार कोई भी घरेलू अत्याचार या क्रूरता, जो पति या पति के रिश्तेदारों द्वारा किया गया हो कानूनन एक अपराध होगा। भारतीय साक्षी अधिनियम में भी कुछ लाभदायक संशोधन हुए हैं। इसके अनुसार अगर कोई विवाहिता स्त्री विवाह के 7 वर्ष के अंदर आत्महत्या कर लेती है तो कानून यह सोच सकता है कि उसे इसके लिये उसके पति या पति के रिश्तेदारों ने उकसाया होगा। बलात्कार के लिये भी सरकार ने अपराधी अधिनियम 1983 में संशोधन किया है। इस संशोधन के अनुसार बलात्कार की शिकार युवती को जाँच के दौरान जन–प्रचार से बचाया जायेगा। साथ ही यह बलात्कार की परिभाषा को परिवर्तित कर उसमें से रजामंदी को हटाया जायेगा। इस अपराध में होने वाली सजा को भी बढ़ाया गया है।

### स्त्रियों के साथ अभद्र प्रदर्शन

मीडिया में प्रायः स्त्रियों को अभद्र रूप में प्रदर्शित किया जाता है। यह भी एक निर्दयता है। इसे रोकने के लिये अभद्र प्रदर्शन (निषेध) अधिनियम, 1986 बनाया गया है। इस नियम ने किसी भी रूप में महिला के अभद्र प्रदर्शन पर रोक लगाई है। स्त्री के किसी भी अंग का इस प्रकार का प्रदर्शन जो देखने में अभद्र हों, जो उसके चरित्र को भ्रष्ट दिखाये या जिससे उसके चरित्र पर लांछन लगाये और लोगों की नैतिकता की अति हो, इन सब पर नियंत्रण लगाया गया है।

### लिंग निर्धारण परीक्षण

जब बच्चा भ्रूण में ही होता है तब उसके साथ घोर अन्याय किया जाता है। संसार में आने से पहले ही उसे मार दिया जाता है। यह सब लिंग निर्धारण परीक्षण के अनुचित प्रयोग के कारण है। मेडिल टर्मीनेशन ऑफ प्रेगनैन्सी अधिनियम 1971 के अनुसार भारत में गर्भपात अब अवैध नहीं है। कुछ राज्य सरकारों ने लिंग निर्धारण परीक्षण पर पाबन्दी लगा दी है।

## स्त्री आंदोलन : नई चुनौतियाँ
## (Women's Movement : New Challenges)

आज नारी आंदोलन अपनी पूर्ण गति में है। इस गति को वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण ने अधिक तीव्र कर दिया है। इस आन्दोलन के कई नाम हैं–महिलावाद (Feminism), नारी मुक्ति आंदोलन (Women's Liberation Movement), और दुनियाँ के विभिन्न भागो में इसे कई अन्य नामों या नारों द्वारा जाना जाता है। वहाँ के समाज विज्ञानों में अपनी स्थानीय समस्याओं के अन्तर्गत जेण्डर समस्या (Gender Problem) को महत्त्व दिया जाता है। हमारे यहाँ भी नारी आंदोलन चल रहा है और उसे गति देने में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और शहर की पढ़ी–लिखी स्त्रियों का योगदान विशेष है।

स्त्रियों के इस नये आंदोलन से पहले ब्रिटिशकाल में राजा राममोहनराय ने इस आंदोलन को शुरू किया था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने रूढ़िवादी हिन्दुओं का विरोध किया और नारी सुधार की बात कही। राममोहनराय की विशेषता यह है कि जहाँ 1829 में उन्होने सती प्रथा पर रोक लगाने में सफलता पाई वहीं उन्होंने हिन्दू परम्परा यहाँ तक की मनुस्मृति की खिलाफत भी नहीं की। उनके बाद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री शिक्षा के मसले को उठाया। दयानंद सरस्वती ने वेदों की उच्चता को स्वीकार करते हुए हिन्दू समाज के सुधर की बात को आगे बढ़ाया। महात्मा गांधी स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने में अग्रणी थे। उन्होंने बाल–विवाह का विरोध किया और कहा कि लड़की की विवाह की न्यूनतम आयु 20 वर्ष होनी चाहिये। वे विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में थे। देवदासी के रूप में चलायी जाने वाली वेश्यावृत्ति का उन्होंने विरोध किया। सन् 1921 के बाद चलने वाले असहयोग आंदोलन में गांधी जी ने स्त्रियों की भागीदारी को पक्का किया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो स्त्रियाँ राष्ट्रीय जीवन की प्रत्येक धारा में कानूनन रूप से पुरुषों के बराबर हो गयी।

भारतीय आधुनिक नारी आंदोलन को पश्चिम के नारी आंदोलन से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। विदेशों में जो नारी आंदोलन चल रहा है उसके पीछे कुछ पुख्ता कारण हैं। वहाँ आधुनिकता, तार्किकता, प्रजातन्त्र, औद्योगिक पूँजीवाद और तकनीकी आ गये है। इसके परिणामस्वरूप स्त्रियों ने अपने अधिकारों की माँग रख दी है। वहाँ वह बहुत बड़ा ऐतिहासिक हादसा हुआ। यूरोप में सामन्तवाद की समाप्ति के बाद पूँजीवाद आया और इस पूँजीवाद ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया। इसी समय यूरोप में एक और घटना घटी। वहाँ कैथोलिक धर्म कमजोर हो गया और उसका स्थान प्रोटेस्टेन्ट धर्म ने ले लिया। कैथोलिक धर्म सदैव से स्त्रियों के आगे बढ़ने का विरोधी था। इसका कहना था कि स्त्रियाँ बुराई की जड़ हैं, कामवासना अपने स्वयं में भ्रष्ट है। प्रोटैस्टेन्ट सम्प्रदाय ने स्त्रियों की नई परिभाषा की। अब कामवासना की छूट हो गयी। इस धर्म ने कहा कि एक स्त्री को प्रसन्न रहना चाहिये और विशेष करके अपने पति के प्रति प्रसन्नता का नजरिया अपनाना चाहिये। अतः पश्चिम में नारीवाद का मतलब बदलती हुई दुनियाँ को समझना था। अब स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर अधिकार की माँग करने लगी। मार्क्सवाद ने महिला आंदोलन को नई दिशा दी। उसकी विचारधारा में महिलाओं को दबाना, एक प्रकार का शोषण है। और मार्क्सवाद शोषण का सदैव विरोधी रहा है।

सन् 1960 के दशक में यूरोप में क्रान्तिकारी नारीवाद का जन्म हुआ। यह नया नारीवाद केवल कानूनी समानता नहीं चाहता और न यह वर्ग के मुद्दे को उठाता है। उसका यह कहना है कि स्त्रियों का दमन जैविकीय आधर पर किया जाता है। स्त्रियों की जननेंद्रियाँ पुरुषो से भिन्न हैं और यही उनकी कमजोरी है। इससे वे मुक्ति चाहती हैं। उनके ऊपर प्रजनन और मातृत्व का बोझ होता है और इसी के कारण आदमी उनका शोषण करता है। आज जो परिवार नियोजन के साधन उपलब्ध हैं इसके द्वारा अब इन नई स्त्रियों में गर्भाधारण करना उनके हाथ की बात हो गयी है। यह भी नारीवाद का एक पहलू है। विदेशों में तो उत्तर आधुनिकता ने नारीवाद को एक नई हवा दी है। अब उत्तर आधुनिकतावादी स्त्रियाँ अपने आपको हर तरह से पुरुषों से मुक्ति चाहती हैं।

भारत में हम आज नारी आंदोलन के क्षेत्र में कहाँ खड़े हैं? पिछले स्त्री आंदोलन के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि हमने सामाजिक विधन के लिये एक पृष्ठभूमि तैयार की थी। बाल–विवाह पर प्रतिबन्ध के लिये 1929 में शारदा अधिनियम बना। मुस्लिम महिलाओं के लिये विवाह विच्छेद का प्रावधन (Muslim Marriage Act, 1940) रखा गया और इसके बाद 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम पारित

हुआ। लेकिन ये सब अधिनियम सामान्यतया केवल कागजी अधिनियम सिद्व हुए। 1960 और 70 के दशक में हमारे यहाँ नारी आंदोलन ने एक नया स्वरूप ग्रहण किया। कुछ नये मंच हमारे सामने आये इनमें सहेली, सहीवार, मानूषी, स्त्री–शक्ति, नारी समता मंच, विमोचना, चिंगारी, महिला संघर्ष समिति आदि सम्मिलित हैं। इन समाचार पत्रों और मंचों का नेतृत्व कुछ ऐसी स्त्रियों के हाथ में है। जो जुझारु हैं। इस आंदोलन का विरोध स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार, बलात्कार, मद्यपान कर स्त्रियों के साथ पिटाई, दहेज, हत्या, परिवार में मार–पीट, कामकाजी महिलाओं की समस्याएँ, वेश्यावृति, निम्न जाति की स्त्री का शोषण तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ से हैं।

जो भी लोग आज के आधुनिक भारत में जागरूक है। वे सब स्त्री आंदोलन से रू–ब–रू हैं। बड़े शहरों में जहाँ कहीं स्त्रियों पर अत्याचार होता है, ये आंदोलन मंच पर आ जाते हैं। भारत में स्त्री आंदोलन का सबसे बड़ा मुद्दा जो शायद बुनियादी मुद्दा है, पितृवंशीय व्यवस्था का है। स्त्रियों की पददलित स्थिति का बहुत बड़ा कारण पितृवंश और पितृस्थानीय व्यवस्था है। ऐसा लगता है कि शिक्षा की व्यापकता और वैश्वीकरण के फैलाव के साथ यह आंदोलन गाँवों की चौपाल तक भी पहुँच जाएगा।

## सामाजिक तनाव

### आतंकवाद (Terrorism)

आतंकवाद एक ऐसी समस्या है जिसका भारत में हम तीन दशकों से अधिक से सामना कर रहे हैं। इससे पहले नागा और मिजों विद्रोहियों से निबटते समय हमने उत्तर–पूर्वी भारत में विद्रोह की समस्या और बंगाल में नक्सलवादियों के आतंकवाद का सामना किया था। आज आतंकवाद को ऐसी समस्या माना जाता है जो न केवल राष्ट्रीय किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी अस्थिर कर सकती है। जिन कारकों ने आतंकवाद को व्यक्तियों द्वारा वांछित लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन बनाया है, वे हैं : 'उद्देश्य' की विशुद्धता (purity) में दृढ़ विश्वास, कट्टर (fanatical) निष्ठा, हिंसात्मक आदर्शवाद, आत्म–बलिदान की इच्छा, तानाशाही (absolutism) की भावना, और विदेशों से वित्तीय एवं भौतिक सहायता।

### अवधारणा (The Concept)

आतंकवाद क्या है? विशेषज्ञों की मान्यता है कि इसकी एक एकल परिभाषा सम्भव नहीं है। 1936 और 1981 के मध्य 1090 परिभाषाएँ दी गई थीं (Aplex, Schmid, Political Terrorism : A Research Guide) और कुछ अब भी दी जा रही हैं। फिर भी आतंकवाद की जो सामान्य धारणा है (जो यद्यपि अस्पष्ट है) उसके अनुसार ''आतंकवाद हिंसा या हिंसा की धमकी के उपयोग द्वारा लक्ष्य–प्राप्ति के लिए संघर्ष/लड़ाई की एक विधि व रणनीति हे एवं अपने शिकार (victim) में भय पैदा करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यह क्रूर (rutheless) व्यवहार है जो मानवीय प्रतिमानों का पालन नहीं करता। इसकी रणनीति में प्रचार एक आवश्यक तत्त्व है।''

आतंकवाद, विद्रोह (insurgency) या उपप्लव, गृह–युद्ध, क्रान्ति, गुरिल्ला युद्ध, अभित्रास (intimidation), (भयभीत करना) और उग्रवाद जैसे शब्द बहुधा एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग किए जाते हैं और इनका उपयोग मुक्त रूप से होता है। इन सबमें 'हिंसा' सर्व–सामान्य (common) है। आतंकवाद अभित्रास की एक संगठित पद्धति हैं मोटे तौर पर उसे यह कहकर परिभाषित किया जाता है कि यह ''एक हिंसक व्यवहार है जो समाज या उसके बड़े भाग में राजनैतिक उद्देश्यों से भय पैदा करने के इरादे से किया जाता है।'' इसको ऐसे भी परिभाषित किया जाता है कि ''यह एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा एक संगठित समूह अथवा दल अपने प्रकट उद्देश्यों की प्राप्ति मुख्य रूप से हिंसा के योजनाबद्ध उपयोग से करता है'' (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज)।

आतंकवादी कार्यवाहियों का निशाना (target) वे व्यक्ति होते हैं जो व्यक्तिगत कर्ता के रूप में अथवा सत्ता के प्रतिनिधि के नाते ऐसे समूह अथवा संगठन के उद्देश्यों की परिपूर्ति में बाधा डालते हैं। एक 'आतंकवादी' वह है जो अपने संगठन द्वारा निर्धारित किए गए दण्ड को उन व्यक्तियों पर लागू करता है जो क्रान्तिवादी कार्यक्रम में बाधा पहुँचाने के लिए दोषी माने जाते हैं। आतंकवादी धमकी नहीं देता है, अपितु मृत्यु या विध्वंसकता (destruction) उसके कार्य के कार्यक्रम का भाग है। यदि उसे बन्दी बना लिया जाता है तो वह अपनी निर्दोषता को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु वह अपने सिद्धान्तों को प्रचारित करता है।

यद्यपि आतंकवाद, विद्रोह (insurgency) और क्रान्ति (revolution) के दीर्घकालीन उद्देश्य एक से है, अर्थात् विद्यमान शासन अथवा व्यवस्था को समाप्त कर देना, परन्तु उनके अल्पकालिक उद्देश्य, रणनीति या प्रणाली भिन्न हो सकती है।

एक मत यह है कि उपरोक्त परिभाषाएँ उस आतंकवाद से संबंधित हैं जो 'राज्य के विरोधियों' द्वारा अपनाया जाता है। एक दूसरा आतकवाद होता है जो 'राज्य के तंत्र' द्वारा अपनाया जाता है। उपरोक्त परिभाषाओं में आतंकवाद की पिछली किस्म सम्मिलित नहीं है। आतंकवाद की कला से सबसे बड़े कार्यान्वित करने वालों, जैसे हिटलर, स्टालिन, माओ, याहिया खान, मुसोलिनी, और फ्रैन्को को इन परिभाषाओं को मद्देनजर रखते हुए 'आतंकवादी' नहीं कहा जा सकता। राज्य के द्वारा किया गया आतंकवाद उस हिंसा का उल्लेख करता है जो इतने–कानूनी (extra-legal) तरीकों पर आधारित होता है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि राज्य द्वारा की गई सब हिंसाएँ आतंकवाद नहीं होती। वास्तव में, एक संगठित राज्य को कभी–कभी कुछ उद्देश्यों के लिए हिंसा का प्रयोग करना पड़ता है। प्रजातान्त्रिक राज्य सामान्यतया अपने उद्देश्यों के लिए हिंसा का प्रयोग करना पड़ता है। प्रजातान्त्रिक राज्य सामान्यतया अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कानून तंत्र का उपयोग करते हैं; केवल सर्वसत्तात्मक राज्य (totalitarian states) ही आतंक का उपयोग करते हैं। परन्तु सभी सर्वसत्तात्मक राज्य आतकवादी नहीं होते। उसी प्रकार प्रजातान्त्रिक राज्य भी कभी–कभी आतंक का उपयोग कर सकते हैं।

आतंकवाद की सामान्य परिभाषा में हिंसा की वे सभी किस्में सम्मिलित नहीं है जिनका संगठित समूह प्रयोग करते हैं। वह हिंसा जो विशुद्ध व्यक्तिगत उद्देश्यों के कारण की जाती है, आतंकवाद से अलग हे। इसमें डकैती और लूटमार जैसे संगठित अपराध भी नहीं आते। परन्तु वे सब हत्याएं और डकैतियाँ, जो नक्सलवादियों जैसे सैद्धान्तिक गुटों के द्वारा की जाती है, आतंकवाद के क्षेत्र में आती हैं।

आतंकवाद को 'अभित्रास' (intimidation) और 'विद्रोह' से अलग किया गया है। 'अभित्रास' में, अभित्रास करने वाला फिरौती प्राप्त करने के लिए चोट (injury) की धमकी देता है परन्तु 'आतंकवाद' और 'विद्रोह' में आतंकवादी और विद्रोही वास्तव में हिंसा का उपयोग करते हैं। आतंकवाद व्यक्तियों के बीच की लड़ाई नहीं है, अपितु वह सामाजिक समूहों एवं राजनैतिक शक्तियों के बीच संघर्ष है। उसका व्यक्तियों को व्यक्ति होने के नाते से डराने से कोई सरोकार नहीं है। आतंकवादी उन व्यक्तियों को दण्डित करते हैं जिन्हें उनका संगठन उस कार्यक्रम में बाधा पहुँचाने का दोषी मानते हैं, जिसका लक्ष्य अवांछित सामाजिक या सरकारी प्रणाली को हटाना है। पॉल विल्किसन (1974) के अनुसार, राजनीति में आतंकवाद ब्लैकमेल, जबरदस्ती और अल्पसंख्यकों के संकल्प को बहुसंख्यकों के निर्णय के विरुद्ध और उसके ऊपर लागू करने का हथियार है।

आतंकवाद उत्तेजिक भीड़ व 'सामूहिक हिंसा' (mob violence) से भी भिन्न है। सामूहिक हिंसा अनियोजित व अनियन्त्रित होती है। वह ऐसे तात्कालिक कारण से हो सकती है जो न तो तर्कसंगत हो और न ही नियोजित हो। उसका उद्देश्य सरकारी सत्ता के मनोबल को गिराना और उसकी शक्ति को कमजोर करना होता है। फिर भी कभी–कभी आतंकवाद सामूहिक हिंसा को भी अपना तरीका बना सकता है।

आतंकवाद और 'विद्रोह' व उपप्लव (insurgency) में यह अन्तर है कि विद्रोही को स्थानीय जनता के बड़े भाग का समर्थन होता है, जबकि एक आतंकवादी के लिए यह आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त विद्रोही उस देश का नागरिक होता है जो अपने देश की संवैधानिक सरकार के विरुद्ध विद्रोह करता है और गुरिल्ला युद्ध के द्वारा सरकार को हटाने के लिए संघर्ष करता है; जबकि दूसरी ओर आतंकवादी उस देश का, जहाँ वह क्रियाशील है, नागरिक हो सकता है या नहीं भी हो सकता है (सक्सेना, 1985 : 14–35)।

उपरोक्त परिभाषाएं आतंकवाद की छः मूल परिभाषाई तत्त्वों को प्रस्तुत करती हैं। इनमें से सम्मिलित हैं : (1) भय का प्रयोजन यानि मूल लक्ष्य (target) (व्यक्ति / समूह) के मस्तिष्क में भय उत्पन्न करना, (2) सहायक (instrummental) या तात्कालिक पीड़ित/शिकार (immediate victims), (3) मुख्य लक्ष्य (जनसमुदाय या व्यापक समूह और अन्य) (4) सहायक लक्ष्य की परिणामस्वरूप मृत्यु और संपत्ति की हानि या नाश, (5) हिंसा, और (6) राजनैतिक उद्देश्य।

आतंकवाद कई रूपों में प्रकट होता है–बाजार, रेल्वे स्टेशन, बस स्टैण्ड या बस में अपरिष्कृत (crude) व घर का बनाया हुआ बम, हैन्ड ग्रिनेड या अन्य विस्फोटक को रखने से लेकर महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का अपहरण और हत्या तक। आतंकवादियों का मुख्य उद्देश्य उनसे बदला लेना है जिन्हें वे अवरोध अथवा शत्रु अथवा अत्याचारी समझते हैं।

आतंकवाद के पाँच प्रकार बताए गए हैं (महेन्द्रा बेद, द हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 22, 1993) : (1) राज्य द्वारा प्रायोजित (State-sponsored) आतंकवाद जो अधिकांशः एक कमजोर राज्य द्वारा प्रयोग किया जाता है; (2) गुट द्वारा प्रायोजित (faction sponsore) आतंकवाद जो एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है जो राज्यप्रतिरोध या पृथक्तावादी आन्दोलन के एक अंग के रूप में पैदा होता है; (3) अपराध–सम्बन्धित (crime-related) आतंकवाद जो आतंक फैलाने के लिए हिंसा को एक साधन के रूप में प्रयोग करता है और जो प्रेरणा (motivation) के लिए राजनैतिक सत्ता के स्थान पर धन का उपयोग करता है; (4) नार्को (Narco) आतंकवाद जो रुपयो के लिए मादक पदार्थों के धंधे को समर्थन देता है; और (5) विवाद प्रेरित (Issue-motivated) आतंकवाद जो परमाणु हथियारों पर निषेध, भूमि संघर्षों औद्योगिक प्रतिष्ठानों, चुनावों में जीतने, आदि विवादों से प्रेरित होता है।

## विशेषताएं (Characteristics)

आतंकवाद अनियमित (random) और क्रूर उत्पीड़न, जोर–जबदस्ती या जान–माल के नुकसान की तकनीक है। इसका प्रयोग ऐसे उपराष्ट्रीय समूहों द्वारा किया जाता है जो तनाव की भिन्न–भिन्न स्थितियों में काम करते हुए वास्तविक अथवा भ्रांतिमूलक लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं। आतंकवाद की मुख्य विशेषताएँ ये हैं:

1. यह राज्य या समाज के विरुद्ध होता है।

2. इसका राजनैतिक उद्देश्य होता है।

3. यह अवैध और गैरकानूनी होता है।

4. यह न केवल पीड़ित को अपितु सामान्य व्यक्तियों को डराने और उनमें भय एवं आतंक उत्पन्न करने की चेष्टा उन्हें अवपीड़ित एवं वश में करने के अभिप्राय से करता है।

5. जनसाधारण में इससे बेबसी और लाचारी की भावना पैदा होती है।

6. यह बुद्धिसंगत विचार को समाप्त कर देता है।

7. इससे लड़ने या भागने की प्रतिक्रिया होती है।

8. इसमें की गई हिंसा में मनमानी (arbitrariness) होती है क्योंकि पीड़ितों (vactims) का चयन बेतरतीब और अन्धाधुन्ध होता है।

## उद्देश्य (Objectives)

आतंकवादियों के उद्देश्य प्रत्येक आन्दोलन के साथ बदल सकते हैं, परन्तु आतंकवाद के मुख्य उद्देश्य सभी आतंकवादी आन्दोलनों में एक ही होते हैं: (1) शासन को प्रतिक्रिया और अतिप्रक्रिया दिखाने के लिए प्रेरित करना। सरकार / समाज को आतंकवादियों की माँग को मनवाने के लिए बाध्य करने हेतु प्रतिक्रिया की आवश्यकता शासन द्वारा दमन किए जाने को दिखाने के लिए करनी पड़ती है जिससे कि जनता उस (शासन) से विमुख हो जाए और उस (जनता) की सहानुभूति उन्हें (आतंकवादियों को) प्राप्त हो जाए। सरकार द्वारा अति विशिष्ट व्यक्तियों (वी.आई.पीज) और सरकारी संस्थाओं की सुरक्षा के लिए सुरक्षा बलों का उपयोग साधारण जनता की सुरक्षा के लिए उपलब्ध सुरक्षाबलों को कम कर देता है जिससे जनता में असुरक्षा और लाचारी की भावना बढ़ जाती है और आतंक फैल जाता है; (2) जनता के समर्थन को संगठित करना और संभावित समर्थकों को और अधिक आतंकवाद के लिए प्रेरित करना, या/और अधिक व्यक्तियों को उसमें अधिक लिप्त करना। विदेशी क्षेत्र में आतंकवादी गतिविधियों का उद्देश्य मित्र बनाने के स्थान पर व्यक्तियों को प्रभावित करना होता है। इन स्थानों पर मुख्य उद्देश्य शक्ति प्रदर्शन होता है एवं शासन द्वारा जनता की सुरक्षा करने और व्यवस्था को कायम रखने में असमर्थता दर्शाना होता है; (3) विरोधियों और मुखबिरों को खत्म करना और आन्दोलन के लिए खतरे को दूर करना और अपने अनुयायियों के अनुसरण को सुनिश्चित करना; और (4) अपने उद्देश्य और शक्ति का प्रचार करना एवं उसे अतिरंजित (magnify) करना।

बलजीत सिंह (एलेग्जैंडर और फिन्गर, 1977 : 8) के अनुसार, आतंकवाद के व्यापक उद्देश्य इस प्रकार हैं : (i) जनसमर्थन प्राप्त करना, (ii) शासन की सैन्य एवं मनोवैज्ञानिक शक्ति को विघटित और ध्वंस करना, और (iii) आन्तरिक स्थिरता को तोड़ना और विकास को रोकना। यदि इस आधार को स्वीकृत किया जाता है कि राजनैतिक आतंक मुख्यत: सैन्य–सामग्री के स्थान पर मानस (psyche) को अपना लक्ष्य बनाता है तो चुनिन्दा महत्त्वपूर्ण परन्तु अलोकप्रिय अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को जान से मारने से आतंकवादियों का मनोबल बढ़ सकता है, जनता में सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है और शासन को दमन के ऐसे उपाय करने के लिए उकसा सकता है जिससे जनता और अधिक विमुख हो जाये।

जेमिलन (1971 : 9) ने राजनैतिक आतंकवाद के पाँच मुख्य अल्पकालिक उद्देश्य सुझाए हैं : (i) सामान्य आतंकवादियों का मनोबल बढ़ाना (ii) आन्दोलन का प्रचार करना, (iii) जनता की स्थिति भ्रान्तिमूलक एवं मनोवैज्ञानिक अलगाव, (iv) विरोधी शक्तियों को हटाना, और (v) सरकार को भड़काना।

## परिप्रेक्ष्य (Perspectives)

आतंकवाद को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखा है। हम इस प्रकार के चार प्ररिप्रेक्ष्यों की पहचान कर सकते हैं: ऐतिहासिक, राजनैतिक, समाजशास्त्रीय और वैधानिक ।

**ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य** का केन्द्र–बिन्दु हैं आतंकवाद की उत्पत्ति, विकास और उसकी विभिन्न अवस्थाओं में गुणात्मक परिवर्तन। बलजीत सिंह (एलेग्जैन्डर और फिन्गर, 1977 : 5–17) एक वह विद्वान है जिसने आतंकवाद के विश्लेषण के लिए इस उपागम का प्रयोग किया है।

**राजनैतिक परिप्रेक्ष्य** में (जैम्स मूलर) राजनैतिक आतंकवाद को राजनैतिक हिंसात्मक आन्दोलन माना जाता है, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक समूह (समूहों) द्वारा संगठित किया जाता है।

**वैधानिक परिप्रेक्ष्य** राज्य के कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर विभिन्न राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से निबटने के लिए सहयाग पर संकेन्द्रित करता है।

**समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य** में आतंकवाद के विश्लेषण के लिए जॉर्डन पाइस्ट (एलेग्जैनडर और फिन्गर, 1977 : 19) इनको केन्द्र बिन्दु बनाता है: (i) आतंकवाद में आतंकवादियों, उनके निशाने (targets), शिकार (victims), आदि के रूप में लिप्त सहभागियों के प्रकार, (ii) भाग लेने वालों के उद्देश्य (iii) वास्तविक अन्तरक्रिया की स्थितियाँ, (iv) प्रत्येक किस्म के भागीदारी के पास संसाधनों के प्रकार, (v) आतंक के लिए उपयोग में लाई गई रणनीतियां (हत्याएँ, अपहरण, बम विस्फोट, लूट और हाईजैकिंग) और (vi) आतंकवादी प्रक्रिया का परिणाम (मृत्यु, चोटें, सम्पत्ति का विनाश)।

## भारत में आतंकवाद (Terrorism in India)

आतंकवाद के चार प्रकार जिनका हम अपने देश में सामना कर रहे थे अथवा अब भी कर रहे हैं: पंजाब में खालिस्तान उन्मुखी आतकवाद, कश्मीर में उग्रवादियों का आतंकवाद, बंगाल, बिहार, आन्ध्र प्रदेश में नक्सलवादी आतंकवाद, और असम में उल्फा और बोडो आतंकवाद। इससे पूर्व हमने नागालैंड (1951), मिजोरम (1966), मणिपुर (1976), त्रिपुरा (1980) और गोरखालैड का बंगाल में इस समस्या का सामना किया था। खालिस्तानी उन्मुखी सिख आतंकवाद 'पृथक्वाद द्वारा एक मजहबी राज्य' के स्वप्न पर आधारित था, नागालैंड और मिजो आतंकवाद 'पहचान की संकट–स्थिति' पर आधारित था; मणिपुर और त्रिपुरा का आतंकवाद 'परिवेदना (grievence) की स्थिति' पर आधारित था, और बंगाल, बिहार और आन्ध्र प्रदेश के नक्सलवादी आतंकवाद का आधार 'वर्ग विद्वेष' (class enemity) था। यदि पजाब में सिख आतंकवाद 'परिवेदना की स्थिति' या 'सिखों के पहचान की संकट–स्थिति' (identity crisis) पर आधारित होता, तो उससे राजनैतिक वार्ता और संवैधानिक साधनों से निबटा जा सकता था, परन्तु जब तक वे देश से पृथक् होकर और उसके बंटवारे से एक 'मजहबी राज्य' के लक्ष्य पर आधारित था तो सरकार को उसका प्रति आतंक युक्तियों (counter-terror tactics) से सामना करना पड़ा था।

पंजाब में आतंकवाद का 1984–85 में एक खतरनाक स्थिति का पदार्पण हुआ था। इससे पहले 1982–83 के दौरान बहुत से निर्दोष व्यक्ति, अधिकांश हिन्दू, अन्धाधुन्ध मारे गए थे। इसके बाद की अवस्था में हिन्दुओं के साथ–साथ सिख भी मारे गए। पूजा–स्थलों के शास्त्रगारों में बदल दिया गया था। मई 1985 में देलही, हरियाणा और उत्तरप्रदेश में कई ट्रान्जिस्टर बम विस्फोट हुए जिनमें बहुत जानें गई। वी.आई.पी. व्यक्तियों को मारने के षडयंत्र हुए जिनमें राजीव गांधी और हरियाणा के मुख्यमंत्री उनकी यू.एस.ए. की यात्रा के दौरान पर सम्मिलित थे। संत लोंगोवाल, अकाली दल के अध्यक्ष की, 20 अगस्त, 1985 में एक गुरुद्वारा के अन्दर हत्या कर दी गई थी।

बस में यात्रा करते चुनिन्दा गैर–सिख यात्रियों की हत्या, एयर इंडिया बोईग 'कनिष्क' का विस्फोट और लगभग 300 निर्दोष भारतीयों का जान से मारा जाना, राजनैतिक नेताओं, पत्रकारों, फौज और पुलिस अफसरों और निर्दोष व्यक्तियों की 1984 और 1992 के बीच हत्या, 114 हिन्दू रेल यात्रियों का लुधियाना के पास बुद्दोवल रेलवे स्टेशन पर जून 1991 में जान से मार देना, पंजाब और उसके बाहर दोनों स्थानों पर बैंकों का लूटना, चुनाव लड़ने वाले 24 प्रत्याशियों का जून, 1991 में (जिन्हें बाद में फरवरी, 1992 तक स्थगित कर दिया गया) एक प्रत्याशी प्रतिदिन की दर से जान से मारना, आतंकवादियों की वे सब गतिविधियाँ थीं जिनकी प्रत्येक व्यक्ति द्वारा भर्त्सना की गई थी।

आतंकवादी विधानसभा में जून 1991 में होने वाले चुनावों के विरुद्ध थे। कांग्रेस (आई) और दक्षिणपंथी दलों ने चुनाव का बहिष्कार किया था। केवल सिख संगठन और भारतीय जनता पार्टी ही चुनाव लड़ रही थीं। पंजाब में अकाली दल सात गुटों (मान, बादल, लोंगोवाल, कैप्टेन अमरेन्दर सिंह, बाबा जोगेन्दर सिंह, फेरूमन और राजदेव समूहों) में बँटा हुआ था। अखिल भारतीय सिख विद्यार्थी फैडरेशन (ए. आई.एस.एफ) भी छह समूहों में बँटी हुई थीं; प्रत्येक एक दूसरे के विरुद्ध थे (मनजीत, मेहता–चावला, दलजीत, बिट्टो, पादरी और खेलों)। पाँच पन्थिक कमेटियाँ थीं (सोहन सिंह, जफरवाल, मनोचहल, उस्मानवाला, और भुट्टड़)। इस प्रकार मतदाता उलझन में थे। चुनाव में राष्ट्रीय और पृथक्वादी शक्तियों के बीच एक संघर्ष होना था। स्वतंत्र चुनाव असंभव थे, क्योंकि उम्मीदवारों को डराने और जान से मारने की आतंकवादी युक्तियाँ अपनाई जा रहीं थी। चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली सरकार चुनाव कराने पर अटल थी। परन्तु केन्द्र में कांग्रेस सरकार के सत्ता में आने के एक दिन पहले चुनाव स्थगित कर दिए गए आतंकवादियों का सिखों के लिए स्वशासित स्वायत्त राज्य, जहाँ स्वतंत्रता के प्रकाश का अनुभव कर सकते, की माँग पूरी नहीं हो सकी।

जनवरी 1991 और सितम्बर 1991 के मध्य मारे गए नागरिकों की संख्या प्रति माह 210 और 250 के बीच थी, अक्टूबर 1991 में 300, नवम्बर 1991 और सितम्बर 1992 के मध्य 100 और 200 के बीच, अक्टूबर 1992 और दिसम्बर 1992 के मध्य 40 और 50 के बीच, और जनवरी–फरवरी 1993 में 5 और 10 के बीच थी। मारे जाने वाले आतंकवादियों की संख्या भी इस बीच 100–200 प्रति माह रही (हिन्दुस्तान टाइम्स, फरवरी 25, 1993)। साम्राज्यवादी ताकतें तो भारत के टुकड़े करना चाहती हैं और हमारे देश को कमजोर, अस्थिर और उसका विघटन तक करना चाहती हैं। वे खालिस्तान की माँग को समर्थन और प्रोत्साहन दे रही थीं और उकसा रही थीं। आन्तरिक कारक जिसने पंजाब में आतंकवादियों को सहायता दी थी, वह था–हिन्दू साम्प्रदायिकता का फैलना। आर. एस.एस. साम्प्रदायिक व्यक्ति पूरे सिख समुदाय को आतंकवादियों के अपराधों के लिए जिम्मेदार ठहरा रहे थे वे बदले और प्रतिशोध का नारा लगाते रहते थे। उनका दावा कि 'सिख हिन्दू हैं', पृथक्वादियों को यह दलील प्रदान करता था कि यदि खालिस्तान नहीं बनता तो सिख धर्म को हिन्दू धर्म आत्मसात कर लेगा। श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के समय देहली में सिखों के खिलाफ दंगों में 300 से अधिक सिखों की जानें गई। पंजाब में उग्रवादियों ने आतंकवाद फैलाने और अपने कार्य के लिए जनसमर्थन प्राप्त करने के लिए इस बात का, कि उन लोगों के खिलाफ जो इन दंगों में लिप्त थे कोई कार्रवाई नहीं हुई, लाभ उठाया है।

खालिस्तान उन्मुख आतंकवादियों द्वारा अपनाई गई रणनीतियाँ और चालें थीं : (i) अपने आदेश निकाल कर शासन की सत्ता को कमजोर करना और विचलितों (deviants) को जान से मारकर अपनी शक्ति का परिचय देना, (ii) अपने को सिखों एवं सिख धर्म के प्रति रक्षक के रूप में प्रक्षेपित करना, (iii) निर्दोष व्यक्तियों को जान से मारना, बैंकों एवं दुकानों को लूटना और आतंक उत्पन्न करना, (iv) हिन्दुओं को दूसरे राज्यों में बसने के लिए बाध्य करना और सिखों को पंजाब में बसने के लिए अवसर मुहैया करना, और (v) तस्करों के साथ पंजाब में पैसा जुटाने के लिए सम्बन्ध स्थापित करना। 1993 तक पंजाब में व्यक्तियों की आत्मा आतंकवाद से थक चुकी थी। अब कोई गुस्सा नहीं था, यद्यपि सताने वाला आतंक का भय था जो एक मानसिक स्थित बन गया था। 'बाबे' (Bebey) राज (आतंकवादियों के लिए स्थानीय बोली में) में व्यक्तियों ने आतंक को अंतर्निविष्ट (internalise) कर लिया था और उसके साथ रहना सीख लिया था। निरीह ग्रामीण अपनी सुरक्षा के लिए, अपने बच्चों की सुरक्षा के लिए, अपने खेतों की सुरक्षा के लिए और अपने मवेशियों, दुकानों और संपत्ति की सुरक्षा के लिए इन आदेशों की अनुपालान करते थे। पंजाब में आदमियों की पीड़ा यह थी कि न केवल आतंकवादियों ने उत्तरोत्तर रूप से राज्य को बन्धक बना लिया था, अपितु प्रशासन ने अपने भ्रष्ट व्यवहार से आदमियों का प्रशासनिक प्रणाली में विश्वास खो दिया था और पुलिस राज की निरंकुशता दिनों–दिन बढ़ती हुई दिखाई देती थी। ऐसी अराजकता में आदमियों की पीड़ा दबकर रह गई थी।

मार्च 1993 से मार्च 1994 तक एक वर्ष में पुलिस और सरकार द्वारा अपनाए गए उपायों के कारण पंजाब में आतंकवाद समाप्त हो गया। परन्तु कुछ अकाली दल गुट अब भी पृथक् पंजाबी प्रान्त की माँग दुहराते ही रहते हैं मई 1994 में छः अकाली दल गुटों के विलय के बाद (अकाली दल पंकिक, काबूल, मान, मंजिल और तलवंडी) की नई पार्टी ''शिरोमणि अकाली दल'' के नाम से अकाल तख्त के मार्ग में स्थापित की गयी थी। नई पार्टी ने ''ऐतिहासिक अमृतसर घोषणा' में सिखों के लिए ऐसे पृथक् क्षेत्रा (राज्य) गठित करने की अकालियों की पुरानी माँग दोहराई, जिसमें सिख कौम आजादी महसूस कर सके, निर्बाध रूप से अपने धार्मिक विचारों का प्रचार कर सके और पंजाबी संस्कृति का उत्थान कर सकें यह घोषणा 1973 की आनन्दपुर साहब घोषणा से मिलती–जुलती थी। मगर एक अकाली दल गुट (बादल) के विरोध के कारण यह गठन राजनीति के क्षेत्र में प्रभावी नहीं रहा। लेकिन इस प्रकार की घोषणा को राष्ट्र के लिए सर्वनाशी होने के कारण सरकार ने इसे गम्भीरता से लिया था।

नक्सलवादी आतंकवाद का प्रादुर्भाव बंगाल में 1967 में हुआ। 1969 में इसे बढ़ावा मिला जब सी.पी.आई. (एम.एल.) का चीन, जो कि भारत को कमजोर करना चाहता था, के उकसाने पर जन्म हुआ। नक्सलवादी विचार को सैद्धान्तिक समर्थन अप्रैल 1969 में हुई चीन की

कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जबकि माओं के विचारों को मार्क्सिज्म–लेनिनिज्म की चरम सीमा कहा गया। इन विचारों का उपयोग करते हुए नकसलवादी नेता, चारू मजूमदार ने घोषणा की थी कि 'चीन का चेयरमैन हमारा चेयनर्मेन है'। बगाल से नक्सलवादी आन्दोलन भूमिहीन श्रमिकों की ओर से संघर्ष करने बिहार में फैला। फिर भी चारू मजूमदार के वर्ग–शत्रुओं के संहार के नारे को किसान वर्ग और शिक्षित मध्यम वर्ग से अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि कई आदर्शवादी युवा नक्सलवादी पुरुषों और स्त्रियो ने जमींदारों, साहूकारों और पुलिस अधिकारियों को जान से मारना प्रियकर समझा। 1969 और 1972 के बीच नक्सलवादी आतककारियो द्वारा 1,711 व्यक्ति मारे गए। 696 मामले पैसा लूटने के और 8,857 मामले अन्य प्रकार की हिंसा के हुए (त्रिपाठी, बी.के., 1990 : 151) सरकार की जोरदार कार्यवाही से (यानि, केन्द्रीय आरक्षित पुलिस बल और सीमा सुरक्षा बल के द्वारा) पश्चिम बंगाल में 384 आतंकवादी मारे गए और 6,000 से अधिक को जेल हुई। आन्दोलन बदनाम भी हो गया क्योंकि पेशेवर अपराधी इसमें सम्मिलित हो गए। 1972 के पश्चात् नक्सलवादी आन्दोलन बंगाल और बिहार से आन्ध्रपदेश, केरल, उड़ीसा, तमिलनाडु और त्रिपुरा में फैल गया। आन्ध्रप्रदेश में 1969 और 1995 के दौरान आतंकवादियों ने लगभग 4000 हत्याएँ कीं और 200 लूट के मामले में लिप्त हुए।

बिहार में 1988 और 1999 के बीच स्थिति और भी अधिक खराब थी, यद्यपि सब मिलाकर अब भी शोषित निर्धन, और जनजातियाँ अपने को पूर्व–जमींदारों, साहूकारों और शोषकों से बचाने हेतु नक्सलवादी आतंकवाद का अनुसरण करते हैं। सरकार इस नक्सलवादी आतंकवाद से केवल कानून और व्यवस्था की समस्या की तरह ही निबटती है।

कश्मीर में उग्रवादियों के आतंकवाद ने 1988 से एक नया रूप धारण कर लिया है। उग्रवादी कश्मीर में और देश मे राजनेतिक अस्थिरता पैदा करना चाहते हैं। उन्होंने अपनी अलग पहचान पर बल देने के लिए एक रक्त युद्ध छेड़ दिया है। पड़ोस के देश, जो घाटी में अशांति के जारी रहने पर दृढ़ संकल्प हैं, आतंकवादियों को प्रशिक्षण और हथियार दे रहे हैं। कश्मीरी नागरिकों का भी इतना मत–आरोपण (brain-washing) किया जा रहा है कि वे भी पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों की ज्यादतियों के बारे में बात करते हैं। उग्रवादियो के लिए कश्मीरी नागरिकों द्वारा सरकार की आलोचना का अर्थ है कि वे उन्हें समर्थन देने के लिए अत्याधिक सहमत हैं। दूसरी ओर हिन्दुओं को उग्रवादियों द्वारा कश्मीर छोड़ने पर बाध्य किया गया है। पेस गिल्ड ऑफ इंडिया की एक रिपोर्ट में दावा किया गया है कि 1988 और 1997 के बीच लगभग दो लाख हिन्दू जम्मू और कश्मीर छोड़ गए जो अभी तक वापस नहीं आ पाए हैं। हिन्दू दावा करते हैं कि कट्टरवादी और उग्रवादी कश्मीर घाटी में सरकार के प्रत्येक क्षेत्र में घुस गए हैं और जिसका शासन चलता है, वह सरकार की हुकूमत नहीं परन्तु जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट की हुकूमत है। पाकिस्तानी समर्थन शक्तियों ने घाटी पर इतना प्रभुत्व जमा लिया था कि एक प्रकार से शासन ठप हो गया था। 1999 में कारगिल क्षेत्र में हमारी फौजों ने आतंकवादियों को मारकर खदेड़ दिया था। मुसलमानों का दावा है कि वे निर्दोष हैं और उन्हें अनावश्यक रूप से तंग किया जा रहा है। सरकार का दावा है कि हजारों प्रशिक्षित उग्रवादी घाटी में आँख बचाकर अब भी आने को तैयार हैं। उग्रवादियों ने पैसे के लाभ और राजनैतिक उद्देश्यों से पैसा ऐंठा है और अपहरण किया है। घाटी में हथियारों की कोई कमी नहीं है और उन्हें चलाने के लिए कुंठित युवाओं की भी कोई कमी नहीं है। हिजबुल–मुजाहिदीन (एच.एम) के सगठन की 20,000 संख्या है और उनके हज़ारों लोग सीमा के पार और घाटी में कैम्पों में प्रशिक्षण पा रहे हैं। अगस्त 2000 में अब वे केन्द्र सरकार से जम्मू–कश्मीर में शान्ति स्थापना के लिए बात करने के लिए तैयार हो गए हैं। जम्मू और कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट (जे.के.एल.एफ.) पाकिस्तान के साथ विलय होने के विरूद्ध अभी भी स्वतंत्र राज्य की परिकल्पना के प्रति निष्ठा रखता है। पाकिस्तान में विलय की माँग अन्य उग्रवादी समूहों जैसे मुस्लिम जांपेज बल और इकवाने–मुसलीन की है। सब उग्रवादियों में यह भावना है कि उन्हें एक समान शत्रु भारतीय सैन्य शक्तियों–के विरूद्ध एक होना है।

कुछ स्रोतों का दावा है कि उग्रवादियों को सऊदी अरब, ईरान, पाकिस्तान और लिबिया से सहायता प्राप्त हो रही है केन्द्रीय गृहमन्त्री की पुत्री का अप्रैल, 1991 में अपहरण, दो स्वीडिश इंजीनियरों का अप्रैल, 1991 में (जो अन्त में 6 जुलाई, 1991 को बच निकले), आठ इजरायली पर्यटकों का 27 जून, 1991 को, और बन्दी उग्रवादियों की रिहाई की माँग, अक्टूबर–नवम्बर, 1993 में हजरतबल दरगाह में चालीस व्यक्तियों को बन्धक के रूप में 32 दिन तक बन्द रखने, दिसम्बर 1999 में 155 यात्रियों सहित एक भारतीय विमान को हाइजैक कर कंधार ले जाना और तीन उग्रवादियों को छुड़वाने के बाद विमान यात्रियों को सात दिन बाद छोड़ देना, अगस्त 2000 के प्रथम सप्ताह में उग्रवादियों द्वारा 30 अमरनाथ यात्रियों सहित 110 व्यक्तियों को मार देना, मार्च 2000 में अमरीकन राष्ट्रपति क्लिन्टन की भारत यात्रा के समय जम्मू के एक गाँव में 20 सिखों का कत्ल, उन नई रणनीतियों की ओर संकेत करती है जो उग्रवादी आज अपना रहे हैं। इस प्रकार वर्तमान सरकार को उग्रवादियों से लड़ने की समस्या का ही केवल सामना करना नहीं पड़ रहा है, अपितु जुलाई 2000 में नेशनल कान्फ्रेन्स की राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तता (autonomy) देने और 1953 से पहले की स्थिति स्थापित करने की माँग का

और सैनिक शक्तियों की कुछ ज्यादतियों के लिए लोगों के रोष का भी सामना करना पड़ता है। अतः सरकार को दूरदर्शी राजनैतिक पहलों (intiatives) से विश्वास के पुल भी बनाने हैं।

असम में आतंकवाद 1980 से बाद आगे उभरा। असमियों ने पहले से ही 'विदेशियों' को निकालने और उनके नाम निर्वाचन सूचियों से हटाने का मामला उठा दिया था। जब सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की, तो फरवरी, 1983 के चुनावों में उग्र आन्दोलन हुए जिनमें 5,000 लोगों की जानें गई। ए.ए.एस.यू. के आन्दोलन के पश्चात् जब असमगण परिषद सत्ता में आई तो यह सोचा गया कि राज्य का विकास होगा। परन्तु दलबन्दी से ए.जी.पी. टूट गई। दि यूनाइटेड माइनौरिटीज फ्रन्ट (यू.एम.एफ.) और यूनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ऑफ आसाम (यू.एल.एम.ए.) दो आतंकवादी संगठनों के रूप में उभरे। दि ऑल बोडो स्टूडेन्टस् यूनियन (ए.बी.एस.यू); ने भी एक अलग राज्य की माँग की, जिसके परिणामस्वरूप बहुत हिंसा भड़की। उल्फा ने हत्या, लूटमार, और अपहरण के आन्दोलन को तेज कर दिया। आतंकवादी गतिविधियों ने न केवल गैर--असमियों में बल्कि असम के लोगों में भी आतंक फैला दिया। सैनिक कार्यवाही--जिसका नाम आपरेशन बजरंग था-- जो पृथक्वादी उग्रवादी संगठन के विरूद्ध की गई, ने इस सीमा तक उसको दबा दिया कि उग्रवादी गतिविधियों ने जून, 1991 के चुनावों में भी कोई बाधा नहीं डाली। यह आशा की जाती थी कि नई कांग्रेस सरकार जिसका 30 जून, 1991 को गठन हुआ था, ए.ए. एस.यू., ए.ज.पी., यू.एम.एफ., उल्फा, और ए.एस.डी.सी. संगठनों की आतंकवादी गतिविधियों को रोक देगी। परन्तु राज्य के विभिन्न भागों में 1 जुलाई, 1991 को 14 व्यक्तियों का अपहरण जिसमें ओ.एन.जी.सी. के छः अधिकारी सम्मिलित थे ने इन आशाओं को धूमिल कर दिया। कदाचित वर्तमान सरकार को भी बहुत लंबे समय तक उग्रवादियों और आतंकवादी का सामना करना पड़ेगा।

वर्तमान में पिछले दस वर्षों से चल रही असम में 'बोडोलैण्ड की समस्या गम्भीर बनी हुई है। बोडो लोग दो संगठनों--बोडो विद्यार्थी संगठन और बोडो पीपुल्स ऐक्शन कमेटी--द्वारा एक अलग राज्य की माँग कर रहे हैं तथा अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेक प्रकार की आतंकवादी गतिविधियाँ चलाई हैं। 1990 में दस जिलों में छोटे बड़े विस्फोटों द्वारा उन्होंने 75 लोगों के मार दिया था व 240 को घायल किया था। अक्टूबर, 1992 में उन्होंने 22 लोगों की हत्या की एवं 50 को घायल किया। फिर एक बम विस्फोट में राजधानी (गौहाटी) में 44 व्यक्ति मारे गए थे।

फरवरी, 1993 में असम राज्य में 'बोडोलैण्ड' आटोनामस काऊँसिल स्थापित करके बोडो आतंकवाद समाप्त करने का प्रयास किया गया। परन्तु अब फिर पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था आई.एस.आई. ने बोडो उग्रवादियों को भड़काना आरम्भ किया है तथा स्वतंत्र बोडोलैण्ड के लिए विभिन्न अपहरण, बलपूर्वक वसूली और हिंसात्मक विध्वंसी क्रियाओं में उनकी सहायता कर रही है।

पंजाब, कश्मीर व असम के अलावा कुछ प्रान्तों में भी आतंकवादी गतिविधियाँ पायी गई हैं। मुम्बई में मार्च 12, 1993 को आतंकवादियों ने ग्यारह व्यापारिक दृष्टि से प्रमुख व भीड़ वाले स्थानों पर तीन घंटों में विभिन्न बम--विस्फोट द्वारा भय व आतंक पैदा किया था। इनमें 235 व्यक्ति मारे गए तथा 1,214 घायल हुए थे सम्बन्धित व्यक्तियों की गिरफतारी पर बहुत से हथियार व गोला--बारूद मिले थे तथा पड़ोसी राज्य के अन्तर्सेवा गुप्तचर संस्था एवं इसी देश द्वारा समर्थित दुबई में बसे मुसलिम तस्करों का इसमें गहरा हाथ पाया गया था। इसी प्रकार का बम विस्फोट कलकत्ता में मार्च 16, 1993 को हुआ था, जिसमें 86 व्यक्ति मारे गए थे।

भारत सरकार की सूचनाओं के अनुसार (मई 16, 1994) इस बात के पक्के सबूत हैं कि पड़ोसी देश अलगाववादियों और आतंकवादियों को बढ़ावा देने के लिए काठमांडू (नेपाल), ढाका और चटगाँव (बंगलादेश) एवं कनाडा में अड्डे बनाकर उनकी गतिविधियाँ संचालित कर रहा है। पंजाब की समस्या पर यद्यपि काबू पा लिया गया है, परन्तु कश्मीर के समान ही उत्तरपूर्व के नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, अरूणाचल प्रदेश की स्थिति बिगड़ती जा रही है। इन क्षेत्रों के आतंककारियों को बंगलादेश सीमा में प्रशिक्षण दिया जा रहा है। बिहार में नेपाल और बंगलादेश की सीमा से होकर गुप्तचर संस्था (आई.एस.आई) की गतिविधियाँ संचालित की जा रही हैं। अतः यह अति आवश्यक हो गया है कि पड़ोसी देश द्वारा प्रशिक्षिति आतंकवादियों की इन गतिविधियों को रोकने के लिए हमारी सरकार कुछ नई प्रभावशाली योजनाएँ बनाए जिनमें पुलिस, सी.बी.आई, इन्टेलीजेंस ब्यूरो, नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो, रेवेन्यू इन्टेलीजेंस और सीमा--पुलिस की सहभागिता हो।

## भारत में आतंकवाद विश्लेषण का एक परिप्रेक्ष्य

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर भारत में आतकवाद के विश्लेषण सम्बन्धी एक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है। भारत में आतंकवाद के दो पहलू प्रमुख हैं : पहला, 'राजनैतिक आतंकवाद' जिसमें देश में पाए जाने वाले मतभेद को द्वेषपूर्ण पड़ोसी देश अपने स्वयं के देश के संघर्षों को छिपाने व नागरिकों का ध्यान बँटाने के लिएँ अथवा भारत के साथ संघर्ष के कारण अपने समर्थन से प्रेरित कर रहे हैं। इसके मुख्य उदाहरण हैं, नागाओं और मिजो को चीन की सहायता तथा सिखों और कश्मीरी मुसलमानों को पाकिस्तान का सहयोग। इस पक्षपोषण ने

पुलिस और अर्द्धसेना शक्तियों के अतिरिक्त भारत की कुल शक्ति में से आधी को फँसा रखा है। दूसरा, 'इस्लामी शक्तियों का आतंकवाद'। 'इस्लामी अर्धेन्दु' (Islamic Crescent) सउदी अरब से इंडोनेशिया तक फैला हुआ है। ये राज्य भारत को अपने बीच एक बेजोड़ (odd) राज्य समझते हैं। 1970 में योम किप्पूर (yom Kippur) युद्ध और 1980 में पाकिस्तान के जेड.ए.भट्टो के 'इस्लामी बम' (Islamic Bomb) की घोषणा के बाद यह इस्लामी धारणा ईरान की क्रान्ति से और अधिक बढ़ गई । इन इस्लामी देशों में रूढ़िवादी शक्तियों ने भारत के अलावा मिश्र, अजलीरिया, आदि देशों के लिए भी खतरा पैदा किया। 1991 का गल्फ युद्ध, रूस का पतन, यूरोप में साम्यवादी विचारधारा की समाप्ति, अमरीकी सरकार की पाकिस्तान के पक्ष में और भारत–विरोधी नीतियाँ आदि ने 'विसंद्धान्ति केन्द्रीय एशियाई गणराज्यो' (De-ideologised Central Asian Republics) को जन्म दिया। इसके पूर्व जब समाजवादी देश थे आतंकवाद वस्तुतः अनुपस्थित था, समाजवाद के पतन के उपरान्त दक्षिण एशियाई खण्ड में टर्की, ईरान, सउदी अरब, पाकिस्तान आदि इस्लामी धार्मिक–संस्कृतिक प्रभाव के कारण भारत को इस इस्लामी साम्राज्यवाद का सामना करना पड़ रहा है। अतः ये देश आतंकवादियों को शह देकर भारत को सदा कमजोर बनाने में लगे रहते हैं।

इंग्लैंड के साथ प्रत्यर्पण संधि (extradition treaty) के उपरान्त कहा जाता है कि 1998 तक अमरीका, कनाडा, जर्मनी और आस्ट्रेलिया के पाकिस्तानी आतंकवादियों को भारत के विरूद्ध समर्थन मिल रहा था। इन सबमें अमरीका की भूमिका प्रमुख थी। अमरीका ने बुश प्रशासन के समय पाकिस्तान की लीबिया, क्यूबा, सीरिया, इराक, ईरान और उत्तरी कोरिया की तरह आतंकवादी राज्य घोषित करने के लिए 'सूचना अवधि' (notice period) में रखा गया था परन्तु बिल क्लिन्टन प्रशासन ने पाकिस्तान को 1994 के प्रारम्भिक महीनों में निर्दोष पत्र दे दिया। क्लिन्टन की 1999 में भारत यात्रा के बाद अब अमरीका का पाकिस्तान के प्रति रवैया बदल गया है। जब तक कश्मीरी, सिख, नागा, बोडो और लिट्टे आदि उग्रवादियों को इन बाहरी देशों का समर्थन मिलता रहेगा, भारत में आतंकवाद की समस्या गंभीर रहेगी अमरीका के जेम्स आर.रोच की 'टेरिरिज़म' पत्रिका के एक लेख के अनुसार ये देश (अमरीका, चीन, पाकिस्तान, सउदी अरब, श्रीलका आदि) अपना रवैया बदलेंगे इसकी सम्भावना दिखाई नहीं देती। अतः भारत के आतंकवाद के विरूद्ध स्वयं ही लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ेगी।

## एड्स (AIDS)

### अवधारणा (Concept)

एड्स यानी एक्वायर्ड इम्यूनों डेफिशियेन्सी सिन्ड्रोम (Acquired Immuno Deficiency Syndrome) ऐसी बीमारी है जो एक वाइरस, जिसे एच.आई.वी. (Human Immuno Deficiency Virus) कहते हैं, के द्वारा होती है। यह वाइरस घातक और खतरनाक होता है क्योंकि यह मानव शरीर में प्रतिरोधक प्रणाली (immune system) (शरीर में रोग से लड़ने की शक्ति) को नष्ट कर और शरीर में बिना स्पष्ट लक्षण के वर्षों तक रहता है।

अमेरिका, फ्रांस, बेल्जियम, युगाण्डा, जाम्बिया, तनजानियाँ, जिम्बाबे आदि जैसे देशों में 1980 के दशक में एड्स का उदय हो गया था। प्रथम एड्स बीमारी के मामले का एक 45 वर्षीय व्यक्ति 1959 में अमेरिका में प्रकाश में आया था, यद्यपि इसकी अधिक पहचान जून 1981 में मद्रास (चेन्नई) में रिपोर्ट किया गया। पुणे के राष्ट्रीय जीवाणु विज्ञान संस्थान (The National Institute of Virology) और वैल्लोर के क्रिस्चियन मेडिकल कॉलेज ने 1987 में दिल्ली के भारतीय चिकित्सालय अनुसंधान परिषद् के एड्स टास्क फोर्स की सिफारिश पर सूक्ष्म संक्रिया विश्लेषण (operations) की और अच्छी संख्या में लोगों का रक्त में सेरो पोजिटिव (sero positive) होना पाया (Gracious Thomas, 1994:12)।

### विस्तार (Magnitude)

वर्तमान में (सन् 1999–2000 में) एच.आई.वी. विश्व में प्रतिदिन 7,000 वयस्क व्यक्तियों और 500 बच्चों में फैल रहा है। एच. आई.वी./एड्स किसी विशेष वर्ग, समुदाय, धर्म, आयु समूह, लिंग, या व्यवसाय तक ही सीमित नहीं है, यद्यपि भारतीय स्वास्थ्य संगठन के अनुसार बच्चे और महिलाएँ एड्स के लिए अधिक संवेदनशील हैं (द हिन्दुस्तान टाइम्स, दिसम्बर 28, 1999)। एच.आई.वी का संक्रमण सभी क्षेत्रों और सभी समूहों में फैला हुआ है।

मोटे रूप से एच.आई.वी. और एड्स से संबंधित तथ्य निम्न प्रकार हैं:

1. संसार में प्रतिदिन 7,000 वयस्क व्यक्ति और 500 बच्चे एच.आई.वी. से संक्रमित होते हैं।
2. संसार में 1999 तक लगभग चार करोड़ व्यक्ति एच.आई.वी. से संक्रमित थे जिनमें से एक-चौथाई एशिया में थे।
3. भारत में लगभग 35 लाख व्यक्ति एच.आई.वी. से संक्रमित हैं (द हिन्दुस्तान टाइम्स, अगस्त 7, 2000)।
4. 21वीं शताब्दी में भारत में संसार में सबसे अधिक एड्स रोगी होंगे।
5. आधे से अधिक एच.आई.वी. केस 15-24 वर्ष के आयु-समूह में पाए जाते हैं।
6. भारत में चार एच.आई.वी. रोगियों में से एक महिला होती है।
7. भारत में 1992 और 1997 (अक्टूबर) के मध्य एच.आई.वी. धनात्मक केस (positive) में वृद्धि निम्न प्रकार पायी गई : 1992: 16,002, 1993: 22,417, 1994: 32,490, 1995:41,349, 1996:49,527, और अक्टूबर 1997: 71,400 केस। परिपक्व एड्स रोगियों की संख्या इस प्रकार थी : 1994: 1,017, 1995: 1,095, 1996: 3,161 और अक्टूबर, 1997 तक 5,145
8. दक्षिण एशिया क्षेत्र में भारतीय क्षेत्र में 65 % से भी अधिक एच.आई.वी. से प्रभावित व्यक्ति हैं, उसके बाद थाइलैण्ड में 23% और म्यांमार में 7 % हैं।

एड्स अनुसंधान एवं नियंत्रण केन्द्र, पुणे का मत है कि मुम्बई की लाल बत्ती क्षेत्र की वेश्याएँ ही केवल प्रति घन्टा 3 या 4 एच.आई.वी. संक्रमित मामले उत्पन्न करती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में प्रति 15 मिनट में 400 नवीन एच.आई.वी. संक्रमित रोगियों में से एक मुम्बई में उत्पन्न होता है।

## सर्वसामान्य बीमारी की उत्पत्ति (Origin of the Disease)

रीनी सेबेतियर (Renee Sabatier, 1988 : 34-35) ने वाइरस की उत्पत्ति के विषय में तीन व्याख्याएँ दी हैं : एक, यह एक अत्यन्त प्राचीन रोग से उत्पन्न हुई जो विज्ञान के लिए भी लम्बे समय तक अज्ञात रही। दो, यह मानव से भिन्न प्रजाति (speciese) से उत्पन्न हुई जैसे लंगूर/बन्दर जो प्राकृतिक वाइरस से पीड़ित रहते थे। तीन, यह प्रयोगशालाओं में अचानक उत्पन्न हो गई जब प्रयोग किए जा रहे थे। उपरोक्त तीन व्याख्याओं में से प्रथम व्याख्या विद्वानों ने स्वीकार की हैं एक अमेरिकन चिकित्सक ने, जिसने नैदानिक उन्मुकता (clinical immunology) में विशेष अध्ययन किया था, 1981 में कुछ समलैंगिक स्वस्थ पुरुषों के एक समूह में अत्यन्त असाधारण गुण देखे। उसने देखा कि उनके शरीरों पर एक प्रकार के कीटाणुओं (germs) का हमला हो रहा था जो हमारे वातावरण में हमेशा मौजूद रहते हैं लेकिन ये कभी भी सामान्य मनुष्य पर हमला नहीं करते। सामान्यतः यह कीटाणु उन व्यक्तियों में देखे जाते हैं जिनकी प्रति-रक्षा व्यवस्था (imunisation system) नशीले पदार्थ लेने के कारण नष्ट हो जाती है या जिनको कैन्सर उपचार के दौरान विकिरण (radiation) उपचार दिया गया हो। उसकी खोज ने समस्त वैज्ञानिक जगत को सावधान कर दिया। एक फ्रैन्च वाइरस वैज्ञानिक (virologist) ने रोगियों में से एक नए प्रकार के वाइरस को अलग करने की सूचना 1983 में दी जो इस नवीन बीमारी से पीड़ित था। रोग को उत्पन्न करने वाले इस वाइरस की पहचान पर अमेरिका व अन्य देशों के जीव वैज्ञानिकों और वाइरस वैज्ञानिकों द्वारा आगे भी अनुसन्धान किया गया और इस वाइरस का नाम एच.आई.वी. (Human Immuno Deficiency Virus) दिया गया। इस वायरस की प्रवृत्ति है कि यह एक मानव शरीर से दूसरे मानव शरीर में घूमता रहता है, एक शरीर पर आक्रमण करने के बाद अपनी लक्ष्य कोशिकाओं (target cells) की ओर प्रवेश करता है और वहाँ वर्षों तक लगातार सुरक्षित और अदृश्य पड़ा रहता है जब तक कि वह संक्रमण को बीमारी में नहीं बदल देता। विडम्बना यह है कि एच.आई.वी. के लक्षण से युक्त संक्रमित व्यक्ति की पहचान करना सबसे मुश्किल काम है क्योंकि वे सामान्य दिखते हैं और सामान्य अनुभव करते हैं और डॉक्टर के पास भी शायद ही कभी जाते हैं। परीक्षण के बिना इस प्रकार के संक्रमण का पता लगना कठिन है।

## बीमारी के विकास के चरण (Stages of the Development of the Disease)

एड्स एक ऐसी बीमारी है जो धीमी गति से होती है। सैद्धान्तिक रूप से एच.आई.वी. संक्रमण के विकास के चार चरण पता लगाए गए हैं। (मालवीय, ए.एन., सेमीनार, अगस्त 1992 : 16-20)।

### प्रारम्भिक एच.आई.वी. संक्रमण (Initial HIV Infection)

इस चरण में शरीर में एच.आई.वी. वाइरस के प्रवेश के साथ व्यक्ति रक्त विकार अनुभव करता है जो कुछ सप्ताह बाद इन्फ्लुएन्ज़ा (influenza) से मिलता जुलता हो जाता है। शरीर में प्रतिरक्षा (immunisation) व्यवस्था एक प्रकार का सार पदार्थ (substance) पैदा कर देती है (anti-biodies) जो एच.आई.वी. वाइरस का नाश नहीं कर पाती। इसके बाद महीनों और वर्षों तक कोई नई विशेषता विकसित नहीं होती। लेकिन इस अवधि में व्यक्ति यौन सुइयों और रक्त चढ़ाने की प्रक्रिया के माध्यम में एच.आई.वी. संक्रमण को फैल सकता है।

### निरन्तर बढ़ती ग्रन्थियाँ (Persistantly Enlarged Glands)

एच.आई.वी. के संक्रमण के अगली सीढ़ी में व्यक्ति के बगल और गर्दन में दर्द विहीन ग्रन्थियाँ बढ़ने लगती हैं जिनमें कोई भी लक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं। ये ग्रन्थियाँ महीनों और वर्षों तक स्वास्थ्य पर खराब प्रभाव डाले बिना बनी रहती हैं। यह विशेषताएँ विकसित देशों में एड्स के प्रारम्भिक लक्षणों में से मानी जाती हैं लेकिन विकासशील देशों में क्योंकि इन लक्षणों को साधारण संक्रमण से अलग नहीं किया जा सकता अतः लोग उपचार के लिए जल्दी जाने की बात सोचते ही नहीं हैं।

### एड्स से सम्बन्धित भावना (AIDS Related Complex)

इस चरण में वाइरस प्रतिरक्षा व्यवस्था को नष्ट कर देता है जो दस्त लगना, पसीना आना, वजन कम होना और अत्यन्त कमजोरी जैसे लक्षण पैदा करता है।

### पूर्ण विकसित एड्स (Full-Blown AIDS)

यह स्थिति एच.आई.वी. से संक्रमित होने के 9 या 10 वर्ष तक औसतन पहुँचती है। शरीर की प्रतिरोधकता (immunity) पूरी तरह से नष्ट हो जाती है और कई संक्रमण (infections) और केन्सर उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी हर समय थका हुआ महसूस करता है और कमजोर हो जाता है। यह स्थिति डॉक्टरों द्वारा आसानी से पहचानी जाती है। इस स्थिति के बाद व्यक्ति 3 या 4 वर्ष से अधिक जिंदा नहीं रहता।

ए.एन. मालवीय (1992: 18) का मत है कि एच.आई.वी. संक्रमण की बीमारी की ओर प्रगति एक मामले से दूसरे में भिन्न होती है। औसत रूप से 20% संक्रमित व्यक्तियों में 5 साल के अन्त में बीमारी के लक्षण प्रकट होते हैं, 50% में 10 साल के अन्त में और 30% में 20 वर्ष के बाद। 1990 में एकत्रित अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकी अभिलेखों के अनुसार 1984 से पूर्व एड्स से पीड़ित पाए गए 100% व्यक्तियों में से 92% निदानित व्यक्तियों में से 1985 और 1986 के बीच और 1986 के बीच के बाद निदानित व्यक्तियों में से 40% मर गए। इस प्रकार के आँकड़े भारत के विषय में अभी तक भी उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

यह पता कैसे लगे कि कौन–सा व्यक्ति एच.आई.वी. संक्रमित हो गया है? इस संक्रमण की उपस्थिति का पता लगाने के लिए कुछ परीक्षण हैं। जब कभी कोई व्यक्ति किसी बीमारी से पीड़ित होने लगता है तब उसमें एक प्रकार के व्याधिजन (pathogens) उत्पन्न हो जाते हैं। इन व्याधिजनों की पहचान की जाती है ताकि मानव शरीर के भीतर की प्रतिरक्षा व्यवस्था (immunisation system) आन्तरिक सुरक्षा के माध्यम से उन्हें नष्ट कर सके। एच.आई.वी. वाइरस इस उन्मुक्ति व्यवस्था को प्रभावित करती है और एक पदार्थ एंटी बाडीज (anti-bodies) को जन्म देती है। शरीर में इनकी उपस्थिति (HIV anti-bodies) संक्रमण बताती है जिसे रक्त के नमूनों को परीक्षण के द्वारा पहचाना जा सकता है।

दो सामान्य परीक्षण इस प्रकार हैं : एक को ऐलिसा (ALISA) कहा जाता है और दूसरे को पश्चिमी ब्लाट परीक्षण (Western Blot Test) कहा जाता है। पहला परीक्षण सरल है और परिणाम कुछ ही घन्टों में आता है। दूसरा परीक्षण अत्यन्त महँगा, लम्बा और श्रम वाला है। यह पहले परीक्षण को सत्यापित करने के लिए किया जाता है और पहले से 50 गुणा अधिक खर्चीला है। इन दिनों एलिसा परीक्षण दो भिन्न–भिन्न निर्माताओं द्वारा निर्मित किट (kit) द्वारा किया जा रहा है और जो परिणाम निकलते हैं वे एच.आई.वी. के संक्रमण की पुष्टि करते है

अध्याय-5

# पर्यावरण

## समाज और पर्यावरण

### पर्यावरण की परिभाषा (Definition of Environement)

मनुष्यों या व्यक्तियों के संगठित समूह को समाज की संज्ञा दी जाती है। मनुष्य (समाज) और पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन सामाजिक भूगोल का मूल विषय है। मनुष्य पृथ्वी पर जहाँ भी रहता है, वह विभिन्न प्राकृतिक और मानवीय (कृत्रिम) परिस्थितियों से घिरा होता है। वह अपने चारों ओर व्याप्त उन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मनुष्य सहित प्रत्येक जीव अपने पर्यावरण की उपज है। भूमि पर उगने वाले पौधे का बढ़ना या मुरझा जाना, फलना–फूलना, सबल या दुर्बल होना आदि सभी उसके पर्यावरण पर ही निर्भर है। विभिन्न प्रकार के पेड़–पौधे अपने पर्यावरण के साथ अनूकूलन करते हैं और पृथक्–पृथक् पर्यावरणों में ही फलते–फूलते हैं। पेड़ पौधों की भांति सभी जीवधरी भी पर्यावरण के अनुसार ही विकसित होते हैं। मनुष्य भी अपने पर्यावरण से निश्चित रूप से प्रभावित होता है यद्यपि वह कुछ सीमा तक पर्यावरण में परिवर्तन भी कर लेता है और उससे समायोजन (Adjustment) करता है। मनुष्य सहित जीवित प्राणी के प्रत्येक परिवर्तन में पर्यावरण का कमोवेश योगदान अवश्य होता है।

'पर्यावरण' शब्द आंगल भाषा के 'Environment' का हिन्दी रूपांतर हैं। पर्यावरण शब्द परि (चारों ओर) + आवरण (ढका हुआ) से बना है जिसका अर्थ है 'चारों ओर का आवरण'। मनुष्य अपने चारों ओर अनेक प्रकार के भौतिक तथ्यों यथा वायु, जलवायु, ताप, भूमि, पर्वत, पठार, मैदान, नदी, पेड़–पौधे, धर्म, सामाजिक मूल्य आदि से घिरा होता है। ये सभी तत्व पर्यावरण के अंग (घटक) हैं जिनके सम्मिलित रूप को ही पर्यावरण कहते हैं। इस प्रकार, भौतिक और सांस्कृतिक (मानवीय) दशाओं का सम्पूर्ण योग जो मानव के चारों ओर व्याप्त होता है और उसे प्रभावित करता है, पर्यावरण कहलाता है।

पर्यावरण की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं निम्नांकित हैं–

(1) पर्यावरण को परिभाषित करते हुए एच. फिटिंग्स (H.Fittings) लिखते हैं, कि ''किसी जीव के चतुर्दिक व्याप्त कारकों का सम्पूर्ण योग पर्यावरण है' (The totality of milleu factors of an organism is environment)।

(2) टांस्ले (A.G. Tansley) के अनुसार, ''वे समस्त प्रभावशाली दशाएं जिनमें जीव रहता है, पर्यावरण कहलाता है'' (All the effective conditions in which organism lives are called an environment)।

(3) इससे मिलती–जुलती परिभाषा जिस्बर्ट (Gisbert) ने भी दी है जो इस प्रकार है–''पर्यावरण वह सब कुछ है जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे हुए होता है और उसे प्रभावित करता है।''

(4) भौगोलिक पारिभाषिक शब्द कोश (1997) में आर.एन. सिंह एवं एस.डी. मौर्य ने पर्यावरण के इस प्रकार परिभाषित किया है, ''भौतिक तथा सांस्कृतिक दशाओं का सम्पूर्ण योग जो मानव के चारों ओर व्याप्त है और उसे प्रभावित करता है, पर्यावरण कहलाता है।''

### पर्यावरण के प्रकार (Types of Environment)

पर्यावरण को सामान्यतः दो प्रधान वर्गों में विभक्त किया जाता है–1. भौतिक पर्यावरण (Physical environment) और 2. सांस्कृतिक या मानवीय पर्यावरण (Cultural or Human environment)। भौतिक पर्यावरण में स्थिति, उच्चावच, संरचना, जलवायु, जलाशय, मिट्टी एवं खनिज, प्राकृतिक वनस्पति, पशु (जीव जन्तु) आदि सम्मिलित होते हैं। इस पर्यावरण के अंतर्गत उच्चावच, जलवायु और मिट्टी जैसे जड़ तत्वों के साथ ही प्राकृतिक के नाम से भी जाना जाता है। सांस्कृतिक या मानवीय पर्यावरण के अंतर्गत समस्त मानवीय क्रियाओं, दशाओं तथा सांस्कृतिक भूदृश्यों (Cultural landscapes) को सम्मिलित किया जाता है।

### मनुष्य और जैव–भौतिक पर्यावरण (Man and Bio-physical Environment)

किसी प्रदेश में रहने वाले मानव समाज के जीवन तथा क्रिया कलापों को जैव–भौतिक पर्यावरण के तत्व प्रत्यक्ष और मौलिक रूप से प्रभावित करते हैं। मनुष्य अपने पर्यावरण के प्रभावों से अप्रभावित या अछूता नहीं रह सकता। कोई भी मानव समूह, जनजाति, राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य अपने पर्यावरणी तत्वों से कमोवेश अवश्य प्रभावित होता है और उसके सामाजिक–आर्थिक तथा सांस्कृतिक–राजनीतिक जीवन पर पर्यावरणी छाप निश्चित रूप से पायी जाती है। जैव–भौतिक पर्यावरण पूरे मानव समूह या समुदाय को प्रभावित करता है जबकि सांस्कृतिक पर्यावरण व्यक्ति विशेष को प्रभावित करता है।

जैव–भौतिक पर्यावरण के विभिन्न तत्व एक–दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बंधित हैं और परस्पर एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। ये तत्व जीवन पर अलग अलग तो प्रभाव डालते ही हैं, इनका सामूहिक प्रभाव भी विभिन्न मानवीय क्रियाओं पर होता है। किसी विशिष्ट प्रदेश

का मानव जीवन तथा सांस्कृतिक पर्यावरण वहां के समस्त पर्यावरणी तत्वों के सामूहिक प्रभाव तथा अन्तक्रिया का परिणाम होता है। अग्रांकित पंक्तियों में जैव–भौतिक पर्यावरण के विभिन्न तत्वों और मनुष्य के बीच पाये जाने वाले सम्बंधें की समीक्षा की गयी है। जैव–भौतिक पर्यावरण के प्रमुख तत्व निम्नांकित हैं–

1. स्थानिक सम्बंध (Spatial relationship),
2. स्थलाकृति (Topography or Landform),
3. जलवायु (Climate),
4. जलाशय (Water bodies),
5. मिट्टी (Soil),
6. शैल एवं खनिज (Rocks and Minerals),
7. प्राकृतिक वनस्पति (Natural vegetation),
8. पशु जगत् (Animal life)।

## सामाजिक पर्यावरण का स्वरूप (Quality of Social Environment)

मानव समाज द्वारा निर्मित पर्यावरण को सामाजिक या मानवीय पर्यावरण कहते हैं। मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण के तत्वों में परिवर्तन तथा संशोधन करके और पारस्परिक सामाजिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं द्वारा कृत्रिम या सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करता है जिसका प्रभाव स्वयं समाज तथा उसके सदस्यों पर पाया जाता है। सामाजिक पर्यावरण के अंतर्गत समाज, समुदाय, समिति, संस्था, सामाजिक समूह, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था, धर्म, भाषा, लोकाचार, प्रथा, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, कला, साहित्य, आदि को सम्मिलित किया जाता है। समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य अपने अनुभवों तथा सामाजिक सम्पर्क के द्वारा सामाजिक पर्यावरण से बहुत कुछ सीखता है और उसके अनुकूल अपने को ढालने या समायोजित करने का प्रयास करता है। सामाजिक पर्यावरण के तत्व व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रभावित करते हैं और उसका समाजीकरण करके उसे सामाजिक मानव के गुण प्रदान करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव निर्मित पर्यावरण जिसमें समस्त सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्व निहित होते हैं, सामाजिक या सामाजिक–सांस्कृतिक कहलाता है।

## सामाजिक पर्यावरण के घटक तत्व (Components of Social Environment)

सामाजिक पर्यावरण के अंतर्गत मानव–निर्मित समस्त तत्व, क्रियाएं, प्रक्रियाएं तथा घटनाएं सम्मिलित होती हैं। इन तत्वों को निम्नांकित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

### समाज (Society)

समाज सामाजिक सम्बधों का जाल है। समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिसके सदस्य अंत: क्रिया द्वारा सम्बधित होते है। समाज को औपचारिक सम्बंधों पर आधारित संघ या संगठन माना जा सकता है जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक–दूसरे से सम्बद्ध होते है। समाज के निर्माण में तीन तत्वों का होना आवश्यक है–1. व्यक्तियों की बहुलता (Plurality of individuals), 2. सामाजिक सम्बंध (Social relationship), और 3. सामाजिक अंत:क्रिया (Social interaction)। समाज पारस्परिक जागरूकता, अन्योनयाश्रिता, उद्देश्यों की समानता तथा सहयोग पर आधरित होता है। समाज के अनेक अनेक प्रकार हो सकते हैं जिनमें जनजातीय समाज, कृषिक समाज, औद्योगिक समाज और उत्तर औद्योगिक समाज प्रमुख हैं।

1. **जनजातीय समाज (Tribal Society)** को आदिम, आदिवासी, जनजाति, वन्य जाति, अनुसूचित जनजाति आदि नामों से जाना जाता है। एक जनजाति परिवारों का समूह होता है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भूभाग में रहते हैं, समान, भाषा बोलते हैं तथा विवाह एवं व्यवसाय के विषय में निश्चित निषेधात्मक नियमों का पालन करते है और पारस्परिक कर्त्तव्यों की एक सुनिश्चित व्यवस्था को मानते हैं। भारत में नागा, संथाल, गोंडा, भील, थारू, भोटिया, गुज्जर, मुण्डा, उरांव, टोडा आदि जनजातियों के उदाहरण हैं।
2. **कृषिक समाज (Agrarian society)** के अंतर्गत उन ग्रामीण लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो जीवन–निर्वाह के लिए अपनी भूमि पर नियंत्रण बनाये रखते हैं, उसे जोतते हैं और कृषि जिनके जीवन की परम्परागत शैली का एक भाग है। कृषिक समाज मध्यवर्ती स्थिति में है जिसके एक ओर जनजातिया समाज है और दूसरी ओर नागरीय (औद्योगिक) समाज।
3. **औद्योगिक समाज (Industrial Society)** की स्थापना में औद्योगिकरण और नगरीकरण का विशेष योगदान है। जनसख्या, क्षेत्रफल तथा सामाजिक सम्बंधों की परिधि की दृष्टि से औद्योगिक समाज काफी बड़ा होता है। यह नगरीय अर्थव्यवस्था की विशेषता है कि जिसकी प्रौद्योगिकी और अर्थव्यवस्था काफी विकसित होती है और अधिकांश जनसंख्या औद्योगिक–नगरीय कार्यों में संलग्न होती है। अमेरिकी समाज, पश्चिमी यूरोपीय समाज तथा भारत का महानगरीय समाज इसके उदाहरण हैं।
4. **उत्तर औद्योगिक समाज (Post-industrial society)** एक काल्पनिक समाज है जो भविष्य में विकसित हो सकता है। इसमे प्रौद्योगिकी तथा अर्थव्यवस्था अत्यधिक विकसित प्रकार की होगी जिसमें श्रम–विभाजन और विशिष्टीकरण अधिक बढ़ जायेगा। महानगरीय जनसंख्या तथा सामाजिक समस्याएं भी अत्यधिक और जटिल हो जायेंगी।

## समुदाय (Community)

समुदाय एक लघु क्षेत्रीय समूह को कहा जाता है जिसके सदस्य सामान्य तथा अन्योन्याश्रित (inter dependent) जीवन व्यतीत करते हैं। यह व्यक्तियों का समूह है जिसमें प्रायः हम की भावना (we feeling) पायी जाती हैं। ग्राम, कस्बा (town), नगर या शहर (city), नगरीय क्षेत्र (urban areas), महानगर (metropolis), बृहनगर (megalopolis) आदि समुदाय के प्रमुख उदाहरण हैं। इस प्रकार समुदाय को दो बहत् वर्गों के अंतर्गत रखा जा सकता है– (i) ग्रामीण समुदाय, और (ii) नगरीय समुदाय।

(i) **ग्रामीण समुदाय (Urban Community)** – नगर का आकार कस्बा (town) से लेकर महानगर और बृहनगर तक हो सकता है। नगरी जनसंख्या का अधिकांश भाग द्वितीयक तथा तृतीयक कार्यों में संलग्न होता है। नगर का क्षेत्रीय तथा जनसंख्या आकार विशाल होता है जहां कार्यों की बहुलता एवं विशिष्टीकरण, सामाजिक विविधता तथा औपचारिक व्यवस्था पायी जाती हैं। संक्षेप में नगरी समुदाय एक ऐसा समुदाय है जिसमें जनसंख्या का उच्च घनत्व, गैर–कृषि व्यवसायों की प्रमुखता, जटिल श्रम विभाजन से उत्पन्न उच्च श्रेणी का विशिष्टीकरण और स्थानीय सरकार की औपचारिक व्यवस्था पायी जाती है। भारत में 5000 से अधिक जनसंख्या वाले समुदाय को कस्बा (town) 1 लाख से अधिक जनसंख्या वाले समुदाय को नगर या सिटी (city) और 10 लाख से उपर के नगर को महानगर (metropolis or metropolitan city) कहा जाता है।

## समिति और संस्था (Association and Institution)

सामाजिक जीवन पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना पर आधारित होता है। सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोगों को मिलजुल कर कार्य करना होता है। इसके लिए सामाजिक संगठन की आवश्यकता होती है। अतः सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समितियां और संस्थाएं स्थापित की जाती हैं।

(i) **समिति (Association)** – समिति मनुष्यों का समूह होती है जिसे किसी सामान्य उद्देश्य या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठित किया जाता है। प्रत्येक समिति का एक निश्चित संगठन होता है जिसके कुछ नियम तथा उपनियम होते हैं। समिति की प्रकृति अस्थायी और कार्य क्षेत्र सीमित होता है। इसकी सदस्यता ऐच्छिक और सदस्यों के बीच संबंध सामान्यतः औपचारिक होते हैं। समितियां आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक आदि अनेक प्रकार की होती हैं। व्यापार समिति, श्रमिक संघ, राजनीतिक दल, धार्मिक समिति, शिक्षा समिति, व्यायामशाला, क्लब, क्रीड़ा परिषद्, साहित्य परिषद् आदि समिति के उदाहरण हैं।

(ii) **संस्था (Institution)** – यह नियमों तथा कार्य प्रणाली की एक व्यवस्था है जो समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनायी जाने वाली कार्य प्रणाली की व्यवस्था को संस्था कहते हैं। परिवार एक समिति है और इसकी वैधानिक व्यवस्था के रूप में विवाह एक संस्था है। विद्यालय एक समिति और संस्था दोनों है किन्तु भिन्न–भिन्न अर्थ में। शिक्षक, विद्यार्थी, कर्मचारी आदि के समूह की दृष्टि से विद्यालय समिति है किन्तु कार्य प्रणाली, व्याख्यान, परीक्षा प्रणाली आदि की दृष्टि से यह एक संस्था है।

संक्षेप में समिति सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के उद्देश्यों से संगठित व्यक्तियों का एक समूह है जबकि संस्था नियमों, विधि–विधानों तथा कार्य प्रणालियों की एक व्यवस्था है।

## लोकरीतियां, लोकाचार और प्रथाएं (Folkways, Mores and Customs)

लोकरीतियां, लोकाचार और प्रथाएं उन प्रमुख सामाजिक प्रतिमानों में से हैं जो समाज में व्यवस्था, स्थिरता तथा एकरूपता को स्थापित करते हैं। इनका विकास मानव समाज में व्यवस्था तथा सामाजिक नियंत्रण बनाये रखने के लिए किया जाता है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित हैं।

(i) **लोक रीतियां या जन रीतियां (Folk ways)** – लोकरीतियां दैनिक जीवन के व्यवहार की वे विधियां हैं जो एक समाज या समूह में समान रूप से पायी जाती हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती हैं। ये समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत तथा मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं जो मानव व्यवहार पर नियंत्रण रखती हैं। माता–पिता तथा श्रेष्ठ जनों का आदर करना, असहायों की सहायता करना, हिंसा तथा पाप न करना आदि इसके दृष्टांत हैं।

(ii) **लोकाचार या रुढ़ियां (Mores)** – जिन लोकरीतियों में समूह के कल्याण की भावना तथा उचित–अनुचित का विचार संयुक्त होता है, उसे लोकाचार कहते हैं। लोकाचार के सामान्य तरीके लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक निश्चित और उचित समझे जाते हैं तथा उनके उल्लंघन करने पर निर्धारित दण्ड की व्यवस्था होती है। पति–पत्नी, पिता–पुत्र, भाई–बहन के संबंध आदि के विषय में प्रचलित लोकाचार इसके उदाहरण हैं। चोरी, व्याभिचार, असत्य भाषण, मद्यपान, जुआ खेलना आदि नकारात्मक लोकाचार कहलाते हैं।

(iii) **प्रथाएं (Customs)** – प्रथाएं अनौपचारिक सामाजिक मान्यता प्राप्त व्यवहार होती हैं जिनमें समूह कल्याण के भाव निहित होते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित लोक रीतियां प्रथाओं का स्वरूप धारण कर लेती हैं। परम्परायें क्रमिक रूप से चले आ रहे व्यवहार और कार्यप्रणाली पर बल देती हैं और नवीनता की विरोधी होती हैं। प्रथाएं सामान्यतः कठोर और परिवर्तन रहित होती हैं यद्यपि समय के साथ–साथ कुछ परिवर्तन हो सकते हैं। प्रथा का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को समाज में अपमानित होना पड़ता है

और स्वरूप उसे समाज से बहिष्कृत भी किया जा सकता है। स्वजाति में विवाह करना, बाल विवाह, दहेज, सती प्रथा मृत्यु भोज, आदि सामाजिक प्रथा का कतिपय उदाहरण हैं।

### 5. सामाजिक समूह (Social Group)

सामाजिक समूह का अभिप्राय व्यक्तियों के ऐसे समूह से हैं जो एक–दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं। इसका आकार लघु से लेकर वृहत् तक हो सकता है। सामाजिक समूह का निर्माण सामान्य अभिरूचि एवं हित तथा एकता की भावना पर आधरित होता है। पारस्परिक समझौता के आधर पर समूह के उद्देश्य, कार्य–प्रणाली, नियम आदि निर्धारित किये जाते हैं जो सभी सदस्यों को मान्य होते हैं। एक समूह के सभी सदस्यों में अपनत्व या 'हम की भावना' पायी जाती है। इसके आधर पर सामाजिक समूह को दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है– 1. अंतः समूह (In-group) या हम समूह (We-group) और 2. बाह्य समूह (Out-group) या 'वे समूह' (They group)। सामाजिक समूह को पारस्परिक घनिष्ठता एवं संबंध के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–(i) प्राथमिक समूह, और (ii) द्वितीयक समूह।

(i) **प्राथमिक समूह (Primary group)** व्यक्तिगत संबंधों पर आधरित होता है जिसके सदस्य घनिष्ट, सहभागी तथा वैयक्तिक ढंग से एक–दूसरे से व्यवहार करते हैं। परिवार, क्रीड़ा समूह, पड़ोस, अध्ययन समूह, मित्र मंडली आदि प्राथमिक सामाजिक समूह के उदाहरण हैं।

(ii) **द्वितीयक समूह (Secondary group)** औपचारिकताओं से पूर्ण होता है जिसके सदस्यों में आत्मीयता और घनीष्ठता का अभाव पाया जाता है। यह सभ्य और विकसित समाज की देन है। ऐस समूह स्वार्थपूर्ण तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं। श्रमिक संघ, राजनीतिक दल, विद्यालय विश्व–विद्यालय, सेना, राष्ट्र आदि द्वितीयक समूह के दृष्टांत हैं।

### 6. आर्थिक व्यवस्था (Economic System)

आर्थिक व्यवस्था समाज की भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और विनिमय की व्यवस्था, स्वामित्व के अधिकारों तथा दायित्वों को निर्धरित करती है। इस प्रकार उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण संयुक्त रूप से मानव के आर्थिक जीवन को क्रियाशील बनाते हैं और बनाये रखने के लिए ही की जाती हैं जिन्हें निर्वाहमूलक अर्थव्यवस्था (Subsistence economy) कह सकते हैं। आधुनिक समाज की अर्थव्यवस्था अधिक जटिल तथा विस्तृत और मुख्यतः बाजारप्रधान होती है। अर्थव्यवस्था के विकास के विभिन्न चरण निम्नांकित हैं–

(1) **आखेट तथा संग्राहक अवस्था**– अर्थव्यस्था के विकास का प्रथम चरण है जो मुख्यतः आदिम जातियों में पाया जाता है इसके अंतर्गत मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति जंगली पशुओं के आखेट द्वारा तथा जंगल से उपयोगी वस्तुओं यथा लकड़ी, फल, फूल, कन्दमूल आदि को एकत्रित करके करता हे। यह सभ्यता के विकास की आरंभिक अवस्था की विशेषता है। यह अर्थव्यवस्था आदि समाजों में आज भी पायी जाती हैं।

(2) **पशुचारण अवस्था**– अर्थव्यवस्था के विकास की द्वितीय पशुचारण की अवस्था भी जिसमें मनुष्य पशुओं को पालने लगा और पशुचारण मुख्य व्यवसाय बन गया। इस समय पशु को निजी सम्पत्ति और भूमि सार्वजनिक सम्पत्ति समझी जाती थी।

(3) **कृषि अवस्था**– जब मनुष्य पौधें का घरेलुकरण करके कृषि करने लगा, वह स्थायी बस्तियां बना कर रहना आरभ किया। इस अवस्था में भूमि, पशु और कृषि में जमींदारी प्रथा के विकास के साथ ही वस्तु विनिमय प्रणाली का उदय कृषि अवस्था की महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं।

(4) **औद्योगिक अवस्था**– यह आधुनिक युग की अर्थव्यस्था की द्योतक हैं। इसमें नवीन आविष्कारों तथा मशीनों के प्रयोग से अनेक छोटे–बड़े कारखानों की स्थापना हुई और श्रम विभाजन में विशिष्टीकरण में तीव्र वृद्धि हुई वृहत् पैमाने के उत्पादन से व्यापारिक क्रियाओं की परिधि का अत्यधिक विस्तार हुआ जिसके लिए तीव्रगामी परिवहन के साधनों, संचार माध्यमों और विकसित मौद्रिक प्रणाली का विशेष योगदान रहा है। अर्थव्यवस्था विविधीकृत तथा जटिल हो गयी और उद्योग तथा व्यापार प्रधान होने के कारण नगरों के विकास और नगरीकरण की प्रक्रिया अधिक तीव्र हो गयी। इससे अर्थव्यवस्था नगर–आधारित होती गयी। औद्योगिक अवस्था में दो प्रमुख आर्थिक व्यवस्थाओं का विकास हुआ–1. पूँजीवाद (Capitalism) और 2. समाजवाद (Socialism)।

### 7. राजनीतिक व्यवस्था (Political system)

राज–व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है। सामाजिक व्यवस्था वह अंतःक्रिया है जिसके माध्यम से समाज के लिए मूल्यों का अधिकारपूर्ण विनिधन किया जाता है। राजनीतिक दल, चुनाव तंत्र, मत अभिव्यक्ति के साधन, दबाव समूह, हित समूह, प्रशासनिक वर्ग, नौकरशाही आदि राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित हैं। सामाजिक जागरूकता में वृद्धि से राजनीतिकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति (Power) एक आधरभूत तत्व है। समाज में सुरक्षा, शांति, व्यवस्था, न्याय, स्वतंत्रता तथा सभ्यता की प्रगति के लिए नियंत्रण के रूप में शक्ति आवश्यक होती है। शक्ति के आधर पर समाज के दो वर्ग बन जाते हैं–(1) शासक वर्ग, और (2) शासित वर्ग। प्रयोग के ढंग के अनुसार शक्ति के मुख्यतः चार रूप देखे जा सकते हैं–1. दमन (Coercion), 2 वैधनिक शक्ति (Legal power), 3. परम्परागत शक्ति (Traditional power), 4. करिश्माई शक्ति (Charismatic power)।

## 8. धर्म (Religion)

धर्म समाज में व्याप्त एक व्यापक, स्थायी तथा शास्वत तत्व है जो मनुष्य की भावना, श्रद्धा और भक्ति से संबंध रखता है। धर्म मनुष्य के आंतरिक जीवन के साथ ही उसके सामाजिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक जीवन को भी प्रभावित करता है। सामान्यतः मनुष्य की उस मनोवृत्ति को धर्म की संज्ञा दी जाती है जो अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व के विश्वास पर आधारित है। इसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति पवित्रता आदि की धारणा होती है जो पूजा, अराधना, प्रार्थना, कर्मकांड आदि के रूप में प्रकट होती है।

विश्व के विभिन्न भागों में अनेक धर्म पाये जाते हैं जिनमें ईसाई, इस्लाम, हिन्दू, चीनी, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं और विस्तृत क्षेत्र एवं समाज में व्याप्त हैं। यद्यपि अधिकांश धर्म रूढ़िवादी प्रकृति के हैं जो परिवर्तन के विरोधी है किन्तु आधुनिक समाज के तीव्रगति से बदलते परिवेश में उनकी कट्टरता में शिथिलता की प्रवृत्ति पायी जाती है और धर्मनिरपेक्षता का महत्व बढ़ता जा रहा है।

## 9. भाषा (Language)

भाषा संचार का महत्वपूर्ण साधन है जो सामाजिक अंतःक्रिया को सुगम बनाती है। यह एक प्रमुख सांस्कृतिक तत्व है जिसके माध्यम से विचारों के आदान–प्रदान तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रियाओं के संचालन में सुगमता होती है। भाषा मौखिक तथा लिखित दोनों रूपों में संचार का प्रभावशाली साधन है। भाषा बोली जाने वाली या लिखित प्रतीकों की एक प्रणाली है जिसके द्वारा समाज के सदस्य परस्पर सम्पर्क और अंतःक्रिया करते हैं। विश्व में मुख्य रूप से तीन भाषाई संघ हैं–1. इण्डो–यूरोपीय, 2. चीनी–तिब्बती, और 3. अफ्रीकी–एशियाई।

इण्डो–यूरोपीय भाषाई संघ के प्रमुख भाषाई परिवार हैं–1. इण्डो–ईरानी 2. हेलेनिक, 3. लैटिन, 4. सेल्टिक, 5. जर्मनिक, और 6. बाल्टिक–स्वालिक। इण्डो ईरानी भाषा परिवार के दो प्रमुख भाषाएं हैं (i) इण्डिक (Indic) और (ii) ईरानी। इण्डिक कई भाषाओं का समूह है जो भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में बोली जाती है। इसके अंतर्गत हिन्दी, उर्दू, बंगाली, संस्कृत, कश्मीरी, असमी, मराठी, राजस्थानी, सिन्धी आदि सम्मिलित हैं। लैटिन भाषाएं (स्पेनी, पुर्तगाली, फ्रैंच, इटैलियन, रोमानियन आदि) दक्षिणी यूरोप तथा लैटिन अमेरिका में प्रचलित हैं। जर्मनिक भाषा परिवार की भाषाओं में अंग्रेजी, जर्मन, स्वेडिश आदि प्रमुख हैं। रूसी भाषा बाल्टो–स्लेविक भाषा परिवार की सर्वप्रमुख भाषा है। चीनी भाषा परिवार की भाषाओं में मंडारिन, कैन्टोनीज, हलका, मिन और वू भाषाएं आती हैं जिनमें मंडारिन सर्वप्रमुख है।

## 10. शैक्षिक व्यवस्था (Educational System)

शिक्षा का अभिप्राय सभी प्रकार के ज्ञान के संग्रह तथा मनुष्य के सर्वांगीण विकास से है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के भौतिक, बौद्धिक तथा मौखिक तथा नैतिक क्षमताओं का विकास करना है जो उसके लिए पर्यावरण तथा समाज से समायोजन के लिए आवश्यक है। संकीर्ण अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान और लिखने–पढ़ने की कला से लिया जाता है। सामान्यतः किसी एक भाषा में पढ़ने की क्षमता वाले व्यक्ति को साक्षर (Literate) माना जाता है। शिक्षा औपचारिक (विद्यालयी) और अनौपचारिक (गैर–विद्यालयी) दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार शिक्षा एक ऐसी संस्था है जो व्यक्ति के भौतिक, मानसिक (बौद्धिक), आधायात्मिक, सामाजिक आदि गुणों को विकसित करती है। विश्व–स्तर पर शैक्षिक पर्यावरण की तुलना के लिए साक्षरता दर का प्रयोग किया जाता है। जो एक अत्यंत स्थूल माप हैं।

आदिम तथा पिछड़े समाजों में शिक्षा का प्रसार अत्यल्प पाया जाता हैं शिक्षा का व्यापक प्रसार विकसित देशों में देखने को मिलता है। विकासशील देशों में ग्रीमीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय केन्द्रों में शैक्षिक स्तर अधिक ऊँचा है। भारत में सामाजिक कारणों से स्त्रियों की साक्षरता दर पुरुषों की तुलना में काफी कम है। शिक्षा और आधुनिकीकरण का सीधा तथा धनात्मक सहसंबंध पाया जाता हैं।

## 11. प्रौद्योगिकी (Technology)

आधुनिक युग में विज्ञान और प्रौद्योगिकी परिवर्तन का अत्यंत महत्वूपर्ण कारक है। नवीन आविष्कारों से यंत्रीकरण और यंत्रीकरण से उत्पादन की प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के साथ ही साथ सामाजिक सम्बंधों, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं आदि में भी परिवर्तन की प्रवृत्ति पायी जाती है। प्रौद्योगिकीय विकास से एक ओर औद्योगिकरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता आयी है तो दूसरी ओर श्रम तथा नगरीय जीवन से सम्बद्ध अनेक समस्याएं भी उत्पन्न हुई हैं। वर्तमान समय में वे देश विकसित श्रेणी में आते हैं जहां विज्ञान और तकनीकों का पर्याप्त विकास सम्भव हुआ है। प्रौद्योगिकीय दृष्टि से पिछड़े देश आर्थिक–सामाजिक क्षेत्र में भी पिछड़े हुए हैं।

प्रौद्योगिकीय विकास का परिणाम है यंत्रीकरण। आधुनिकरण युग में यंत्रीकरण ने सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया है। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था, औद्योगिकरण तथा नगरीकरण के लिए उन्नत प्राद्योगिकी ही उत्तरदायी हैं। यंत्रीकरण से श्रम–विभाजन में विशिष्टीकरण अत्यधिक बढ़ गया है और इससे लोगों के विचारों, विश्वासों, सामाजिक संबंधों, कार्य प्रणाली, जीवन पद्धति आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

# पर्यावरण प्रदूषण (Environmental Pollution)

मनुष्य पर्यावरण का एक अंग है और उससे प्रभावित भी होता है किन्तु आधुनिक मानव पर्यावरण की उपज मात्रा नहीं है बल्कि उसका संशोधक और निर्माता भी है। आदिकाल में जब मनुष्य की संख्या और उसका ज्ञान सीमित था, वह प्रकृति द्वारा नियंत्रित था और पर्यावरण में बहुत कम परिवर्तन कर सकता था। आदिकाल में जब मनुष्य इस भूतल पर रहना आरंभ किया उसका पर्यावरण स्वच्छ और प्रदूषण रहित था। उस समय प्राकृतिक साधनों तथा घटनाओं में पूर्ण संतुलन था। मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ जैसे–जैसे मानव ज्ञान और प्राविधिक का विकास होता गया, मनुष्य पर प्रकृति का नियंत्रण भी शिथिल और कमजोर होता गया। अति विकसित मस्तिष्क के कारण मनुष्य सभी जीवों में श्रेष्ठ और सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया और अपनी इच्छानुसार पर्यावरण के तत्वों में फेर–बदल करने की शक्ति भी प्राप्त कर ली। अज्ञान आदि मानव से विकसित सभ्य आधुनिक मानव में यह शक्ति इतनी प्रबल हो गयी कि वह प्रकृति के सतुलन को भी प्रभवित करने लगा। आधुनिक काल में मानव पर्यावरणीय परिवर्तन का सर्वाधिक शक्तिशाली कारक के रूप में क्रियाशील है। आधुनिक मानव ने विज्ञान और प्रौद्योगिकीय कौशल में इतनी प्रगति कर ली है कि वह अपनी आवश्यकता, अभिरुचि तथा कौशल के अनुसार पर्यावरण के तत्वों को परिवर्तित करने में समर्थ बन गया है। मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण में परिवर्तन करके सांस्कृतिक पर्यावरण का निर्माण करता है।

मनुष्य के सम्पर्क से प्राकृतिक पर्यावरण के विभिन्न तत्व जैसे स्थलाकृति, वायुमंडलीय तत्व, (वायु, आर्द्रता, वर्षा, तापमान आदि) मृदा, जलाशय, प्राकृतिक वनस्पति, जीव–जन्तु आदि में उल्लेखनीय मात्रा में परिवर्तन हो जाते हैं। मनुष्य का प्रभाव केवल उसके आवासित क्षेत्र (भूतल) पर ही नहीं बल्कि भूगर्भ और वायुमंडल में भी पाया जाता है। मनुष्य के पैर जहाँ–जहाँ भी पड़े है।, वहाँ के प्राकृतिक तत्व अपने मूल रूप में नहीं रह गये हैं। ज्ञातव्य है कि भौतिक पर्यावरण के सभी घटक संतुलित अवस्था में रहते हैं और यदि कभी असतुलन उत्पन्न भी होता है, तो वह क्षणिक होता है और शीघ्र ही पुनः सन्तुलन स्थापित हो जाता है। किन्तु मानवीय हस्तक्षेप से पर्यावरण मे उत्पन्न असंतुलन बढ़ता ही जाता है और पर्यावरण को प्रदूषित कर देता है।

आदिकाल में जनसंख्या अत्यल्प थी और पर्यावरणी प्रदूषण लगभग नगण्य था। जनसंख्या वृद्धि के साथ–साथ मनुष्य की आवश्यकताए बढ़ती गयीं जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण में रूपांतरण करता गया। आधुनिक मानव ने पिछले 100 वर्षों में अपनी भौतिक, आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति प्रदत्त तत्वों का इतना अंधाधुंध शोषण तथा विनाश कर डाला है कि पर्यावरण का संतुलन अत्यधिक बिगड़ गया है। इस पर्यावरणी असंतुलन से पर्यावरण प्रदूषण की विकट समस्या उत्पन्न हो गयी है जिससे मानव सहित अन्य जीवों तथा वनस्पतियों का जीवन भी खतरे में पड़ता जा रहा है। तीव्र जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण, नगरीकरण, वैज्ञानिक एवं यंत्रीकृत कृषि, भौतिकवादी दृष्टिकोण आदि पर्यावरण प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं।

## पर्यावरण प्रदूषण का अर्थ (Meaning of Environmental Pollution)

पर्यावरण प्रदूषण पर्यावरण को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रदूषित करने वाला एक प्रक्रम (Process) है जिसके द्वारा पर्यावरण (स्थल, जल अथवा वायुमुडल) का कोई भाग इतना अधिक प्रभावित होता है कि उसमें रहने वाले जीवों के लिए अस्वास्थ्यकर, अशुद्व, असुरक्षित एवं संकटपूर्ण हो जाता है अथवा होने की संभावना होती है। पर्यावरण प्रदूषण सामान्यतः मनुष्य के इच्छित अथवा अनिच्छित कार्यों द्वारा पारिस्थितिक तंत्र में अवांछित तथा प्रतिकूल परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है जिससे पर्यावरण की गुणवत्ता में ह्रास होता है और वह मनुष्यों, जीवों तथा पादपों के लिए अवांछित तथा अहितकर हो जाता है। पर्यावरण प्रदूषण मुख्यतः मानव–जनित कारणों से उत्पन्न होता है। यह पर्यावरण में कुछ अवांछित तथा हानिकारक तत्वों के सम्मिलित हो जाने अथवा किसी तत्व की मात्रा अधिक बढ़ जाने या घट जाने से उत्पन्न पर्यावरण की प्राकृतिक गुणवत्ता में प्रतिकूल परिवर्तन का परिणाम होता है।

## पर्यावरण प्रदूषण के प्रकार (Kinds of Environmental Pollution)

पर्यावरण के तत्वों के एक निश्चित सीमा (अल्प मात्रा) तक प्रदूषित होने पर भी स्वतः संतुलन होता रहता है किन्तु उसके पश्चात् पर्यावरण में असंतुलन होने लगता है। पर्यावरण प्रदूषण को दो प्रधान वर्गों के अंतर्गत रखा जा सकता है – 1. भौतिक प्रदूषण जैसे जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, मृदा प्रदूषण आदि, और 2. सामाजिक प्रदूषण यथा जातीय प्रदूषण, धार्मिक प्रदूषण, आर्थिक प्रदूषण, राजनीतिक प्रदूषण आदि। सामान्य अर्थों में पर्यावरण प्रदूषण का प्रयोग भौतिक प्रदूषण के संदर्भ में ही किया जाता है किन्तु सामाजिक प्रदूषण का महत्व कम नहीं है। अग्रिम पंक्तियों में जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, मृदा प्रदूषण और सामाजिक प्रदूषण की चर्चा की गयी है।

### (1) जल प्रदूषण (Water Pollution)

जल मानव सहित सभी जीवों के जीवन का आधार है। मनुष्यों तथा पशुओं के पीने से लेकर फसलों की सिंचाई, घरेलू कार्यों, सफाई, औद्योगिक कार्यों आदि तक विविध रूपों में पर्याप्त जल की आवश्यकता होती है। मत्स्य–पालन तथा जलविद्युत जैसे कुछ उत्पादन कार्य जलाशयों पर ही आश्रित हैं। वर्तमान काल में मानवीय प्रभाव से नदी, झील, तालाब आदि लघु स्थलीय जलाशय ही नहीं बल्कि सागर और महासागर भी अछूते नहीं रह गये हैं। यहाँ तक कि अनेक क्षेत्रों में भूमिगत जल भी मानवीय प्रभाव से मुक्त नहीं रह गया है। यद्यपि जल में स्वयं शुद्धीकरण की क्षमता विद्यमान होती है किन्तु जब मानव जनित स्रोतों से उत्पन्न प्रदूषकों का जल में अत्यधिक जमाव हो जाता है, तब वह जल की स्वयं शुद्धीकरण की क्षमता से अधिक हो जाता है और परिणामस्वरूप जल प्रदूषित हो जाता है।

जल प्रदूषण मुख्यतः मानवीय कारणों से जल के भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों में होने वाले विपरीत परिवर्तनों का परिणाम होता है। प्रदूषित जल मनुष्यों तथा पशुओं के पीने, स्नान करने आदि घरेलू कार्यों से लेकर कृषि, उद्योग एवं अन्य विविध मानव–उपयोगों के लिए अयोग्य, हानिकारक तथा रोग–जनक बन जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) की रिपोर्ट (1996) के अनुसार, ''प्राकृतिक या अन्य स्रोतों से उत्पन्न अवांक्षित पदार्थों के कारण जल दूषित हो जाता है और वह जहरीला तथा सामान्य स्तर से कम ऑक्सीजन होने के कारण जीवों के लिए हानिकारक बन जाता है और संक्रामक रोगों के प्रसार में सहायक होता है।''

जल प्रदूषकों की उत्पत्ति–प्राकृतिक और मानवीय दोनों स्रोतों से होती है। प्राकृतिक स्रोत के अंतर्गत मृदा–अपरदन, भू–स्खलन, ज्वालामुखी उद्‌गार, पौधें तथा जन्तुओं के विघटन और वियोजन को सम्मिलित किया जाता है। मानव–जनित स्रोतों में औद्योगिक प्रतिष्ठान (कारखाने), नगरों के अपशिष्ट जल, कीटनाशकों तथा उर्वरकों के प्रयोग के रूप में कृषि और अन्य सामाजिक स्रोत सम्मिलित किये जाते हैं।

### (2) वायु प्रदूषण (Air Pollution)

वायु मानव सहित सभी जीवधरियों के जीवन का मूलाधर है जिसके अभाव में जीवन संभव नहीं है। आधुनिक औद्योगिक मानव ने अपनी क्रियाओं से जलवायविक दशाओं में अत्यधिक हस्तक्षेप किया है जिससे सम्पूर्ण निचला वायुमंडल प्रभावित हो चुका है। वायुमंडल में बाह्य हानिकारक पदार्थों के पहुंचने से उत्पन्न प्रदूषण को वायु प्रदूषण कहते हैं। इससे वायुमंडल में गैसों की मात्रा तथा संगठन में असंतुलन हो जाता है और वायु मनुष्य सहित प्राणियों तथा वानस्पतिक जीवन के लिए घातक बन जाती है। वायु प्रदूषण मुख्य रूपसे गैसीय, ठोस तथा तरल कणों वाले प्रदूषकों द्वारा होता है। वायु प्रदूषण प्राकृतिक और मानवीय दोनों कारणों से उत्पन्न होता है। प्राकृतिक कारणों में ज्वालामुखी उद्‌गार वनस्पतियों तथा जीवों का सड़ना, दैवाग्नि, रेतीली या धूलभरी आंधियां आदि प्रमुख हैं। प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न प्रदूषण कुछ समय पश्चात् स्वतः समाप्त हो जाते हैं और अधिक हानि नहीं पहुँचाते हैं। सर्वाधिक विनाशकारी वायु प्रदूषण मानवीय क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं जिन्हें मनुष्य अपनी सुख–सुविधा तथा आर्थिक लाभ के लिए करता है।

वायु प्रदूषण में जीवाश्म ईंधनों (लकड़ी, कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस आदि) के दहन से उत्पन्न प्रदूषकों का योगदान सर्वाधिक है। रसोई घरों, कारखानों की चिमनियों, रेल के इंजनों, स्वचालित वाहनों (मोटरगाड़ी आदि), वायुयानों आदि में जीवाश्म ईंधनों के दहन से अधिकांश गैसीय प्रदूषक जैसे कार्बन–डाई–आक्साइड, कार्बन मोनो–आक्साइड, अमोनिया, मिथेन आदि उत्पन्न होते हैं जो वायुमंडल में पहुँचकर वायु को प्रदूषित कर देते हैं। इस प्रकार विभिन्न रूपों में पेट्रोलियम (पेट्रोल, डीजल, मिट्टी के तेल आदि), कोयला, लकड़ी आदि के जलने से निकलने वाले धुएँ और गैंसे, सीवर तथा नालियों से निकलने वाली दुर्गन्ध, कीटनाशकों तथा उर्वरकों की निर्माण प्रक्रिया से उत्पन्न विषैली गैसें, परमाणु हथियारों के परीक्षण तथा विस्फोट से उत्पन्न जहरीले पदार्थ तथा गैसें आदि वायु प्रदूषण के प्रमुख स्रोत हैं।

वायु प्रदूषण का विपरीत प्रभाव पर्यावरण के अजैविक (प्राकृतिक) तथा जैविक (मनुष्य, पशु तथा वनस्पति) सभी तत्वों पर पड़ता है। वायु प्रदूषकों की उपस्थिति से पृथ्वी के निचले वायुमंडल ही नहीं बल्कि ऊपरी वायुमंडल में भी उल्लेखनीय परिवर्तन होते देखा गया है। समताप मंडल के ओजोन परत में क्षीणता का प्रमुख कारण मानव द्वारा प्रयुक्त मशीनों, स्वचालित वाहनों, वायुयानों, राकेटों, कारखानों की चिमनियों आदि द्वारा उत्सर्जित कार्बन तथा नाइट्रोजन आक्साइड हैं। ओजोन परत की क्षीणता के कारण धरातल पर सूर्य की पराबैंगनी किरणें अधिक मात्रा में पहुँचेंगी जिससे निचले वायुमंडल और धरातलीय सतह के तापमान में वृद्धि होगी जिससे ऊष्मा असंतुलन उत्पन्न हो सकता है। तापमान में वृद्धि होने के कारण प्रादेशिक तथा विश्व स्तर पर जलवायविक दशाओं में परिवर्तन हो सकते हैं। इसी प्रकार वायुमंडल में कार्बन–डाई–आक्साइड का वर्षा जल के साथ विलयन से जल अम्लीय तथा क्षारीय हो जाता है और वर्षा का जल भी शुद्ध नहीं रह जाता है। इस अम्ल वर्षा (Acid rain) का मानव जीवन तथा वनस्पतियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इससे अनेक घातक रोग और बीमारियां उत्पन्न होती हैं।

वायु प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर अनेक प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं–

1. कार्बन मोनो–आक्साइड मनुष्य के रक्त में संयुक्त होकर स्वांस अवरोध उत्पन्न करती है।
2. सल्फर डाई–आक्साइड मिश्रित नगरीय धूम कुहरे के कारण स्वसन प्रणाली में अवरोध होता है।
3. ओजोन की क्षीणता के कारण धरातल पर सूर्य की पराबैंगनी किरणों के पहुँचने से चर्म कैंसर होने की संभावना बढ़ जाती है।
4. सल्फर डाई–आक्साइड के प्रदूषण से आँख, गले और फेफड़े सम्बंधी रोग उत्पन्न होते हैं।
5. कभी–कभी रसायनों तथा जहरीली गैसों के संयंत्रों में विषाक्त गैसों के रिसाव से वायु में विषैली गैसें इतनी तीव्रता और अधिक मात्रा में पहुँच जाती हैं कि असंख्य मनुष्य और जीव मृत्यु की गोद में सो जाते हैं। 1984 में भोपाल में हुई गैस त्रासदी इसका ज्वलंत उदाहरण है जिसमें 5000 से अधिक लोग मर गये थे।

## वायु प्रदूषण का नियंत्रण

औद्योगिक तथा नगरीय विकास और बढ़ती जनसंख्या के परिप्रेक्ष्य में वायु प्रदूषण को पूर्णतः समाप्त करना लगभग असम्भव है किन्तु इसके नियंत्रण द्वारा प्रदूषण को काफी सीमा तक कम किया जा सकता है। इसके लिए निम्नांकित उपाय किये जा सकते हैं-

1. परम्परागत अति धूममोची ईंधनों के स्थान पर प्राकृतिक गैस तथा विद्युत जैसे धुआं रहित ईंधनों के जलाने से वायु प्रदूषण कम किया जा सकता है।
2. वृक्षों तथा वनों की उपस्थिति से वायुमंडल में आक्सीजन और कार्बन–डाई–आक्साइड का संतुलन बना रहता है। अतः वनों के काटने पर रोक तथा वन रोपण को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है।
3. कारखानों तथा वाहनों में विद्युत स्थैतिक अवक्षेपक तथा फिल्टर जैसे प्रदूषक नियंत्रक उपकरणों के उपयोग से वायु प्रदूषण का कम किया जा सकता है।
4. प्रदूषण फैलाने वाली सामग्रियों तथा तत्वों के उत्पादन और उपभोग को नियंत्रित किया जाना चाहिए।
5. वायु प्रदूषकों को ऊपरी वायुमंडल में प्रसारित करने हेतु ठोस कदम उठाये जाने चाहिए जिससे उनका सांद्रण भूतल पर कम हो सके।
6. विद्यार्थियों तथा सामान्य जनता को वायु प्रदूषण से होने वाली हानियों तथा वनों के महत्व को बताकर उन्हें पर्यावरण प्रदूषण के प्रति जागरूक बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

### (3) ध्वनि प्रदूषण (Noise Pollution)

तीव्र ध्वनि या आवाज जो कानों को अप्रिय लगती है, उसे शोर (Noise) कहते हैं। उच्च तीव्रता वाली ध्वनि या अवांक्षित शोर के कारण उत्पन्न प्रदूषण जिससे मनुष्यों में अशांति और बेचैनी उत्पन्न होती है, ध्वनि प्रदूषण कहलाता है। ध्वनि की सामान्य मापन इकाई को डेसिबेल (decibel or dB) कहते हैं जिसका मापन 0 से लेकर 200 या इससे ऊपर तक किया जा सकता है। शून्य मनुष्य के कान द्वारा सुनाई पड़ने वाली सर्वाधिक मंद ध्वनि का सूचक है। ध्वनि की तीव्रता में 10 गुना वृद्धि होने पर ध्वनि की तीव्रता 10dB , 100 गुना वृद्धि होने पर 20 dB, 1000 गुना वृद्धि होने पर 30 dB होगी। इसी प्रकार आगे भी क्रमशः 40 40 dB, 50 dB, 60 dB आदि की माप की जा सकती है। 30 dB मनुष्य की फुसफुसाहट (whispering) को व्यक्त करता है किन्तु 50 dB वाली ध्वनि से नींद मे अवरोध हो सकता है। 150 या 160 dB तीव्रता वाली ध्वनि प्राणघातक हो सकती है। सामान्य वार्ता की ध्वनि की माप प्रायः 60 dB होती है। स्वचालित वाहनों (मोटर साइकिल, कार, ट्रक, बस आदि) से उत्पन्न ध्वनि 80 से 90 dB तीव्रता वाली और जेट विमान की ध्वनि 100 से 150 dB तीव्रता वाली होती है।

ध्वनि प्रदूषण के स्रोत प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों हो सकते हैं। प्राकृतिक स्रोतों में मेघ गर्जन, तीव्र वेग वाली हवाए (तुफान), सागरीय तरंगें आदि हैं। मनुष्य के कार्यों से उत्पन्न ध्वनि प्रदूषण को कृत्रिम स्रोत कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत संचालित वाहनों, वायुयानों, रेलगाड़ियों, कारखानों की मशीनों, वाद्य यंत्रों आदि से उत्पन्न तीव्र ध्वनियों को सम्मिलित किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ध्वनि प्रदूषण अत्यल्प पाया जाता है। ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख क्षेत्र नगरीय केन्द्र होते हैं जहाँ स्वचालित वाहनों, लाउड स्पीकरों, बाजारों, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रचारों तथा सभाओं, कारखानों की मशीनों, रेल गाड़ियों, वायुयानों तथा हेलीकाप्टरों आदि से तीव्र ध्वनियां प्रसारित होती हैं जो ध्वनि प्रदूषण को जन्म देती हैं।

अत्यधिक शोर से मनुष्य के श्रवण तंत्र तो बुरी तरह प्रभावित होते ही हैं, इसका मानव स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी अत्यधिक शोर के दुष्प्रभाव से मनुष्य की श्रवण शक्ति समाप्त हो जाती है और वह स्थायी रूप से बधिर हो जाता है। इससे कान के पर्दे फट सकते हैं जिससे बधिरता आ जाती है। उच्च शोर के कारण अध्ययन रत व्यक्तियों की एकाग्रता नष्ट हो जाती है, नींद टूट जाती है और स्मृति क्षीणता, सिरदर्द, चिड़चिड़ापन आदि दशाएं उत्पन्न होती हैं। लगातार अवांक्षित शोर से मनुष्य कई विकृतियों तथा बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। इससे उच्च रक्त चाप, हृदय रोग, अनिद्रा, तनाव, पाचन तंत्र में अव्यवस्था, चिड़चिड़ापन, उत्तेजना आदि बीमारियां तथा विकृतियां उत्पन्न हो सकती हैं। 120 कठ से अधिक तीव्र ध्वनि से गर्भवती महिलाओं तथा गर्भस्थ शिशुओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्वीकार्य ध्वनि स्तर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 30.40 कठ और औद्योगिक क्षेत्र के लिए 50.60 कठ मानी जाती है।

**ध्वनि प्रदूषण का नियंत्रण** : ध्वनि प्रदूषण का नियंत्रण निम्नांकित उपायों द्वारा किया जा सकता है–

1. मोटर वाहनों से उच्च ध्वनि वाले हार्न बजाने तथा अवसीय क्षेत्रों से होकर तीव्र ध्वनि वाले मोटर वाहनों के गुजरने पर प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए।
2. कारखानों को आवासीय क्षेत्र से दूर स्थापित किया जाना चाहिए।

3. लाउड स्पीकरों तथा अन्य ध्वनि विस्तारक यंत्रों के द्वारा होने वाले अत्यधिक शोर को कम करने के प्रभावी उपाय तथा निषेधात्मक कानून का सहारा लिया जा सकता है।
4. मोटर वाहनों तथा मशीनों में ध्वनि मन्दक (Silencer) का प्रयोग अनिवार्य है।
5. अधिक ध्वनि वाले क्षेत्रों में पहुँचने या रहने वाले व्यक्ति अपने कान में रुई का कर्ण प्लग (Ear plug) लगा कर ध्वनि प्रदूषण से बच सकते हैं।

### (4) मृदा प्रदूषण (Soil Pollution)

प्राकृतिक या मानवजन्य स्रोतों से मिट्टी की गुणवत्ता में ह्रास होने को मृदा प्रदूषण कहते हैं। तीव्र गति से होने वाला मृदा–अपरदन, मिट्टी में रहने वाले सूक्ष्म जीवों की कमी, आवश्यकता से अधिक नमी (आर्द्रता) या शुष्कता का होना, ह्यूमस की कमी, मिट्टी में प्रदूषकों का मिश्रण आदि मृदा प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। भूमि उपयोग में व्यापक परिवर्तन तथा निर्वनीकरण, रासायनिक उर्वरकों, कीट–नाशकों तथा शाक नाशक कृत्रिम रसायनों का अत्यधिक प्रयोग, नगरीय तथा औद्योगिक क्षेत्रों के अपशिष्ट तथा विषैले जल का सिंचाई के रूप में प्रयोग, जल भराव, अपशिष्ट ठोस पदार्थों (पालीथिन आदि) का जमाव (डम्पिंग) आदि मृदा प्रदूषण के मानव जनित कारण हैं। अम्ल वर्षा वाले क्षेत्रों में मिट्टी में अम्लता (acidity) की मात्रा बढ़ जाती है।

जनसंख्या में तीव्र वृद्धि तथा कृषि के व्यवसायीकरण के फलस्वरूप मिट्टी से अधिक फसलों को उगाने तथा अधिकाधिक उत्पादन प्राप्त करने के प्रयास किये जाने लगे हैं। उत्पादन क्षमता में वृद्धि के लिए प्रयुक्त रासायनिक उर्वरकों की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है। अनेक प्रकार के कीटनाशक तथा शाकनाशक रसायनों का प्रयोग दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। ये रसायन विषैले होते है। जो जड़ों के माध्यम से पौधें में, पौधों से फूल पत्तों और फलों में तथा अंततः उनका उपभोग करने वाले मनुष्यों तथा पशुओं के शरीर में पहुंचते हैं और अनेक प्रकार के रोग तथा बीमारियां उत्पन्न करते हैं। इसीलिए शाकनाशक रसायनों को रेंगती मृत्यु (Creeping death) भी कहा जाता है। भारत में भी हरित क्रांति के साथ शाकनाशक तथा कीटनाशक रसायनों के प्रयोग की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है। इन रसायनों का प्रयोग अवांक्षित पौधें, हानिकारक कीटों तथा फसल को रोगों से बचाने के लिए किया जाता है जिनका अधिक मात्रा में प्रयोग मृदा प्रदूषण में वृद्धि करता है।

मृदा प्रदूषण से मिट्टी की गुणवत्ता कम हो जाने से उसकी उर्वरता घट जाती है। अत्यधिक प्रदूषण से मिट्टियां कृषि के लिए अनुपयुक्त हो जाती हैं। जैव नाशी (कीटनाशक तथा शाकनाशक) रसायनों के प्रयोग से रासायनिक प्रदूषक मिट्टियों में पहुँचते हैं और आहार श्रृंखला के माध्यम से मनुष्यों तथा पशुओं के शरीर में पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं।

**मृदा प्रदूषण का नियंत्रण** : मृदा प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए निम्नांकित उपाय आवश्यक हैं–

1. मृदा अपरदन जन्य मृदा प्रदूषण की रोकथाम के लिए मृदा अपरदन के तरीकों का प्रयोग किया जा सकता है।
2. रासायनिक उर्वरकों तथा जैवनाशी कृत्रिम रसायनों का उपयोग नियंत्रित और विवेकपूर्ण ढंग से करना वांछित है।
3. मानव तथा पशुओं के लिए हानि रहित कीटनाशकों का अन्वेषण तथा विकास करना भी आवश्यक है।
4. कीटनाशकों के प्रयोग पर नियंत्रण लगाया जाना चाहिए क्योंकि इससे मिट्टी में उपस्थित अनेक लाभदायक तथा आवश्यक सूक्ष्म जीव भी नष्ट हो जाते हैं।
5. मृदा प्रदूषण के कारणों तथा उनके भयावह परिणामों के प्रति किसानों को जागरूक बनाने हेतु आवश्यक शिक्षा और प्रशिक्षण प्रदान करना भी आवश्यक है।

### (5) सामाजिक प्रदूषण (Social Pollution)

वर्तमान समय में सामाजिक प्रदूषण की समस्या अन्य पर्यावरणीय समस्याओं से अधिक जटिल, विविधीकृत और भयंकर बन गयी है। इससे सामाजिक जीवन दुष्कर, कष्टदायक, भयपूर्ण, अनिश्चित और चिन्ताजनक बनता जा रहा है। सामाजिक प्रदूषण के अंतर्गत आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार के दुष्कर्मों, अपराधों तथा असामाजिक दशाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। सामाजिक प्रदूषण अनेक स्वरूपों में समाज में व्याप्त होता है जिससे सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन स्तर का पतन होता है। निर्धनता, बेरोजगारी, चोरी, डकैती, अपहरण, हत्या, दहेज एवं दहेज हत्या, विवाह विच्छेद, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, द्युत क्रीड़ा, बलात्कार, आंतकवाद आदि सामाजिक प्रदूषण के विविध रूप हैं जो समाज को पतन की ओर ले जाते हैं।